वेदविद्या का पुनर् उद्धार

फ़तहसिंह, एम ए, डी लिट्

वेद-संस्थान, नई दिल्ली
२००४

रु २००/-

वेदविद्या का पुनर् उद्धार

फ़तहसिंह

रु २००/-

वैदिक तत्त्वज्ञान की *प्रतीक*-लिपि विस्मृति के गर्त में, न जाने, कब से पड़ी हुई है। वेद आज के मस्तिष्क के लिए एक अनबूझ लिपि हैं, तो पुरातनी श्रौत (याज्ञिक) परंपरा के भक्त के लिए भी वह तथैव अनबूझ एक पोथी-मात्र है जिसके द्वारा, रूढ हो चुका, कर्मकाण्ड जैसे-तैसे भुगताया जारहा है। वेद में विचारों का जो ऊर्जासमुद्र है उसके तट पर पहुंचकर भी, मानो, वैदिक लोग किसी हनुमान की प्रतीक्षा में हैं जो उस *प्रतीक*-समुद्र का पार पा सके और लंका में बंदिनी *दैवी मेधा*–सीता को खोजकर ला सके। *वेदविद्या का पुनर् उद्धार* डॉ फ़तहसिंह के जीवन-भर के वेदानुशीलन का नवनीत है। वेदानुशीलकों को इसमें अपने चिन्तन को झंझोड़ने के लिए पदे-पदे प्रसंग मिलेंगे। यह ग्रन्थ अनेक स्थलों पर वाचक के धैर्य की परीक्षा लेता प्रतीत होगा। पर *श्रमेण तपसा* ही वेदगवी की सृष्टि हुई है, यह चित्त में स्थिर करके इस ग्रंथ का अध्ययन करने का आनंद ही निराला है।

वेदविद्या का पुनर् उद्धार

फ़तहसिंह, *एम ए, डी लिट्*

वेद-संस्थान, नई दिल्ली
२००४

दो शब्द

वेद-संस्थान, जैसा कि इस नाम से सूचित होता है, वेद के अनुशीलन और प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित संस्था है। सन् १९४८ में अपनी स्थापना से लेकर आज तक इसने जहां वेद के प्रति जनरुचि जगाने का प्रयास किया, वहां वेद के वास्तविक प्रतिपाद्य को समझने की दिशा में कुछ गंभीर अनुसंधान कार्य भी किया। इस द्वितीय कार्य को व्यवस्थित दिशा और गति तब मिली जब श्री डॉ फ़तहसिंह ने मेरे अनुरोध पर वेद-संस्थान में शोध-कार्य का निदेशन करना अंगीकार किया। उनके निदेशन में वैदिक कोश *निघण्टु* की पर्यायवाची सूचियों और पद-सूचियों का अनुशीलन आरंभ हुआ। हिरण्य, अश्व, अन्तरिक्ष, उदक, मनुष्य नामों पर कार्य हो पाया था कि वे निजी कारणों से दिल्ली छोड़ने को विवश हो गए। पर उससे पूर्व वे भावी अनुसंधानकर्ताओं के मार्ग प्रदर्शन-रूप एक ग्रन्थ तैयार कर चुके थे जो 'वेद-चक्षु' ग्रन्थमाला का भूमिका-रूप प्रथम उन्मेष समझा जा सकता है। वह ग्रन्थ *वेदविद्या का पुनर् उद्धार* शीर्षक से वेदाध्येतृ-वर्ग के समक्ष प्रस्तुत किया जारहा है। यद्यपि इसका संपादन मुद्दत पूर्व लगभग पूरा हो चुका था पर विभिन्न कारणों से इसका प्रकाशन, न चाहते हुए भी, टलता रहा।

इस ग्रन्थ के लेखक सिंधु लिपि को बूझने के अपने प्रयत्न के लिए ख्यातनामा हैं। उनसे पूर्व भी इस लिपि को सही सही पढ़ पाने के यत्न हुए, और अभी भी जारी हैं। संगणक यंत्र की सहायता इस लिपि को पढ़ने में ली गई है। सिंधु लिपि के उजागर होने से पूर्व भी, ब्राह्मी, ख़रोष्ठी जैसे अनेक विस्मृत लिपि-रूपों को पढ़ने के प्रयत्न हुए हैं। वैदिक तत्त्वज्ञान की *प्रतीक*-लिपि विस्मृति के गर्त में, न जाने, कब से पड़ी हुई थी, और उसे बूझने के यत्नों की एक नवीन आधुनिक परंपरा दयानन्द-अरविन्द-मधुसूदन-फ़तहसिंह-मनोहरलाल गुप्त, आदि मेधावियों के प्रयत्नों के रूप में गत डेढ़ सौ वर्षों में उभरी है। वेद आज के मस्तिष्क के लिए एक अनबूझ लिपि हैं, तो पुरातनी श्रौत (याज्ञिक) परंपरा के भक्त के लिए भी वह तथैव अनबूझ एक पोथी-मात्र है जिसके द्वारा, रूढ हो चुका, कर्मकाण्ड जैसे-तैसे भुगताया जारहा है। वेद में विचारों का जो ऊर्जासमुद्र है उसके तट पर पहुंचकर भी, मानो, वैदिक लोग किसी हनुमान की प्रतीक्षा में हैं जो उस *प्रतीक*-समुद्र का पार पा सके और लंका में बंदिनी *दैवी मेधा*-सीता को खोजकर ला सके। काफ़ी कुछ भूमिका-रूप कार्य हो चुका है, और अजब नहीं कि अगले सौ वर्षों में वेद का कथ्य निरभ्र आकाश के सूर्यवत् हमारे जीवनों में प्रखर प्रकाश और

अभीद्ध तप को बरसाने लगे।

वेदविद्या का पुनर् उद्धार ग्रंथ आधुनिक वैदिकों में भीष्म पितामह, श्री डॉ फ़तहसिंह के जीवन-भर के वेदानुशीलन का नवनीत है। वेदानुशीलकों को इसमें अपने चिन्तन को झंझोड़ने के लिए पदे-पदे प्रसंग मिलेंगे। वेदपुरुष से विनति है कि वे हम वेदाध्येताओं के लिए *पितेव सूनवे ...... सूपायनो* हो जाएँ और *सचस्वा नः स्वस्तये*, हमारे कल्याण के लिए हमें साक्षात् हो जाएं।

संभव है, यह ग्रंथ एक वाचन में पूरा और स्पष्ट समझ में न आए। इसका अनेक बार वाचन करने की अपेक्षा किसी माई के लाल को छोड़कर प्रायः सबको होगी। यह ग्रन्थ अनेक स्थलों पर वाचक के धैर्य की परीक्षा लेता प्रतीत होगा। पर *श्रमेण तपसा* ही वेदगवी की सृष्टि हुई है, यह चित्त में स्थिर करके इस ग्रंथ का अध्ययन करने का आनंद ही निराला है।

जिसका वैदिक वाङ्मय से जितना अधिक परिचय होगा वह उतना ही बहतर ढंग से इस ग्रंथ का लाभ ले सकेगा। *विद्वांसो मत्सरग्रस्ताः, पण्डिताः स्मयदूषिताः* की कोटि में जो वेदानुशीलक नहीं हैं वे इस ग्रन्थ से पर्याप्त नवीन चिन्तनदिशाएँ प्राप्त कर सकेंगे और अपने वैदिक अध्ययन में गहराई और सूक्ष्मता ला सकेंगे। फिर इसके आगे, वैदिक ज्ञानामृत को सरल, सरस भाषा और शैली द्वारा जन जन के चित्त में बसा देने का कार्य ही वास्तविक वेदसेवा करणीय रहती है जिसे आचार्य विनोबा भावे और स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' जैसे सन्त-साहित्यकार और श्रीपाद दा. सातवळेकर सदृश लेखक करेंगे।

श्री डॉ फ़तहसिंह से यदि इस ग्रंथ के किन्हीं चिन्तन-बिंदुओं के बारे में पत्राचार करने की आवश्यकता हो तो उनका पता जान लीजिए–*डॉ फ़तहसिंह, द्वारा–श्रद्धा चौहान, १७ ई/२५७, नन्दन वन, जोधपुर ३४२ ००८ (राजस्थान) भारत।*

वसंत-पंचमी, २६ जनवरी, २००४ अभयदेव शर्मा

ग्रन्थ-सार

समस्या का परिचय : वेद शब्द ग्रन्थ-विशेष और उस ग्रन्थ में विद्यमान ज्ञान (शास्त्र), दोनों का एक साथ वाचक है। वेद *शास्त्र* मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाला और लौकिक लाभों का साधन, एक साथ दोनों है। पर विचित्र बात यह रही कि अरसे से वेदों के अर्थ की उपेक्षा होती रही। परिणामतः आज हम लोग वेद के वास्तविक अभिप्राय को उन छह अंधों के समान बूझने से अधिक कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं जो किसी हाथी का स्वरूप जानने के इच्छुक थे। वेदार्थ को ठीक से समझने के लिए वेदों के प्रादुर्भाव के पीछे विद्यमान दृष्टिकोण का पक्का बोध होना ज़रूरी है जो कालक्रम से धूमिल होता गया। 'निस्संदेह, वेदार्थ का सुसंगत और प्रामाणिक रूप उसी दृष्टि के आधार पर उभरेगा जो स्वयं वैदिक वाङ्मय हमें दे रहा है। इस दृष्टि को सर्वप्रथम वेदों के मन्त्रों में खोजना पड़ेगा।' इस कार्य में *रामायण, महाभारत, पुराण, तंत्र,* आदि कहीं से भी उपयोगी मदद मिल सकती है। 'पर यह ध्यान रखना होगा कि इन सब ग्रंथों को उस बालबुद्धि से न देखें जो अभिधेयार्थ से चिपक कर रह जाती है और वेदों के मंत्रों की सुविकसित प्रतीकदृष्टि और अर्थवाद की सर्वथा उपेक्षा कर देती है।' आनन्द के. कुमारस्वामी का मत भी ध्यान में रखने योग्य है कि वैदिक तत्त्वज्ञान की प्राचीन परंपरा की जानकारी के बिना वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या करना संभव नहीं है। यही वैदिक परंपरा न केवल भारत की वरन् समस्त मानवजाति की एकमात्र मौलिक परंपरा है। अतः रने गिनाँ का मत ध्यान देने योग्य है कि यदि मानवजाति को सर्वनाश से बचाना है तो सबको इस सार्वभौम और समान परंपरा से जुड़ना होगा।

नस्लवाद और वैदिक शोध : समस्या का द्वितीय पक्ष आर्य और द्रविड, इन दो को भिन्न भिन्न नस्लें मानकर, वेदों को तथाकथित आर्य नस्ल के लोगों से जोड़ने के पाश्चात्य विद्वानों की कोशिशों से संबद्ध है। इस तथाकथित नस्ल-भेद में सिंधु सभ्यता को वैदिक सभ्यता या द्रविड सभ्यता मानने के मतभेद भी जुड़ गए। *आर्य* को *ब्राह्मण* लोगों से समीकृत करते हुए, आगे चलकर संस्कृत और उत्तर भारत को भी *आर्य* ख़ेमे में डाल दिया गया और देश का उत्तर और दक्षिण में निराधार और कृत्रिम सांस्कृतिक विभाजन कर दिया गया। इस विवाद ने आज आर्य और अनार्य, शूद्र और सवर्ण, दलित और अल्पसंख्यक बनाम मनुवाद, वनवासी (तथाकथित *आदिवासी*) बनाम नगरवासी, संस्कृत और द्रविड भाषाएँ जैसे अनेक रूप धारण कर रखे हैं। विभाजनकारी दुर्वृत्तियों का समूल उच्छेद वेदों को ठीक समझ लेने

पर सहज ही हो सकता है, यदि नीयत साफ़ हो और राजनीतिविषमूर्छित न हो। परिणाम यह हुआ कि *भारत राष्ट्र* की प्राचीन सांस्कृतिक और राजनीतिक ठोस इकाई की वास्तविकता पर प्रश्नचिह्न लग गया; आर्य विदेशी तो तथाकथित, दक्षिणभारतीय बन्धु (द्रविड) स्वदेशी मान लिए गए। गोरे शासकों और उनके *रिलीजन* की बहबूदी की चिंता से सुलगी इस चिंगारी में आज पूरा भारत धधक रहा है। आर्य और द्रविड जैसी कोई नस्ल न थी, न है, यह अधिकतर विद्वान् मानते हैं, फिर भी व्यर्थ का कलह मचाया हुआ है। इस कलह ने सन् १९४७ में भारत के टुकड़े किए, इसी ने पाकिस्तान से बंगलादेश को पृथक् किया और आज उत्तर, उत्तरपूर्व में भी पृथक्ता की विषबेल पनपरही है। हिन्दी-उर्दू, हिन्दी-अंगरेज़ी के ख़ेमे भी इसी पृथक्तापरक दुर्वृत्ति के परिणाम हैं। भाषाओं के आधार पर प्रांतों (राज्यों) का निर्माण भी इसी दुष्प्रचार का फल है, जिसकी मांगें अभी भी थमी नहीं हैं। *लोक* संस्कृति का नारा भी नस्लवादी रंग से कुछ न कुछ रंगा हुआ है।

आर्य भाषा और द्रविड भाषा के वर्गभेद का यह अकाण्ड तांडव नस्ल-भेद पर आकर टिक गया है। श्री अरविन्द जैसे अनेक चिन्तकों ने इन भेदों की अतथ्यता का दृढ़ प्रतिपादन किया हुआ है। पर तूती की आवाज़ नक़्क़ारख़ाने में कैसे सुनाई पड़े? सांस्कृतिक तत्त्व प्रजननपरक चीज़ें नहीं हैं, जूलियन हक्सले जैसे वैज्ञानिक का भी यह मत अनसुना कर दिया गया है। और तो और, स्वयं प्राचीन तमिळ साहित्य से यह प्रमाणित होता है कि तथाकथित द्रविड-सभ्यता वस्तुत: वैदिक ही थी। विभिन्न नस्लों, भाषाओं, मान्यताओं, पूजापद्धतियों और रीति-रिवाज़ों के वैविध्य के बावजूद समूचा भारत *भारती प्रजा* या *भारती संतति* कहाता था जिसे ऋग्वेद में *भारत जन* कहा गया था। *भरत* अग्नि का विशेषण है; यह अग्नि ही वह राजा भरत है जिस कारण इस देश को *भारत* नाम मिला। वस्तुत: मनुष्य का व्यक्तित्व ही भारतवर्ष है।

आर्य-शूद्र वैमनस्य और वैदिक दृष्टि : आर्य और शूद्र शब्दों को जातिवाचक मानना उचित नहीं है और न वेद आज की जाति-प्रथा के मूल स्रोत हैं। वस्तुत: ब्रह्म-राजन्य, शूद्र-आर्य जैसे शब्द, वैदिक चिंतन में, मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष हैं। *आर्य* मनुष्य का आंतरिक जगत् है और *शूद्र* है उसका बाह्य पक्ष, एक संस्कृति है, अन्य सभ्यता। आर्य या आर्यत्व का विकास और तद्-आधृत हमारा तप:पूत लोकव्यवहार (शूद्रत्व), दोनों का विकास वैदिक अध्यात्म या साधना है। केवल बहिर्मुखता से दासत्व या असुरत्व का प्रसार होता है, जब कि आन्तरिक आत्मालोक द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व अंदर और बाहर, दोनों ओर से जगमगाकर

क्रमशः आर्यत्व और शूद्रत्व का निदर्शन बन सकता है। न जाने, कैसे *शूद्र* शब्द से निन्दा, तिरस्कार, हीनता, त्याज्यता, अस्पृश्यता का भाव जुड़ गया जो सर्वथा अवैदिक धारणा है। आर्य तो अन्दर से योगी होता है और बाहर से शूद्र (सेवाभावी–भक्त)। मात्र योगी *द्रुह्यु* है, तो केवल बहिर्मुख व्यक्तित्व *अनु* है। इन दो अतिवादी व्यक्तित्वों के मध्य में *यदु* और *तुर्वशु* नाम के दो एकांगी व्यक्तित्व भी होते हैं जो अध्यात्मद्वेषी न होने से, कभी न कभी, सतत अभ्यास से परम आर्य बन सकेंगे। और आर्य व्यक्तित्व का एक पांचवा पक्ष है *पुरु*। यही परम आर्य है जिसमें भौतिकतापरक अध्यात्म और अध्यात्मपरक भौतिकता, दोनों का मणिकांचन समावेश है। ये पांचों व्यक्तित्व *ययाति* के रूपान्तर हैं। *ययाति* आध्यात्मिक और भौतिक उभयविध व्यक्तित्व का संमिलित प्रतीक है। *ययाति* मनोमय आत्मा पर केंद्रित रहता है और कभी अन्तः, कभी बहिः झकोले खाता है। यही *मनु* व्यक्तित्व है।

इतिहास और वेद में पुरूरवाः : *मनु* व्यक्तित्व बहुविध अभिव्यक्ति *(रव)* करने के कारण *पुरूरवाः* भी कहलाया है। पुरूरवाः की चर्चा वैदिक चिंतन के अलावा पुराणों में और *रामायण, महाभारत* में काफ़ी मिलती है। इस सब सामग्री का समन्वित विचार करने से पुरूरवाः के नाना रूपों का, जैसे, *ऐड* और *वसिष्ठ* रूपों का भी तारतम्य स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी पता चल जाता है कि वेदों के चिंतन की प्रस्तुति पुराण किस रूप में करते हैं और कि आज पुराण और इतिहास शैली से वेदार्थ के पुनर् उद्धार में किस प्रकार की सहायता मिल सकती है।

वेद-व्याख्या में आख्यानों का उपयोग : *ब्राह्मण* ग्रंथों में अनेक आख्यान मिलते हैं। उनका उपयोग वेद-व्याख्या में होता रहा है। ये आख्यान ऐतिहासिक नहीं हैं क्यों कि इनके प्रतीकार्थों के संकेत भी साथ के साथ प्रायः मिलते हैं। प्रायः एक आख्यान अन्य आख्यानों और प्रतीकों से गुंथा हुआ है। अतः किसी एक आख्यान को समझने के लिए अन्य आख्यानों की भी समझ होना ज़रूरी हो जाता है।

प्रतीक-परिभाषण की कसौटी : वैदिक प्रतीकों अथ वा परिभाषाओं की व्याख्या के आधार पर ऋग्वेद के पुरूरवाः-उर्वशीसंवाद वाले सूक्त (१०.९५) के अनुवाद और प्रत्येक मंत्र के बारे में आवश्यक टिप्पणियों से उस व्याख्या की सार्थकता और उपयोगिता पुष्ट होती है। *पुरूरवाः* शब्द का अर्थ है बहुत शब्द करनेवाला। शब्द करना अपनी अभिव्यक्ति का तरीक़ा है। साधारण भाषा में *पुरूरवाः* का अर्थ है "बहुत जताने वाला"। इस प्रकार *पुरूरवाः* प्रतीक है प्राणमय कोश के आत्मा या जीव का। *पुरूरवाः* शब्द में जो *पुरु* अंश है वह जीव के अनेक व्यापारों का संकेत करता है। जीव अपने व्यापारों की अभिव्यक्ति किया करता है। वह अभिव्यक्ति रव

अंश से संकेतित हुई है। जीव के व्यापार बाह्य और आंतरिक, दो दिशाओं में होते हैं। बाह्य हलचल में बहुत्व होता है–असंख्य इच्छाओं, भावनाओं, अनुभवों, चेष्टाओं, जानकारियों, आदि के बेशुमार सतत प्रवाह और आवेग होते हैं। पर आंतरिक गतिविधियों में विस्तार या गहनता होती है। इसे उरुत्व कहा गया है। इस उरुत्व की कामना भी जीव का स्वभाव है जो बहिर्मुखता से असंतोष, तनाव, उद्वेग, खीझ, क्रोध, आदि के रूप में प्रकट हुआ करता है। इस स्थिति में जीव को चैन नहीं मिलता है। आंतरिक सुख पाने के लिए चित्त की निर्मलता और उदारता की अपेक्षा होती है। तभी आंतरिक उरुता बढ़ते बढ़ते आत्मिक सुख में परिवर्धित हो पाती है। जीव की यह जो उरुत्व की कामना है उसे *उर्वशी* प्रतीक बनाया गया है। जीव अपनी उरुता की सिद्धि उरुतम, विश्वव्यापक, अंतर्यामी चेतना से जुड़कर ही कर सकता है, जिसे इन्द्र प्रतीक बनाया गया है।

गन्धर्व और अप्-सराएँ : पुरूरवा: प्रयत्न करके गन्धर्व पद को प्राप्त करता है और उर्वशी तो है ही अप्-सरा:। गन्धर्व पद विज्ञानमय कोश के स्तर का जीवात्मा है। इस स्थिति में जीव अन्नमय, प्राणमय और मनोमय स्तरों से आरोहण करके उन तीनों अवर स्तरों को पूर्णता प्रदान करता है। यही तुरीयावस्था है। इससे ऊपर आनन्दमय कोश के स्तर पर *वेन* गन्धर्व की अवस्था है। यह तुरियातीत आनन्दमय चैतन्य है। इसी स्तर पर उर्वशी का अवस्थान है। इस अवस्था में यम-यमी का युग्म है। यह गन्धर्व-अप्सराओं का *ध्रुव* पद है, अवर कोशचतुष्टय के अध्रुव पदों की तुलना में। गन्धर्व आरोहणशील होते हैं तो अप्-सराएं अवतरण करती हैं। साथ ही, इनमें कुछ समानताएँ भी हैं, जैसे दोनों का पृथिवी की गंध और रूप से संबंध है, दोनों उन्मादक हैं, राष्ट्रभृत् हैं, ऋत की रक्षा करते हैं। गंधर्वो की प्रमुखता मनस्तत्त्व है, तो अप्-सराओं में मेधा प्रमुख तत्त्व है। मन और मेधा मनुष्य-प्राण वाले रूप हैं *सुरभि* नामक दैवी मेधा के। सुरभि उर्वशी है (अतिमानसिकी ब्राह्मी वाक् और नारायण-सुता)। प्रत्येक गंधर्व दैवी मेधा (उर्वशी) की या अतिमानसिक 'काम' तत्त्व का अनुभूति-रूप है और उस अनुभूति (गंधर्व) की अभिव्यक्ति उसकी अप्-सरा: है। गन्धर्व रूपोपासक हैं, तो अप्-सराएँ गंधोपासना में रत रहती हैं। दोनों का आप: या उदक से संबंध है। आप: ब्रह्मतेज की प्रतीक–मनस्तत्त्व हैं, जब कि गंधर्व प्राण हैं और अप्-सराएँ वाक् तत्त्व हैं। आप: का समीकरण दैवी मेधा (उर्वशी) से है।

ऋषि और देवता का प्रश्न : संवाद-सूक्तों में कम से कम दो द्रष्टाओं (ऋषियों) का संवाद होता है। द्रष्टा नाटक के पात्रों के समान अपना अपना संवाद बोलते हैं।

ऐसे सूक्त में अपने-अपने संवाद-परक मंत्र का दर्शन (या कर्तृत्व) जिन तथाकथित मनुष्यों के ऊपर मढ़ा गया है वे मनुष्य क्या सचमुच देह-धारी प्राणी थे या कि वे कुछ भिन्न ही तत्त्व हैं, यह समस्या हठात् संमुख उपस्थित होती है। यदि कोई सूक्त नाटक के संवाद सदृश है तो इस पूरे सूक्त का दर्शन (या कर्तृत्व) तो किसी एक ही मनुष्य का रहा होगा, जब कि उसका नाम किसी को ज्ञात नहीं है। यदि ऐसा हो, तो क्या यह संभव नहीं है कि अन्य, संवाद-रहित सूक्तों के तथाकथित ऋषि भी कुछ अन्य ही तत्त्व हों बजाय मनुष्यों के?

आत्मस्तुति-परक सूक्तों में और स्वगत कथन वाले सूक्तों में भी ऋषि-देवता-परक लगभग ऐसी ही कठिनाई आती है। साथ ही, जहां-जहां वेदों में उत्तम पुरुष का क्रिया-रूप प्रयुक्त है वहां वहां ही ऋषि कोई मनुष्य-विशेष होने की संभावना प्रस्तुत हो सकती है। अतः ऋषि की प्रतीकता स्वतंत्र अन्वेषण की पात्र है।

प्रत्येक प्रतीक, वस्तुतः अपने आंतरिक गूढ़ अर्थ *(प्रत्यक्)* का अभिनेता मात्र होता है। अतः ऋषि-नाम भी प्रकारान्तर से प्रतीक हो सकते हैं किसी परोक्षतत्त्व के। इसी प्रकार, संवाद का जो कथ्य है—जिसे देवता कहा जाता है, वह भी ऋषि-प्रतीक से मेल खाते हुए, किसी तत्त्व का प्रकारान्तर से प्रतीक-मात्र हो सकता है। सूक्तद्रष्टा (या कर्ता) देहधारी कोई मनुष्य स्वयं प्रच्छन्न रूप से अपने तत्त्वबोध को ऋषि-प्रतीक और देवता-प्रतीक द्वारा अभिव्यक्ति देता हुआ प्रतीत होता है।

तत्त्वदृष्टि से ही पुरू-रवाः और उर्वशी, आदि को एक साथ ऋषि और देवता, दोनों रूपों में समझा जा सकता है।

छन्द और योग : वैदिक छन्दों का प्रयोग विषयानुसार नियत रहता है। कहीं भी किसी भी छन्द का प्रयोग नहीं किया जाता है। अग्नि, सविता, आदि कुछ देवों के अपने अपने नियत छन्द क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, आदि स्वयं वेद में बताए गए हैं। हर छन्द का अक्षरपरिमाण नियत है। पर जब कभी उसमें एक-दो अक्षरों की घटा-बढ़ी मिलती है तो वैसा भी साभिप्राय और समझ-बूझकर किया गया है। छन्दों की प्रतीकात्मकता का पक्ष भी एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इस दृष्टि से छन्द सप्तविध प्राण तत्त्व का प्रतीक-नाम भी है। यह अग्नि तत्त्व को प्रस्तुत करता है। आग्नेय छन्द गायत्री का अष्टाक्षर पाद अन्य शब्दों से जुड़कर अनेक छन्दों का निर्माण करता है।

वेद की ऋचाओं के तत्त्व को जानने के लिए, *बृहद्देवता*-कार ने देवताओं की उपासना के जो साधन बताए हैं उनमें प्रथम है योग और अंतिम है नि-योग।

अत: विविध या विशेष नियोगों (विनियोगों) से योग का भेद अवश्य होना चाहिए। *योग* से अभिप्राय धारणा-ध्यान-समाधि से होता है, यह सुविज्ञात है। प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा मन को स्थिर करके फिर योग आरंभ होता है।

विज्ञान और सु-विज्ञान : वेदमंत्रों में जो असाधारण ज्ञान है उसके अनेक स्तर हैं जिनके लिए आ-ज्ञान, सं-ज्ञान, वि-ज्ञान, प्र-ज्ञान, सु-विज्ञान जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दुरित से बचने के लिए वि-ज्ञान आवश्यक है। प्र-ज्ञान इच्छा, ज्ञान और क्रिया का संयुक्त ज्ञान है जो एक ओर त्रिविध
बहिर्मुखता में अवतरित होता है पर वस्तुत: अपने अन्तस्तम स्रोत से भी त्रिविध रूप में एकत्व भाव से जुड़ा होता है। पर सु-विज्ञान द्वन्द्वातीत सत्य है।

ज्योतिर्-दर्शन : समस्त प्राचीन देशी-विदेशी वेदानुशीलकों और चिन्तकों की विरासत के आधार पर और वेद की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया या शैली को समझते हुए वैदिक परंपरा की विशेषताओं को ठीक से समझ लेना आवश्यक है। तभी वर्तमान और अगली पीढ़ियों के लिए वेद के कथ्य को समझ पाना शक्य होगा। *निघण्टु* इसी परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। *निघण्टु* की पर्यायवाची-सूचियों से वेद के विभिन्न पक्षों के स्वरूप का पृथक् पृथक् बोध होने के साथ, उन सब पक्षों में अन्त:स्यूत एक विराट् और सूक्ष्म मौलिक एकता का भी दर्शन होता है। *निघण्टु* के प्रथम पर्याय-सूची के पृथिवी-नामों के विहगावलोकन से स्पष्ट पता चलता है कि वेद की पृथिवी एक ग्रह-मात्र नहीं है वरन् वह एक अद्भुत प्रतीक भी है।

कहां क्या?

ग्रन्थ में प्रयुक्त संकेताक्षर

अ.	अथर्ववेद (शौनकीय)
ऋ.	ऋग्वेद
ऋ-खि.	ऋग्वेदीय खिल सूक्त
ऋ-सर्वानु.	ऋक्-सर्वानुक्रमणी
ऐआ.	ऐतरेय आरण्यक
ऐउ.	ऐतरेय उपनिषत्
ऐब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
क.	कपिष्ठल-कठ संहिता
कठ-उ.	कठोपनिषत्
काठ.	काठक-संहिता
काठसं.	काठक-संकलन
काशब्रा.	काण्व शतपथ ब्राह्मण
कौब्रा.	कौशितकि ब्राह्मण
कौउ.	कौशितकि उपनिषत्
गो.	गोपथ ब्राह्मण
छांउ.	छान्दोग्य उपनिषत्
जै.	जैमिनीय-संहिता
जैउ.	जैमिनीय उपनिषत्
जैब्रा.	जैमिनीय ब्राह्मण
तांब्रा.	ताण्ड्य ब्राह्मण
तु.,	तुलना करें
तै.	तैत्तिरीय-संहिता
तैआ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तैउ.	तैत्तिरीय उपनिषत्
दैब्रा.	दैवत ब्राह्मण
निरु.	निरुक्त
पद्मपु.	पद्म-पुराण
पा.धातु-पा.	पाणिनीय धातुपाठ
पृ.	पृष्ठ
प्रउ.	प्रश्न उपनिषत्
बृउ.	बृहद्-आरण्यक उपनिषत्
बृदे.	बृहद्देवता
भ-गी.	श्रीमद्भगवद्-गीता
मपु.	मत्स्य पुराण
मभा.	महाभारत
मुंउ.	मुण्डक उपनिषत्
मै.	मैत्रायणी संहिता
य.	यजुर्वेद (माध्यन्दिन)
वायुपु.	वायु पुराण
विपु.	विष्णु पुराण
वि-धर्मो-पु.	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
शब्रा.	शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन)
शांआ.	शांखायन आरण्यक
श्वेउ.	श्वेताश्वेतर उपनिषत्
षब्रा.	षड्विंशति ब्राह्मण
सा-भा.	सायण द्वारा रचित भाष्य

वेदविद्या का पुनर् उद्धार

१ समस्या का परिचय

समस्त मानवजाति के इतिहास में वेद नामक ग्रंथ, निस्संदेह, सबसे प्राचीन हैं। ब्राह्मणों ने इनके मूल पाठ, उच्चारण, आदि को कंठस्थ करके, अद्वितीय त्याग और तपस्या के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन्हें सुरक्षित रखा है। इसके लिए अनेक प्रकार के उपाय काम में लाए गए। समस्त संसार में यह अपने ढंग की अद्वितीय घटना है।

वेदों को बहुत सावधानी से सुरक्षित रखने का एकमात्र कारण यह था कि इन्हें अत्यंत मूल्यवान् ग्रन्थ समझा गया। वेदों का महत्त्व इस कारण है कि इनमें *वेद* नामक *शास्त्र* सुरक्षित है। यह शास्त्र न केवल मनुष्यों का, अपि तु पितरों और देवों का भी सनातन चक्षु है, जैसा कि *मनुस्मृति* का कथन है।[१] इस शास्त्र के अर्थ को समझनेवाला तत्त्वज्ञ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथ वा संन्यास में से किसी भी आश्रम में क्यों न हो, संसार में रहतेहुए ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।[२] लौकिक दृष्टि से भी, यह शास्त्र सब ज्ञानों का आ-कर[३] और सब योग्यताओं का साधन[४] माना जाता रहा है।

: १ : 'वेद' शक्ति

वेदों का अर्थ : फिर भी, यह अत्यंत दु:खद आश्चर्य है कि चिर काल से वेदों के अर्थ की उपेक्षा होती रही है। लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व भी यह स्थिति थी। यास्क ने, अपने *निरुक्त* में, किसी *कुत्स*-गोत्रिय व्यक्ति का उल्लेख किया है। वह कहता था कि वैदिक मंत्रों का कोई अर्थ नहीं होता है। पूरे वेद को कंठस्थ करनेवाले भी उसके अर्थ से अनभिज्ञ होने लगे थे। ऐसे वैदिकों को यास्क ने भवन के भार को वहन करनेवाला खम्भा[५] कहकर याद किया है।

आज जो स्थिति है उसकी झलक हिंदू विश्वविद्यालय (वाराणसी) की एक घटना से मिल जाती है। एक वैदिक विद्वान् का व्याख्यान होरहा था। विश्वविद्यालय के उपकुलपति, आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव अध्यक्षता कररहे थे। अध्यक्षीय भाषण में, ध्रुव जी ने वेदों की बड़ी प्रशंसा की। उसको सुनकर एक शास्त्री जी ने उनके पास पहुंचकर धीरे से कान में कहा, मैं भी वेदों का हिंदी में अनुवाद कररहा हूं। ध्रुव जी ने छूटते ही उत्तर दिया, भगवान् के लिए, ऐसा मत करना। नहीं तो दयानन्द ने वेदों के प्रति जो श्रद्धा पुन: जगाई है वह भी समाप्त हो जाएगी। इस कथन की सत्यता की पुष्टि उन वेद-विरोधी लेखों से हो जाती है जो आधुनिक अथ वा प्राचीन भाष्यकारों की व्याख्याओं के आधार पर कुछ पत्र-पत्रिकाओं में वेदनिंदकों द्वारा

जब-तब लिखे जाते हैं।

वेदों के अर्थ की उपेक्षा का कारण यह है कि उन भाष्यकारों तक वह दृष्टि नहीं पहुंच पाई जिस दृष्टि से वेद प्रादुर्भूत हुए थे। सदा से वेदों के स्वत:प्रामाण्य की बात की जाती रही है। रॉट, प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेद के भाष्य को वेद के अंत:साक्ष्य पर आश्रित करने की आवश्यकता पर बल दिया था। निस्संदेह, वेदार्थ का सुसंगत और प्रामाणिक रूप उसी दृष्टि के आधार पर उभरेगा जो स्वयं वैदिक वाङ्मय हमें देरहा है। इस दृष्टि को सर्वप्रथम वेदों के मंत्रों में खोजना पड़ेगा। इस कार्य में *ब्राह्मणों, आरण्यकों* और *उपनिषदों* से अवश्य ही बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। *निघंटु*-कार, *पदपाठ*-कार, *अनुक्रमणी*-कार, *बृहद्देवता*-कार और *निरुक्त*-कार के कार्य भी इस दिशा में उपादेय हैं। *रामायण, महाभारत, पुराण* और *आगम* भी वेद के प्रतीकों की व्याख्या करतेहुए पाए जाते हैं। अत: इन सबका उपयोग वेदों के मंत्रों की अपनी दृष्टि को खोजने में किया जा सकता है। पर यह ध्यान रखना होगा कि इन सब ग्रंथों को उस बालबुद्धि से न देखें जो अभिधेयार्थ से चिपककर रह जाती है और वेदों के मंत्रों की सुविकसित प्रतीकदृष्टि और अर्थवाद की सर्वथा उपेक्षा कर देती है। उदाहरण के लिए, मैं पहले अपनी ही बालबुद्धि की बात करता हूं।

वेद का वेदत्व : इस प्रसंग में, सर्वप्रथम मैं *वेद* शब्द की बात उठाता हूं। वेद नाम चार ग्रंथों का है, यह बात प्राय: अपढ़ लोगों को भी ज्ञात है। ऊपर, *मनुस्मृति* के आधार पर, वेद एक *शास्त्र* का नाम बताया गया है। सायण अपने भाष्य के उपोद्घात में वेद को महेश्वर का नि:श्वसित कहते हैं और उसके द्वारा अखिल जगत् के निर्माण की बात करते हैं।[६] अभिधेयार्थ पर आग्रह करनेवाली बालबुद्धि, भला, इसे कैसे समझे? आज जब मैं इस विषय का सिंहावलोकन करता हूं तो ऐसे कई अवसरों की याद ताज़ी हो जाती है जब मेरी बालबुद्धि ने सोचा था कि आख़िर वेद है क्या? आरंभ उस अबोध शैशव काल से करता हूं जब मैं माता-पिता की गोद में बैठकर राम-कथा सुनता था। पिता जी को पूरा *रामचरितमानस* कंठस्थ था। उसे वे प्रात: चार बजे से गाने लगते थे। एक दिन राम-जन्म का प्रसंग चलरहा था। मैंने सुना कि चारों वेद ब्राह्मणों का वेश धारण करके नवजात राम की स्तुति करने राजा दशरथ के द्वार पर जा पहुंचे। इस वर्णन से मैंने यही समझा कि वेद कोई मनुष्य होंगे। इसकी पुष्टि भी तुरंत हो गई–पिता जी ने प्रत्येक वेद की स्तुति को अलग अलग सुना दिया।

उन दिनों *पुराण*-कथा का भी खूब प्रचलन था। मेरे गांव में प्रतिवर्ष

किसी न किसी *पुराण* की कथा होती थी। मेरी माता जी उसे नियमपूर्वक सुनती थीं और मुझे भी आग्रहपूर्वक अपने साथ ले जाती थीं। ऐसे एक अवसर पर, कथावाचक ने एक आख्यान सुनाया। वह इस प्रकार था। सावित्री ब्रह्मा जी की पुत्री थी। वह प्रतिदिन अपने पिता की प्रदक्षिणा करती थी। ब्रह्मा उसके रूप पर मुग्ध थे। अत: वह जिधर जाती उधर ही वे उसे अपलक देखते। इस प्रकार उन्हें अपना मुख चारों दिशाओं में घुमाना पड़ता। परिणामस्वरूप उनके चार मुख हो गए और प्रत्येक मुख से एक वेद निकला।

वेद मनुष्य नहीं हो सकते, मेरे मन में आया। तभी माता जी ने बताया कि वेद तो बड़े बड़े ग्रंथों को कहते हैं जिन्हें ब्रह्मा अपने चार मुखों से गातेरहे होंगे। पिता जी ने बताया कि वेदों द्वारा ब्राह्मण-वेश धारण करके राम की स्तुति करने का प्रसंग *रामचरितमानस*-कार की कवि-कल्पना थी। और यह बात तो बहुत दिनों बाद मालूम पड़ी कि सावित्री वस्तुत: अतिमानसिक, सूर्या नामक *वाक्* शक्ति है[७] और ब्रह्मा मन है,[८] जो मानसिक स्तर पर ऋक्, यजु: और साम नामक, तीन रूपों में उक्त शक्ति को प्रकट करता है।[९] उन तीन रूपों का संमिलित रूप *अथर्वांगिरस्* कहाता है।[१०]

ये चारों यद्यपि वाक् शक्ति के रूप हैं पर इनमें से चतुर्थ रूप अन्य तीन शक्ति-रूपों का ही संमिलित, अव्याकृत रूप है। अत: कुल मिलाकर, व्याकृत और अव्याकृत, दोनों रूपों में, ऋक्, यजु: और साम का ही अस्तित्व है। इस त्रयी को विद्या अथ वा वेद त्रय[११] कहा जाता है। यही 'त्रि-षत्या' अथ वा 'त्रय्-आ वृद्' वाक् है।[१२] *मैत्रायणी संहिता* ने ऋक्, यजु: और साम में क्रमश: ज्ञानात्मकता (चित्त्व), क्रियात्मकता (जूत्व) और ध्यानात्मक भावना (धीत्व) की विशेषता मानी है।[१३] अत: ऋक् को ज्ञान-रूपा वाक्, यजु: को क्रिया-रूपा वाक् और साम को भावना-रूपा वाक् कह सकते हैं। आगमों में इनको क्रमश: ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति कहा गया है।[१४] इनका अव्याकृत रूप परा शक्ति अथ वा परा वाक् है।

वेदों के इस शाक्त रूप को न जानने के कारण मेरी बालबुद्धि सर्वत्र ऋक्, यजु: और साम को तीन ग्रंथ ही मानतीरही। वैदिक साहित्य में *त्रयी* का प्रचुर उल्लेख देखकर वह यही कहतीरही कि आर्यों के वेद मूलत: तीन ही थे। वह विश्वास करतीरही कि चौथा वेद, अथर्व, वस्तुत:, अनार्यों का था जिसे आर्यों ने अपना लिया था। यदि वेद ग्रंथ ही होते तो उस वेद को क्या समझें जो मनुष्य के किसी अन्तस्तम कोश से 'उद्-भृत' *ब्रह्म-वीर्य* कहा जाता है और जिससे इष्ट कर्म संपन्न किया जाता है,[१५] अथ वा जिसका 'उद्धार' मनुष्य के व्यक्त और अव्यक्त

स्तरों की सहायता से होने पर ही, कर्म संभव होता है?[१६] शक्ति-रूप वेद का उल्लेख निम्न लिखित ऋक् में भी है,

ऋचं साम यद् अप्राक्षं, हविर् ओजो यजुर् बलम्।
एष मा तस्मान् मा हिंसीद्, वेदः पृष्टः शची-पते! अ. ७.५४.२

यहां इंद्र के लिए *शची-पति* विशेषण साभिप्राय है। *शची-पति* का अर्थ है शक्तिमान्। उससे जिस वेद के स्वरूप के बारे में पूछा गया है वह वेद निस्संदेह शक्ति-रूप है। तभी तो ऋक् को हविः, साम को ओज और यजुः को बल कहा गया है।

● वेद के माध्यम से होनेवाला यज्ञ जब देवों को समर्पित होता है तो ऋक् और साम यज्ञगृह *(सदः)* में प्रकाशमान् होते हैं।

ऋचं साम यजामहे, याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
एते सदसि राजतो, यज्ञं देवेषु यच्छतः। अ. ७.५४.१

इस सन्दर्भ में, त्रयी द्वारा होनेवाला यह यज्ञ निस्संदेह *अध्वर* नामक आध्यात्मिक यज्ञ है।[१७] मनोमय कोश से प्रादुर्भूत होनेवाला यह यज्ञ प्राणमय और अन्नमय कोशों के स्तर पर होनेवाले क्रियाकलाप में देखा जा सकता है। इसी लिए कहा गया है कि देवों ने मनः-समुद्र से *अभ्रि*-वाक् द्वारा त्रयी विद्या को खोद निकाला।[१८] यह *अभ्रि*-वाक् पूर्वोक्त परा वाक् या परा शक्ति है। ज्ञान-इच्छा-क्रियापरक ऋक्-साम-यजुः की त्रयी को यह मनोमय स्तर पर व्यक्त करती है। यह यज्ञ विज्ञानमयकोश-रूप यज्ञशाला में देवों को समर्पित होता है। वहां सब आंतरिक देव आसीन होतेहुए कहे जाते हैं।[१९] इस आध्यात्मिक यज्ञ का प्रतीक द्रव्य-यज्ञ है। द्रव्य-यज्ञ में जो *सदः* नामक स्थल बनाया जाता है उसमें, आध्यात्मिक यज्ञ के अनुकरण पर, देवों के स्थान पर, मनुष्य-देवों (ब्राह्मणों) को बैठाया जाता है।[२०]

भौतिक वस्तुओं और शरीरों (पिंडांड) की दृष्टि से, यह आध्यात्मिक यज्ञ 'पुरुष-यज्ञ' है। उससे उत्पन्न होनेवाले वेद उक्त शक्तियों के रूप में ही अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। यही बात निम्न ऋक् पर लागू होती है। इसमें एक आध्यात्मिक स्तंभ *(स्कंभ)* से ऋचाओं और यजुः की उत्पत्ति बतातेहुए सामों को उसके लोम और अथर्वांगिरसों को उसका मुख कहा गया है।

यस्माद् ऋचो अपातक्षन्, यजुर् यस्माद् अपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्य्, अथर्वाङ्गिरसो मुखम्.... । अ. १०.७.२०

यह यज्ञ वस्तुतः आध्यात्मिक सृष्टि का यज्ञ है। मनोमय स्तर पर होनेवाले उक्त सृष्टि-यज्ञ द्वारा स्वयं पुरुष ही अ-जात (अव्यक्त) से जात (व्यक्त) होता है।[२१] यही वह यज्ञ है जिसे पुरुष-प्रजापति मन द्वारा विस्तार देता है,[२२] उसी मनः-समुद्र में

'नि-खात' त्रयी विद्या की सहायता से। अत: यह प्रत्यक्ष यज्ञ प्रजापति, विष्णु, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, आदि कहा जाता है।[२३] इसी परिप्रेक्ष्य में यह कथन भी समीचीन है कि प्रजापति ने वेदत्रय की सृष्टि की और कहा कि इसी के द्वारा मैं सृष्टि-रचना करूंगा। इसी के द्वारा सृष्टि के प्रथम साधन, 'आप:' नामक प्राणों में प्रजापति प्रवेश करता है अथ वा उनसे सृष्टि करता है।[२४]

वेद और देवासुर-संघर्ष : मनोमय स्तर पर होनेवाले वेद त्रय अथ वा त्रयी विद्या के विभाजन की उक्त व्याख्या के आधार पर उन आख्यानों को समझा जा सकता है जिनमें वेदों की चर्चा देवासुर-संघर्ष के प्रसंग में होती है। उदाहरण के लिए, *जैमिनीय ब्राह्मण* के उस आख्यान को ले लें जिसमें इंद्र ने असुरों के साथ महायुद्ध करके वेदों को उनके चंगुल से निकाला।[२५] इसके साथ वह पौराणिक आख्यान भी ले सकते हैं जो मैंने बचपन में सुना था। उसके अनुसार एक प्रलय काल में ब्रह्मा इतने घबड़ाए कि उनके मुखों से वेद बाहर निकलकर पृथिवी पर गिर पड़े। तब हयग्रीव नामक असुर ने झट उन्हें अपने मुख में रख लिया। जब ब्रह्मा सहित सब देवों ने वेदों के उद्धार के लिए विष्णु से प्रार्थना की तो उन्होंने हयग्रीव का वध करके उन्हें मुक्त कराया।

अर्थवाद से रहित करने पर, इस प्रकार के आख्यानों का तात्पर्य यह है कि ज्ञान-इच्छा-क्रिया शक्तियाँ (वेद) आसुरी शक्तियों के आधिपत्य में भी जा सकती हैं। जब ऐसा होता है तो देवों के अधिराज इंद्र अथ वा विष्णु को उन शक्तियों के उद्धार के लिए असुरों से युद्ध करना पड़ता है। हमारे व्यक्तित्व की शक्तियां (*विश:* या *प्र-जा:*) जब अहंकार-रूप असुर *(वृत्र)* के आधिपत्य में चली जाती हैं तो उस स्थिति को प्रलय, विनाश अथ वा मृत्यु कहा जाता है। यह घोर अंधकार *(दीर्घ तम:)* वाली, *अ-देव* अवस्था है। हमारा प्रज्ञान *(अग्नि)* इसमें चिर काल तक रहने से अ-शिव बन जाता है और असुर को ही अपना पिता समझने लगता है।[२६] जब वह इंद्र को फिर वरण करता है तो असुर-पिता को छोड़कर वह पुन: देवराष्ट्र को लौटता है। तब वरुण को राष्ट्र के आधिपत्य के लिए आमंत्रित किया जाता है। असुर (वृत्र) का वध होता है। उसके फलस्वरूप[२७] *स्व:* नामक ज्योति और *सोम* (देवों का अन्न)[२८], *आप:* (प्राण-विशेष), आदि, सब मुक्त हो जाते हैं। वृत्र से डरीहुई सब शक्तियां इंद्र की 'ज्येष्ठ इंद्रिय' कहलानेवाले प्रज्ञान-*अग्नि* को राजा चुनती हैं। आप: नामक प्राणों के बीच में विद्यमान इंद्र को भी कवि लोग अपनी मनीषा से एक *स-युज् हंस* के समान पा जाते हैं।[२९] यह अग्नि वह *जात-वेदा:* है जो शत्रु-वत् (*अराति*-वत्) व्यवहार करनेवालों को विशेष रूप से दग्ध करनेवाला

वेदस् भी कहलाता है।[३०] यही अग्नि वह वेदस् है जो अपने निकटतम *(अमा-त्य)* की, भीतर से *(विश्वतः)* रक्षा करता है और हमें पाप से बचाता है।[३१]

महाभारत[३२] के अनुसार, वेद को चुरानेवाले असुरों का नाम मधु और कैटभ था। जब विष्णु योगनिद्रा-वश सोरहे थे तो उनकी नाभि से एक सहस्रदल कमल उत्पन्न हुआ। कमल पर दो जलबिन्दु थे। एक से मधु और दूसरे से कैटभ उपजा। उत्पन्न होते ही उनकी दृष्टि कमल के मध्य में विराजमान ब्रह्मा पर पड़ी। ब्रह्मा के पास वेद थे। वेदों को लेकर वे दोनों रसा (तल) को चले गए। ब्रह्मा चिंतित हुए कि वेद तो मेरे चक्षु हैं। उनके बिना मैं सृष्टि कैसे करूंगा? उनकी प्रार्थना पर, विष्णु ने हयग्रीव रूप धारण कर मधु और कैटभ का वध किया और वेदों का रसा (तल) से उद्धार किया। *भागवत* और *विष्णु* पुराणों में विष्णु के हयग्रीव अवतार की कथा आती है। यह अवतार उन्होंने मधु और कैटभ से वेदों को मुक्त कराने के लिए लिया था।*

इन आख्यानों के विभिन्न रूपांतर मेरे सदृश किसी भी व्यक्ति की बालबुद्धि को भ्रम में डाल सकते हैं। पर जब हम यह समझ लेते हैं कि ये आख्यान कोई इतिहास (पुरावृत्त) नहीं हैं अपि तु तात्त्विक बातों की ओर संकेत करनेवाले काल्पनिक कथानक हैं तो भ्रम को दूर करने का मार्ग मिल जाता है। इन आख्यानों का तात्पर्य यही है कि ज्ञान-इच्छा-क्रियापरक वेद या विद्या जब आसुरी हाथों में पड़ जाती है तो उसका उद्धार दैवी सहायता से ही संभव है।

त्रिवेद या त्रयी विद्या से होनेवाला यज्ञ भी पहले असुरों के पास था। इसे देवों को असुरों से प्राप्त करना पड़ा।[३३] तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस स्वाभाविक अहंकार को लेकर जन्मता है वह, शुभ संस्कारों के अभाव में, असुर (वृत्र) बनकर उसकी त्रयी विद्या अथ वा उससे संपादित कर्म (यज्ञ) को घोर आसुरी बना देता है। भोगवाद (मधु) और भ्रष्टाचार (कैटभ) वेदों पर आधिपत्य कर लेते हैं। पर ये वेद पूर्वोक्त ज्ञान-इच्छा-क्रिया शक्तियां हैं, न कि कोई ग्रंथ।

तथाकथित वेद-विद्रोह : वेद नामक ग्रंथों में संगृहीत मंत्रों में उक्त शक्तियों अथ वा तज्जन्य व्यक्तित्व-आयामों का संदर्भ होता है। इसी कारण उन ग्रंथों का नाम वेद है। इस बात को न समझने के कारण, मेरी बालबुद्धि कुछ विद्वानों द्वारा प्रचारित इस मत में बहुत समय तक विश्वास करती रही कि उपनिषदों और

***मार्कण्डेय* पुराण के *दुर्गासप्तशती* प्रकरण में भी ब्रह्मा की प्रार्थना पर विष्णु मधु और कैटभ का संहार करते हैं, पर वेदोद्धार के लिए नहीं अपि तु उनके द्वारा अपहृत पृथिवी के उद्धार के लिए।

महाभारत में कहीं कहीं वेद के प्रति विद्रोह पाया जाता है। उदाहरण के लिए *मुंडक उपनिषद्* का वह प्रसंग लेते हैं जिसमें वेदों को इतिहास, पुराण, आदि के साथ उस अपरा विद्या के अंतर्गत रखा गया है जो ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली परा विद्या से निकृष्ट है।[३४] वास्तव में, यहां अभिप्राय चारों वेदों (ग्रन्थों) की उक्त त्रिवेद या त्रयी विद्या से है। ज्ञान-इच्छा-क्रियात्मक होने से, वह त्रयी विद्या जागर्ति, स्वप्न और सुषुप्ति से आगे नहीं जाती है, जब कि ब्रह्म का साक्षात्कार उससे परे होता है। इस त्रयी विद्या का जो मूल रूप है उसका पारिभाषिक नाम *ओम् वाक्* है।[३५] इसी के द्वारा 'पर' ब्रह्म की प्राप्ति होती है। *प्रश्न उपनिषद्* भी इसी भाव से कहती है कि शांत, अजर, अमृत, अभय, *पर* की प्राप्ति ओंकार से होती है, ऋक्, यजुः, साम से नहीं।[३६] इसी दृष्टि से, *छान्दोग्य उपनिषद्* का कथन है कि जब देव ऋक्, यजुः और साम में छिपेहुए थे तो मृत्यु ने उन्हें ऐसे देख लिया जैसे कोई जल में छाया को देख ले। पर जब वे देव ऋक्, साम और यजुः से परे 'स्वर' ('ओम्') में चले गए तो वे मृत्यु से बचकर अमर हो गए।[३७] निस्संदेह, इन प्रसंगों में, तात्पर्य ज्ञान-इच्छा-क्रिया शक्ति रूप वेदों से है, न कि ग्रंथों से।

महाभारत के अंतर्गत भी इसी प्रकार के विचार यत्र-तत्र मिलते हैं। उसके *श्रीमद्भगवद्गीता* प्रकरण में उक्त ओम् वाक् को ही *व्य्-अव-सायात्मिका बुद्धिर् एका* कहकर, ज्ञान-इच्छा-क्रियापरक ऋग्, आदि शक्तियों को 'अ-व्यवसायियों की बहुशाख अन्-अन्त बुद्धियां' कहा
है और उन्हें भोगवादी, जन्मकर्मफल देनेवाली वाक् माना है। इससे युक्त व्यक्तियों की बुद्धि कभी समाधिस्थ नहीं हो सकती है।

व्य्-अव-सायात्मिका बुद्धिर्, एकेह कुरु-नन्दन!
बहु-शाखा ह्य् अन्-अन्ताश् च, बुद्धयो-व्यवसायिनाम्।।
याम् इमां पुष्पितां वाचं, प्र-वदन्त्य् अ-विपश्चितः।
वेदवाद-रताः पार्थ!, नान्यद् अस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्ग-परा, जन्मकर्मफल-प्रदाम्।
क्रियाविशेष-बहुलां, भोगैश्वर्यगतिं प्रति।। २.४१-४३

निस्संदेह, इन श्लोकों में 'वेदवाद-रत' से अभिप्राय उन लोगों से है जो ज्ञान-इच्छा-क्रियापरक भोगैश्वर्यवादी मनोवृत्ति वाले हैं और उसी को शक्ति (वेद) मान बैठे हैं। वस्तुतः यह मनोवृत्ति सत्, रजः और तमः से युक्त सुख, दुःख आदि के द्वंद्वों से ग्रस्त होती है जब कि आत्मबोध के लिए त्रिगुणातीत और द्वंद्वातीत होना आवश्यक है,

त्रैगुण्य-विषया वेदा, निस्-त्रैगुण्यो भवार्जुन!
निर्-द्वंद्वो नित्य-सत्त्वस्थो, निर्-योगक्षेम आत्मवान्।। २.४५

प्रसंग को देखते हुए, यहां वेदों ('वेदाः') से ज्ञान-इच्छा-क्रियापरक ऋग्, आदि वे शक्तियां अभिप्रेत हैं जिनसे व्यक्ति अनेक इच्छाओं, क्रियाओं और विचारों से प्रेरित होकर भोगैश्वर्य में आसक्त रहता है। यह त्रैगुण्यमयी स्थिति है। इससे उपर उठकर जो नित्य-सत्त्वस्थ हो गया है वही विज्ञानवान् ब्राह्मण है। उक्त त्रैगुण्ययुक्त ज्ञान-इच्छा-क्रियापरक ऋग्, आदि वेदों से उसका उसी प्रकार कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है जिस प्रकार चारों ओर जलप्लावन की अवस्था में जलाशयों से कोई प्रयोजन नहीं रहता है,

यावान् अर्थ उद-पाने, सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य वि-जानतः।। २.४६

कारण यह है कि ये ऋग्, आदि वेद त्रैगुण्य की अवस्था में उस रस से रहित हो गए होते हैं जिसे ओंकार कहा जाता है।[३८] इन्हें ब्रह्मप्राप्ति का स-रस साधन पुनः बनाने के लिए इन्हें ओंकार से जोड़ने की आवश्यकता होती है।[३९] इसके लिए, सत्त्व गुण में नित्य स्थित होने, और सुख, दुःख, आदि द्वंद्वों से उपर उठने का अभ्यास करना होता है। यही वास्तविक साधना है।

: २ : कुतूहल से जिज्ञासा की ओर

मेरी बालबुद्धि को उक्त निष्कर्ष तक पहुंचने में जीवन का अधिकांश भाग लग गया। इस ओर प्रवृत्त करने का श्रेय उस वेद-विषयक कुतूहल को है जिसे शैशव काल में सुनेहुए आख्यानों और माता-पिता के प्रोत्साहनों ने पैदा किया था। आगे चलकर कुछ नई प्रेरणाओं और सूचनाओं के आलोक में, इस कुतूहल ने एक नितान्त नवीन जिज्ञासा का रूप ले लिया। उसका आरंभ लगभग तेरह वर्ष की अवस्था में तब हुआ जब मैंने पांचवी कक्षा के छात्र के रूप में बीसलपुर के तहसीली स्कूल में प्रवेश किया। सौभाग्य से मुझे एक वेद-प्रेमी, राष्ट्रनिष्ठ और आदर्शवादी कक्षा-अध्यापक का मार्गदर्शन मिल गया। वे थे मुंशी बिहारीलाल—कृशकाय, हंसमुख, खद्दरपोश और शिष्यवत्सल। उन्होंने मुझे ब्रह्मचर्य और सदाचार की शिक्षा देनेवाली पुस्तकें दीं और आर्यसमाज के वाचनालय में प्रतिदिन जाने के लिए प्रेरित किया। कई बार सुना था कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद ब्रह्मवाक्य है, वेद ईश्वर की वाणी है, वेद में समस्त ज्ञान-विज्ञान भराहुआ है और वेद को पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। अतः वेद पढ़ने की उत्कट अभिलाषा जाग उठी।

इसी बीच एक अद्‌भुत व्यक्ति से परिचय हुआ, प्रथम और अंतिम बार। सायंकाल का समय था। मैं अपने भूगोल-शिक्षक, मुंशी द्वारिकासिंह के घर पर किसी कार्य से गयाहुआ था। वहां एक हृष्ट-पुष्ट, घुटनों तक धोती बांधे, एक झोला और एक अंगोछा लिएहुए एक व्यक्ति आया। आते ही आदेश हुआ, मेरे लिए केवल बिना नमक की दाल बनेगी; रोटी मेरे पास है। मुंशी जी ने आग्रह किया कि ताज़ी रोटी बन जाएगी। पर उस महापुरुष का कहना था कि राष्ट्र का अन्न बर्बाद नहीं करूंगा। दाल आई और उन्होंने सूखी रोटियां निकालकर दाल में तोड़ लीं और खा गए। उन दिनों गांधी जी का जीवन-चरित पढ़कर मैंने भी नमक छोड़ रखा था। उन्हें जब यह मालूम हुआ, तो उन्होंने अपने झोले से *आर्याभिविनय* नामक पुस्तक निकाली और कहा कि 'इसका एक मंत्र रोज़ दयानन्द के भाष्य के साथ पढ़ो। इसमें तुम्हें उस राष्ट्रभूमि के दर्शन होंगे जो स्वर्ग से भी ऊंची है। वह माता हमारे, तुम्हारे सबके कण कण में रमी है। आज वह विदेशियों की दासता में है। उसे मुक्त करने के लिए ही तुम्हारे आराध्य गांधी जी प्रयत्नशील हैं। उसके लिए जिन नौजवानों ने आत्म-बलिदान कर दिया है उनकी यह परिचय-पुस्तिका है, इसे पढ़ो।' यह कहकर उन्होंने मुझे एक पुस्तक पकड़ा दी। उसका नाम था, *क्रांति के मंदिर में*। वे तुरंत ही कहीं चले गए। वे स्वर्गीय रामप्रसाद 'बिस्मिल' थे – काकोरी केस में फांसी पर चढ़नेवाले एक प्रसिद्ध देश-भक्त और अमर शहीद।

● उस समय से *आर्याभिविनय* मेरी दैनिक पाठ्य-पुस्तक बन गई। उसमें दयानन्द ने जिस प्रकार स्वदेश-प्रेम, स्वराज्य, आदि के विषयों को वेदार्थ के साथ समन्वित किया था वह अद्‌भुत है। बाद में मुझे पता चला कि वह पुस्तक क्रांतिकारियों का धर्मग्रंथ बन गई थी। इसे वे रोज़ पढ़ते थे। मेरे जीवन पर उसका जो प्रभाव पड़ा वह, *सत्यार्थप्रकाश* के पारायण से, उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता गया। भारत माता की आराधना का व्रत ज़ोर पकड़ने लगा। पर जिस राष्ट्रभूमि को 'बिस्मिल' ने हम सबके कण कण में रमाहुआ बताया था वह स्मृति-पटल पर तब उभरी जब वर्षों बाद मैंने *अथर्ववेद* का पृथिवी-सूक्त पढ़ते हुए निम्न ऋक् देखी,

याणविधि सलिलम् अग्र आसीद्, यां मायाभिर् अन्व् अचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्य्-ओमन्, सत्येना-वृतम् अमृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस् त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। अ. १२.१.८

'जो (राष्ट्रभूमि), पहले, समुद्र में सलिल थी, जिसका अनुसरण मनीषियों ने मायाओं के द्वारा किया, और जिस(पृथिवी)का अमृत-रूप हृदय, सत्य से आवृत हुआ, परम व्य्-ओम में (है) वह हमारी भूमि उत्तम राष्ट्र में तेज और बल को स्थापित करे।'

मंत्र के इस अभिधामूलक अनुवाद से तो बालबुद्धि अनुवादक यही समझेगा कि यहां *अर्णव* से हिंदमहासागर और *परम व्य्-ओम* से सर्वोच्च आकाश अभिप्रेत होगा। पर इससे कोई सुसंगत अर्थ नहीं निकल पाता है। वास्तव में, इस मंत्र की कुंजी 'मनीषी' *(मनीषिण:)* शब्द में निहित है। यह शब्द *निघंटु* के *मेधावि*-नामों में परिगणित है और अंतर्मुखी प्रज्ञावाले साधक का परिचायक है। *मनीषा* शब्द उस अतीन्द्रिय और अतिमानसिक 'मनीषण'-क्रिया का द्योतक है जिसमें मन, निर्विकार होकर, ॐ नामक आंतरिक हृदय-ज्योति पर केंद्रित होता है।[४०] इस मनीषा पर आधिपत्य रखनेवाले जन *मनीषी* हैं। ऐसे मनीषियों द्वारा 'अनुचरणीय भूमि' जिस अर्णव में 'सलिल' हो सकती है और जिस परम व्य्-ओम[४१] में उस 'पृथिवी' का सत्यावृत, अमृत हृदय कल्पित है वह भूमि, निस्संदेह, हमारे आंतरिक विश्व की कोई अन्तस्तम गहराई ही हो सकती है। यदि 'पृथिवी' साधक की प्रथनशील (फैलतीहुई) बहिर्मुखी चेतना है, तो उसका सत्यावृत, अमृत हृदय हमारी अन्तर्मुखी चेतना का वह चरम बिन्दु होगा जिसे ब्रह्मात्मसायुज्य के स्तर पर 'ज्योति से आ-वृत स्वर्-ग' कहा गया है।[४२] पूर्वोक्त ऋक् में इस पृथिवी को वह भूमि माना गया है जो उत्तम राष्ट्र में तेज और बल का आधान करने में समर्थ है। इसकी तुलना आधुनिकतम मनोविज्ञान की अतिवैयक्तिक चेतना से की जा सकती है।[४३] पर क्या देशी-विदेशी वैदिक विद्वान् भूमि की इस व्याख्या को उस समय स्वीकार करते?

● वैदिक मंत्रों की व्याख्या दयानन्द और अरविन्द से पूर्व दो प्रकार से होती थी। एक ओर तो स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेंकट माधव, सायण, आदि भारतीय भाष्यकारों की यज्ञपरक, परंपरागत व्याख्या थी। दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानों का शाब्दिक अनुवाद था। ये पाश्चात्य विद्वान् वेदों को प्राचीन, आदिम मानव की कृतियाँ मानकर, उन्हें या तो प्रकृति-पूजक आर्यों द्वारा रचित सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, आदि की स्तुतियों का संग्रह बताते थे अथ वा उन्हें जादू-टोना, वशीकरण, उच्चाटन, मारण, आदि अंधविश्वासपरक, निम्न कोटि के विचारों का संकलन समझते थे। योरोप के विद्वानों का यह मत एक दृष्टि से, उनकी साम्राज्यवादी अहंमन्यता से प्रेरित कहा जा सकता है। दूसरी ओर, उसे प्राचीन कर्मकांडपरक वेद-व्याख्या से भी पर्याप्त बल मिला था। अत: मेरे बचपन में जब आर्यसमाज द्वारा इस मत की आलोचना होती थी तो उसका प्रहार योरोप के वैदिक भाष्यकारों से कहीं अधिक उव्वट, सायण, महीधर, प्रभृति देशी भाष्यकारों पर होता था। मुझे इस प्रकार के व्याख्यानों में विशेष रस आता था, क्यों कि *सत्यार्थप्रकाश* के अध्ययन से मैं उन दिनों इस पद्धति का जानकार होरहा था। इनमें से कुछ व्याख्यानों ने मुझे

बहुत प्रभावित किया।

एक बार बीसलपुर की आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में शिव शर्मा नामक एक महोपदेशक का व्याख्यान हुआ। वे वेदार्थ विषय पर बोलरहे थे। उन्होंने कुछ मंत्रों को लेकर उव्वट, सायण और महीधर की आलोचना की। फिर उन्होंने दयानंद की अमूल्य देन की बात कही। मेरे हृदय में श्रद्धा उमड़ पड़ी। उस समय मेरी आयु तेरह वर्ष की रही होगी। वक्ता महोदय ने, अपनी ओजस्वी वाणी में, प्राचीन और अर्वाचीन भाष्यकारों की मान्यताओं की निस्सारता और निरर्थकता बतातेहुए, दयानंद के त्याग, वैदुष्य और आर्ष दृष्टि की प्रशंसा की। उन्होंने स्पष्ट किया कि सदियों से उपेक्षित और विस्मृत वेदार्थ को किस प्रकार वे पुनः प्रस्तुत कररहे थे पर दुर्भाग्यवश वे अपने कार्य को अधूरा छोड़कर अ-समय में ही स्वर्ग सिधार गए। जब उन्होंने सजल नेत्रों के साथ दयानंद की मृत्यु से होनेवाली अपार क्षति का उल्लेख किया तो मेरे श्रद्धासिक्त, करुणार्द्र हृदय में एक अभूतपूर्व पीड़ा हुई। साथ ही, मेरे मन में एक बाल-सुलभ संकल्प हुआ कि दयानंद के अधूरे कार्य को मैं पूरा करके रहूंगा।

जब इस संकल्प को मैंने अपने एक सहपाठी के सामने रखा तो उसने मेरी बहुत मज़ाक बनाई। पर इस हास्यास्पद संकल्प से मुझे जीवन में बहुत कुछ मिला। *सत्यार्थप्रकाश* का स्वाध्याय, संध्या, हवन और प्राणायाम उन दिनों मेरे दैनिक कार्यक्रम के अंग बन गए थे। विद्यालय में संस्कृत की व्यवस्था नहीं थी। अतः एक शास्त्री से घर पर संस्कृत पढ़ने का क्रम बनाया। भावी वेदाध्ययन के लोभ से संस्कृत पढ़ने में इतनी अभिरुचि बढ़ी कि हाईस्कूल में विज्ञान और गणित में विशेषता प्राप्त करके भी उन विषयों के प्रलोभन को सर्वथा त्यागकर महाविद्यालय में संस्कृत के अध्ययन को लक्ष्य बनाया। उसकी पूर्ति के लिए हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। अंततो गत्वा वेद विषय में ही विश्वविद्यालय की उच्चतम उपाधि (डी लिट्) को प्राप्त करके वेद के अध्ययन और अध्यापन के लिए सु-अवसर खोजने का अधिकारी बना। अब तक वेद के विद्यार्थी की हैसियत से मुझे जो कुछ प्राप्त हो सका है वह, निस्संदेह, पूर्वोक्त हास्यास्पद संकल्प का एक परोक्ष परिणाम है।

महोपदेशक शिव शर्मा के व्याख्यान से प्रेरित इस संकल्प को विशेष बल देनेवाला एक अन्य ओजस्वी भाषण था जो मैंने हाईस्कूल का छात्र होकर पीलीभीत के आर्यसमाज में सुना था। वक्ता थे बाबा सुमेरसिंह। वे वैशाख-ज्येष्ठ की गर्मी में भी काला कंबल ओढ़ेहुए बोलरहे थे। उन्होंने अपने भाषण में गुरु नानक देव की

वाणी में से निम्न उक्ति की व्याख्या की थी जो मुझे बेहद पसंद आई थी,

चारिहुं वेद होई उजिआर।
पढ़हि गुनहि तिनु चारि विचार।

व्याख्या में अन्य अनेक रुचिकर प्रसंगों के साथ जो एक बात मुझे सर्वाधिक भाई वह यह थी कि वेद निश्चित रूप से चार हैं यद्यपि एक दृष्टि से उन्हें तीन भी माना जाता है, कि वे चारों वेद उजाला उसी को दे सकते हैं जो उन्हें पढ़ता ही नहीं अपि तु गुनता भी है, और वह भी इस बात का विचार करतेहुए कि वेद क्यों चार होतेहुए भी तीन ही माने जाते रहे हैं।

वेद की अटपटी बातें : तीन वेदों के साथ चार वेदों की संगति बिठाने के लिए, उस विद्वान् वक्ता ने जो कुछ कहा उसमें मेरी विशेष रुचि नहीं थी। इस तरह की तर्कसंगत व्याख्याएं तो परंपरा से चली आरही हैं। उन्हें मैं बाद में भी प्रायः सुनता रहा हूं। मुझे तो यही रुचा कि चार को ही तीन भी कहा जा सकता है। इस प्रकार का बेतुकापन मैं पूर्वोक्त पौराणिक आख्यानों में बचपन से ही सुनता आरहा हूं। संभवतः इसी लिए मुझे वे सब प्रसंग रहस्यमय प्रतीत होते हैं जिन्हें प्रायः गपोड़ा कहकर छोड़ दिया जाता है अथ वा बेसिर-पैर की बात कहकर तिरस्कृत किया जाता है। हो सकता है कि इसका मूल कारण मेरा दब्बू और संकोची स्वभाव रहा हो जो मुझे दूसरों से पूछने के स्थान पर अपनी शंका का समाधान स्वयं ही पाने की प्रेरणा देतारहा है। यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में सेवारत होने पर, मुझमें प्रगल्भता और वाग्मिता भी आई पर वह आवश्यकतावश, अभ्याससिद्ध और कृत्रिम थी, न कि नैसर्गिक। स्वभावतः चुप रहने के लिए ही, छात्रजीवन में मुझ पर कई बार लताड़ भी पड़ी। विश्वविद्यालय में, एक इंग्लिश-प्रोफ़ेसर से जब मेरे सहपाठी प्रश्नों की झड़ी लगाते थे तो आगे की सीट पर बैठतेहुए भी मैं चुप रहता था। इसको लक्ष्य करके प्रोफ़ेसर ने मुझसे कहा था कि तुम या तो सर्वज्ञ हो या सर्वथा मंदबुद्धि। दूसरे प्रोफ़ेसर ने कहा, अगर जीवन में सफलता चाहते हो तो मेरा यह गुरु मंत्र याद रखो, *घी खाओ शक्कर से, दुनिया ठगो मक्कर से।*

: ३ : वेद की अन्तःसाक्षी की उपयोगिता

कुछ भी हो, मेरे इस स्वभाव ने मुझे वेद-पुराण की अटपटी बातों में रहस्य खोजने के लिए और बाहर की अपेक्षा अंदर झांकने के लिए अधिक प्रेरित किया है। दूसरों की त्रुटियों का विज्ञापन करने के स्थान पर उनसे सीखने की रुचि जागरित की है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष को सराहने की वृत्ति पैदा की है। अपने दब्बूपन का

यह लाभ भली भांति तब प्रकट हुआ जब विश्वविद्यालय में विधिवत् वेदाध्ययन का अवसर आया, यास्कीय *निरुक्त* और शौनक-कृत *बृहद्देवता* को देखने का अवसर मिला; संहिताओं, *ब्राह्मणों,* आरण्यकों और उपनिषदों का परिचय कराया गया और वेदव्याख्या की प्राचीन और अर्वाचीन पद्धतियों का किं चित् दिग्दर्शन कराया गया।

सौभाग्य से, प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् एस. के. बेल्वेल्कर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वविद के मंत्रों और *ब्राह्मणों,* उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों, आदि के अध्ययन का अनूठा अवसर मिला। वे अंगरेज़ी के अतिरिक्त जर्मन और फ्रेंच भाषाओं के ज्ञाता थे। अत: वे प्राय: सब विदेशी विद्वानों के भाष्यों की तुलनात्मक दृष्टि देतेहुए बहुधा सायण के भाष्य की आलोचना किया करते थे।

ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल का अध्ययन करतेहुए, एक बार अपने स्वभाव के विपरीत मैं गुरुदेव से एक प्रश्न कर बैठा कि मंडल के तीसरे सूक्त के अंतिम मंत्र में *निण्या वचांसि* और *नि-वचना काव्यानि,* ये दो उक्तियाँ स्पष्ट संकेत देती हैं कि इस पूरे सूक्त में कुछ अत्यंत गुह्य तत्त्वों को अभिव्यक्ति दी गई है पर कक्षा में उसकी जो भी व्याख्या की गई थी उससे ऐसा कुछ भी ध्वनित नहीं होरहा था। मेरी शंका को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने स्पष्ट कहा कि जो भी अर्थ अभी तक किया गया है वह मैंने तुम्हें बताया है। यदि तुम यहां सचमुच *निण्या वचांसि* और *नि-वचना काव्यानि* की खोज कर सको तो तुम्हें भी मैं यास्क के साक्षात्कृत-धर्मा ऋषियों की कोटि में रखूंगा। जब मैंने उनसे कहा कि शयद दयानंद के भाष्य इस कार्य में सहायक हों, तो वे बोले कि 'वह तो अवैज्ञानिक और अविश्वसनीय है। पर फिर भी तुम उसकी सहायता ले सकते हो। संभव है, तुम मेरे विचारों को बदल दो। *शिष्याद् इच्छेत् परा-जयम्।*'

इसके बाद उस उदारमना प्रोफ़ेसर ने प्रश्न करने के लिए सदैव मुझे प्रोत्साहित किया, यद्यपि अपने सहपाठियों के विरोध के कारण मैं अपनी शंका रखने का बहुत कम दुस्साहस करता था। सहपाठियों का कथन भी ठीक था कि इस प्रकार के प्रश्नोत्तर का परीक्षा की दृष्टि से कोई लाभ होनेवाला नहीं था। फिर भी ऐसे कई स्थल थे जहाँ मैं चुप न रह सका। इन स्थलों में सूक्त अठारह, छब्बीस, सत्ताईस और अठ्ठावन के अतिरिक्त, ऋभुओं के सारे सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सबमें ऐसी अटपटी बातें थीं जिनसे मुझे किन्हीं *निण्या वचांसि* की झलक मिलती थी। यहां पाश्चात्यों का शब्दानुवाद बिलकुल असंगत, असंबद्ध और बे-सिर-पैर का लगता था। इस दिशा में दयानंद की *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* से मुझे विशेष बल मिला।

● इन्हीं दिनों मेरे हाथ एक पुस्तक लगी जिसमें दयानन्द को दी गई श्रद्धांजलियों का संकलन था। इसमें अरविंद की श्रद्धांजलि ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। वस्तुत: वह श्रद्धांजलि उनके एक बड़े लेख का अंश था जो उन्होंने दयानंद के कार्य का मूल्यांकन करतेहुए लिखा था। अरविंद कहते हैं कि 'वेदव्याख्या के विषय में मेरा पूर्ण विश्वास है कि अंतिम और पूर्ण व्याख्या कुछ भी हो पर *दयानंद को, सच्ची दिशा का बोध करानेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति के रूप में संमान दिया जाएगा। प्राचीन अज्ञान के भ्रमजाल और युगों युगों की मिथ्या धारणा के बीच, दयानंद की ही वह प्रत्यक्ष दृष्टि थी जिसने सारे अंधकार को चीरतेहुए उसको पकड़ लिया जो सार पदार्थ था।* उन्होंने उस द्वार की कुंजी ढूंढ ली जिसे काल ने बंद कर दिया था, और उन्होंने उसके भीतर ज्ञान-विज्ञान के जो उत्स बन्द थे उनकी सीलबंदी को तोड़ दिया।' इस कुंजी के विषय में वे कहते हैं कि 'वेद की किसी भी व्याख्या की प्रामाणिकता अथ वा अप्रामाणिकता इस पर निर्भर है कि उसके अनुसार वैदिक धर्म की आधारभूत कल्पना क्या उभरती है और उस कल्पना के लिए स्वयं वेद से कितना अंत:साक्ष्य मिलता है। इस संदर्भ में दयानंद का मत बिलकुल स्पष्ट है और उसका आधार अभेद्य है। वेदमंत्र एक ही देव के लिए उसके विभिन्न नामों से गाए जाते हैं और इन सब नामों का उपयोग उसी एक देव के गुणों और शक्तियों को व्यक्त करने के लिए होता है और इसी लिए इन नामों की रचना हुई है। क्या यह दृष्टि दयानंद की निजी, भ्रमितबुद्धिजन्य कल्पना से निकले अंहकार की मनगढ़ंत है? नहीं, बिलकुल नहीं, वह स्वयं वेद की स्पष्टोक्ति है। *एकं सद् विप्रा:* का उद्घोष करनेवाले कोई मूर्ख नहीं (ध्यान रहे) अपि तु *विप्र*, अर्थात्, ज्ञानवान् ऋषि लोग थे। वे उस एक ही सत् को *इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा,* आदि अनेक नामों से, अनेक-विध कहते हैं।'

अरविंद इस कुंजी का उल्लेख करतेहुए आगे कहते हैं, 'बस, तुरंत ही वेद की संपूर्ण प्रकृति उसी रूप में निश्चित हो जाती है जिस रूप में दयानन्द ने माना है। सायण की केवल याज्ञिक, पुराकथात्मक और बहुदेववादी व्याख्या धराशायी हो जाती है। केवल नक्षत्रशास्त्रीय और प्रकृतिदेवमूलक योरोपियन व्याख्या भी आधारहीन हो जाती है। इसके स्थान पर हम एक वास्तविक धर्मग्रंथ के दर्शन करते हैं–विश्व के पवित्र धर्मग्रंथों में से एक और सर्वोच्च और सर्वतोभद्र धर्म की दिव्य वाणी।' आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों और प्राचीन याज्ञिक भाष्यकारों के विषय में वे फिर कहते हैं कि 'वेदमंत्रों के मनोवैज्ञानिक और नैतिक मूल्य का दोनों ने भिन्न भिन्न मात्राओं में अपकर्ष अवश्य किया है। पश्चिमी विद्वान् तो अपकर्ष इस कारण

करते हैं कि जब कभी उन्हें इन तथाकथित आदिमकालिक अभिव्यक्तियों में ऐसे विचार मिल जाते हैं जो आदिम नहीं हो सकते तो उन्हें हैरानी होती है। किन्हीं किन्हीं मंत्रों के ऐसे व्याख्यानों को भी वे खुल्लमखुल्ला छोड़ देते हैं जो उनकी ही भाषावैज्ञानिक और आलोचनात्मक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आवश्यक होते हैं और जिन्हें वे कई अन्य स्थलों पर स्वीकार कर चुके होते हैं, क्यों कि यदि वे उनको हर जगह मान लेते हैं तो उनमें से ऐसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कल्पनाएं उभर आती हैं जो आदिम मानव के मस्तिष्क में आनी संभव नहीं थीं। सायण उसका अपकर्ष इसलिए कर डालता है कि वेदविद्या संबंधी जो सिद्धांत उसने अपनाया था वह, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित आचारधर्म नहीं अपि तु, भौतिक फल की प्राप्ति के लिए संपादित कर्मकांड की यांत्रिक प्रक्रिया पर आधारित सिद्धांत था।'

वेद में विज्ञान के संदर्भ में दयानंद के मत को स्वीकार करतेहुए अरविंद कहते हैं, *'दयानंद की मान्यता है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान के सत्य वेदमंत्रों में खोजे जा सकते हैं। दयानंद के इस विचार में भी कोई बे-सिर-पैर की बात नहीं कि वेद में विज्ञान और धर्म, दोनों का सत्य है। मैं तो इसमें यह अपनी धारणा भी जोड़ूंगा कि वेद में विज्ञान के वे सत्य भी हैं जो आधुनिक जगत् को अभी तक नहीं ज्ञात हो पाए। इस हालत में, दयानंद ने वेद-ज्ञान को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं अपि तु कम करके ही बताया है।'*

अरविंद के इन विचारों को देखकर पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि दयानन्द-भाष्य को अवैज्ञानिक और अविश्वसनीय कहना और योरोपीय वेदभाष्यों को वैज्ञानिक मानना कहां तक ठीक है।

● इस विषय की ओर विशेष ध्यान तब गया जब कक्षा में ऋग्वेदीय चतुर्थ मंडल के छब्बीसवें और सत्ताईसवें सूक्तों का अध्ययन हुआ। इनमें से पहले सूक्त की प्रथम ऋक् में कोई कहरहा है कि 'मैंने गर्भ में रहतेहुए ही खोज की और देवों के जन्मों को जान लिया। सौ आयसी पुर मेरी रक्षा कररहे थे। तभी मैं श्येन-वेग के साथ बाहर उड़ चला।' दूसरा सूक्त इस कथन के साथ आरंभ होता है, 'मैं मनु हो गया और सूर्य भी; मैं ही कक्षीवान् ऋषि विप्र हूं; मैं ही कुत्स आर्जुनेय को सम्यक् प्रकार से प्रसाधित करता हूं; मैं ही उशना कवि हूं; मुझे सब लोग देखो।' गुरु जी का कहना था कि इन दोनों सूक्तों में जो आत्मप्रशंसा करता है वही गर्भस्थ होकर संभवत: अठारहवें सूक्त में भी उत्तम पुरुष में बोलता है। यहां पहले कोई किसी प्रवृद्ध गर्भ से कहता है कि 'यह परंपरा-प्राप्त पुराना मार्ग है जिससे विश्व देव उत्पन्न हुए हैं। प्रवृद्ध हुए, तुम भी इसी से पैदा हो जाओ; अपनी माता के पतन

(मरण) का कारण मत बनो।' इसके उत्तर में गर्भस्थ शिशु कहता है, 'मैं इससे नहीं निकलूंगा, यह दुर्ग्राह्य *(दुर्-गहा)* है। मैं तो तिरछे पार्श्व से निकलूंगा; मुझे तो अनेक अ-कृत कर्म करने हैं–किसी से युद्ध करना है और किसी से पूछ-ताछ करनी है।'

उपर्युक्त तीनों सूक्तों में और भी बहुत सी अटपटी बातें हैं। पर जो बातें तीनों में समान रूप से चर्चित हैं वे हैं, *गर्भस्थ वक्ता* जो बाहर आता है, *श्येन* जो सोम को लाता है और *सोम* जो किसी के लिए लाया जाता है। लुडविग, राटॅ और हिलेब्राँ गर्भस्थ वक्ता को सोम मानते हैं। ग्रासमन का कहना है कि सोम ही श्येन-रूप में बाहर जाता है। ए. कून के अनुसार श्येन स्वयं इंद्र है। पिशेल की दृष्टि में, सत्ताईसवें सूक्त में इंद्र, श्येन और सोम का संवाद है, और उसके आदिम मंत्र में, बोलनेवाला स्वयं श्येन है, कोई अन्य नहीं। इस विवाद का प्रेरक वस्तुतः *सर्वानुक्रमणी*-कार है। उसकी मान्यता है कि ऋग्वेद ४.२७ सूक्त के तीन मंत्रों में या तो वामदेव ऋषि अपने को इंद्र मानताहुआ प्रशंसा करता है अथ वा स्वयं इंद्र अपनी प्रशंसा करता है या फिर उसमें श्येन की स्तुति है। *सर्वानुक्रमणी* तक आते आते संभवतः *ऐतरेय आरण्यक*[४४] और *बृहदारण्यक*[४५] में सुरक्षित वह परंपरा भुलाई जा चुकी थी जिसके अनुसार गर्भस्थ वक्ता स्वयं वामदेव है जो, न केवल अग्नि, इंद्र, सोम, मित्र, वरुण, पूषा, आदि देवों के रूप में प्रकट होने वाले अपि तु मरुतों, विश्व देवों, आदित्यों, रुद्रों और वसुओं के गणों के रूप में भी प्रकट होनेवाले ब्रह्म को अपने में ही देखता है। *सर्वानुक्रमणी*[४६] और *निरुक्त*[४७] ही नहीं अपि तु प्राचीनतर वैदिक साहित्य[४८] भी आत्मा को ही एकमात्र देवता और अन्यों को उसी के अंग-प्रत्यंग अथ वा विभूतियाँ मानकर भी इसका समर्थन करते हैं।

मेरे इस प्रकार के निवेदन से गुरु जी बहुत प्रसन्न थे। पर उनका कहना था कि यदि इन सूक्तों के वक्ता को वामदेव माना जाए तो पूरे ही चतुर्थ मंडल की व्याख्या इसी दृष्टि से करनी होगी, क्यों कि *यस्य वाक्यं स ऋषिः* के अनुसार वामदेव तो मंडल के सब सूक्तों का वक्ता है। ऐसी स्थिति में, जिन देवताओं की वहां स्तुति की गई है वे वामदेव के रूपांतर-मात्र सिद्ध होंगे। और तब यह भी सोचना पड़ेगा कि कहीं यह वामदेव ऋषि वेद का वही *वाम*[४९] तत्त्व तो नहीं है जिसे बूढ़ा *(पलित) होता* कहा गया है और, जिसके दो रहस्यमय भ्राताओं का उल्लेख करके, जिसे *विश्-पति सप्त-पुत्र* कहकर याद किया गया है। साथ ही गुरु देव ने *तांड्य*[५०] *ब्राह्मण* के उस वाक्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जिसमें गौ, अश्व, पुरुष, आदि में से प्रत्येक *वाम* नाम से प्रशंसनीय होता है क्यों कि ये सब उसी

प्राण-प्रजापति'[११] की प्रजाएं हैं जिसे वामदेव कहा जाता है।

यही प्रसंग किं चित् नए रूप में तब उठा जब *ऋग्वेद* के चतुर्थ मंडल के अट्ठावनवें सूक्त की व्याख्या की जारही थी। उसकी पहली ऋक् में समुद्र से एक *मधुमान् ऊर्मि* को उठताहुआ बताया गया है। उस ऊर्मि को सूक्त के अंतिम मंत्र में उल्लिखित हृदय-समुद्र भी माना जा सकता है। यह देखते हुए, मैंने प्रश्न किया कि 'क्या इस मधुमान् ऊर्मि को आनंदलहरी अथ वा ब्रह्मानंदलहरी कह सकते हैं?' मेरे प्रश्न पर सब सहपाठी हंस पड़े। पर गुरु जी ने सबको शांत करतेहुए कहा, 'एक बात और। यह सूक्त वामदेव के चतुर्थ मंडल का निचोड़ है। मुझे याद आता है वह *वामदेव्यं* (साम) जिसे अन्यत्र देवों का मधु'[१२] अथ वा *आत्मा--अंतरिक्षम्*'[१३] कहकर याद किया जाता है। प्रस्तुत अट्ठावनवें सूक्त की प्रथम ऋक् में इसे *घृत का गुह्य नाम, देवों की जिह्वा* और *अमृत की नाभि* कहकर, अगली द्वितीय ऋक् में उस घृत का नाम *चतुःशृंग गौर* बताया गया है। यही तीसरी ऋक् का वह *त्रि-धा बद्ध वृषभ* है जिसके चार सींग, तीन पैर, दो शिर और सात हाथ हैं। *मर्त्यों में प्रविष्ट महादेव* कहा गया है।'

इस विचित्र वृषभ की व्याख्या प्राचीन परंपरा में कई प्रकार से की गई है। अतः प्रसंगोपात्त ऋक् की अग्नि, सूर्य, आदि पांच देवताएं हैं। स्वयं सायण ने स्वीकार किया है कि इन देवताओं को लक्ष्य करके इस मंत्र का व्याख्यान पांच प्रकार से संभव है। पर सायण ने *निरुक्त,* आदि की नीति का अनुसरण करके ऋक् को केवल यज्ञ के, अग्नि के और सूर्य के पक्ष में ग्रहण किया है, और संकेत किया है कि शाब्दिक संप्रदाय इस ऋक् में शब्दब्रह्म का वर्णन पाता है। बेल्वेल्कर ने जिन पाश्चात्य विद्वानों के मतों का उल्लेख किया वे सब एक दूसरे से भिन्न होतेहुए भी इस बात में एकमत थे कि न केवल यह ऋक् अपि तु यह पूरा सूक्त रहस्यात्मक है और इसके शब्दानुवाद से कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता है। अतः प्रोफ़ेसर महोदय ने हमें प्रेरित किया कि हम नये-पुराने भाष्यों की जानकारी प्राप्त करके पूरे सूक्त का विश्लेषण स्वयं करें और देखें कि इसके सब मंत्रों में से कोई सुसंगत अर्थ निकलता है या नहीं।

तदनुसार हमने देखा कि जिस घृत के नाम को प्रथम ऋक् में *मधुमान् उर्मि,* दूसरे में *चतुःशृंग गौर* और तीसरे में *त्रिधा बद्ध वृषभ,* आदि रूपों में प्रस्तुत किया गया है वही चतुर्थ ऋक् में *त्रिधा हित घृत* है और पंचम ऋक् में *हृद्य समुद्र से निकलनेवाली घृत की धाराएं* है, और उनके मध्य में एक *हिरण्य वेतस* देखा जा सकता है। छठी ऋक् में उन धाराओं को घृत की ऊर्मियां कहा गया है और उनके

लिए प्रयुक्त विशेषण-वाक्यांश, *हृद् द्वारा, मन द्वारा अन्दर पवित्र होनेवाले,* उन ऊर्मियों की आन्तरिकता का संकेत देरहा है। पुनः सातवीं से लेकर दसवीं तक प्रत्येक ऋक् में घृत की धाराओं का ही बार बार भिन्न भिन्न ढंग से उल्लेख प्राप्त होता है। उपसंहार (दसवीं ऋक्) में *इमं यज्ञं नयत देवता नो, घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते* कहकर जहां प्रथम ऋक् के 'मधुमान् ऊर्मि'='घृत का नाम' समीकरण की याद ताज़ी की गई है वहां पूरे सूक्त को किसी रहस्यमय यज्ञ से भी जोड़ दिया है।

जब प्रोफ़ेसर महोदय से घृत की मधुमती धाराओं और तत्संबंधित उक्त यज्ञ के आन्तरिक होने के विषय में प्रश्न किया गया तो उनका कहना था कि वेदमंत्रों का गंभीर अध्ययन करो और आन्तरिकता के लिए अध्यात्मवादियों से पूछो।

● यही प्रश्न दूसरे ढंग से एक अन्य अवसर पर फिर उपस्थित हुआ। ऋग्वेदीय चतुर्थ मंडल में पांच सूक्त (संख्या ३३ से ३७ तक) ऋभु नामक देवताओं के हैं। इन सूक्तों को पढ़ातेहुए, गुरु जी ने हमारा ध्यान ३७.१ ऋक् की ओर आकर्षित किया। वहां ऋभुओं से प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार वे मानुषी प्रजाओं के बीच होनेवाले यज्ञ को धारण करें उस प्रकार वे देवयान पथों द्वारा अध्वर में भी पहुंचें। अगली ऋक् में *घृत से सनेहुए यज्ञों* का उल्लेख है। उनके विषय में ऋभुओं से प्रार्थना की गई है कि वे आज तुम्हारे हृदय *(हृद्)* और मन के लिए हों। इस प्रकार एक तो, यहां *यज्ञ* और *अध्वर* नाम से दो भिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। दूसरे, *घृत-सने यज्ञों* की कल्पना में पूर्वोक्त *घृत की धाराओं* का संबंध भी ऐसे यज्ञों से बैठ जाता है जो हृदय और मन जैसे आन्तरिक परिप्रेक्ष्य से जुड़ते प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ५८.१ ऋक् में *घृत के नाम* को *अमृत की नाभि* और *अमृतत्व प्राप्त करनेवाला* कहा गया उसी प्रकार ऋभु भी अमृत के पथ से जुड़ेहुए हैं[५४] और अपनी कार्यकुशलता से अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।[५५] क्या ऋभु ऐसी शक्तियों के द्योतक हो सकते हैं जिन्हें घृत की धाराएं भी कहा जा सके? जब ऋभुओं की सहायता से व्यक्ति के ऋषि, शूर, वीर, आदि होने की बात कही जाती है[५६] तो क्या यह किन्हीं आध्यात्मिक शक्तियों के साथ उनका तादात्म्य होने का संकेत नहीं है?

ऋभु-विषयक शोध-प्रबंध : मेरे साथियों ने मेरे प्रश्नों को हास्यास्पद माना। पर अपनी स्वाभाविक गंभीरता के साथ, प्रोफ़ेसर ने मुझे प्रेरित किया कि मैं अपनी परीक्षा के लिए अष्टम प्रश्नपत्र के विकल्प में ऋभुओं पर एक लघु निबंध लिखूं।

मुझे यह सुझाव बहुत अच्छा लगा और मैंने उसके लिए यत्न आरंभ कर दिए। ऋभु-सूक्तों में छह तो हमारे पाठ्यक्रम में ही थे। इनके अतिरिक्त पांच अन्य पूरे सूक्त थे और उनके कुछ उल्लेख अन्य देवताओं के साथ थे। जर्मन और फ़्रेंच में ऋभुओं पर दो शोध-प्रबंध लिखे जा चुके थे पर उनमें ऋभु-सूक्तों के शब्दानुवाद पर आश्रित टिप्पणियों का संकलन-मात्र था। बेल्वेल्कर की प्रेरणा से, मैंने विज्ञान के छात्रों के साथ जर्मन और फ़्रेंच को सीखना पहले ही आरंभ कर दिया था। अतः शब्दकोशों की सहायता से मैं उक्त दोनों भाषाओं की पुस्तकों को पढ़ने लगा था। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन पुस्तकों में ऋभु, विभ्वा, वाज और उनके आश्चर्यजनक कारनामों का रहस्य जानने का कुछ भी यत्न नहीं किया गया था।

जब मैंने यह तथ्य अपने प्रोफ़ेसर के सामने रखा तो उनका संक्षिप्त उत्तर था, अच्छा होगा कि तुम स्वयं कुछ करके दिखाओ। दूसरों के छिद्रान्वेषण के लिए, यह एक अच्छी लताड़ थी। मैं लज्जित था। मैंने तुरंत अधिकाधिक समय ऋभु-संबंधी शोध-प्रबंध के लिए देना आरंभ किया। लगभग एक वर्ष में करीब पांच सौ पृष्ठ लिख डाले। इस बीच में, शोध-प्रबंध के संबंध में मैं डाक्टर साहब से एक ही बार परामर्श के लिए मिला था। बात यह थी कि मैंने तिलक का *गीता-रहस्य* पढ़ा था। उसके आलोक में, अपनी कार्यदक्षता और क्रियाशीलता द्वारा मर्त्य से अमृत होनेवाले ऋभु मुझे एक आदर्श कर्मयोगी की शक्तियां प्रतीत हुए। साथ ही, उसी लेखक के *आर्कटिक होम इन द वेदज़* और *ओरायन* पढ़कर ऐसा लगा कि ऋभुओं को उत्तरी ध्रुव की त्रिविध प्रकाशकिरणें मानकर, उनके अनेक कार्यों की व्याख्या की जा सकती है। अपने प्रोफ़ेसर से मैं यह जानना चाहता था कि तिलक के मत को वैदिक विद्वानों की मान्यता मिल चुकी है या नहीं। उनका संक्षिप्त उत्तर था, 'यदि उसके पक्ष में तुम कोई सबल तर्क दे सकते हो तो समझ लो कि विद्वान् अवश्य स्वीकार करेंगे। आगे बढ़ते रहो।'

: ४ : आध्यात्मिक वेदार्थ की प्रच्छन्न धारा

योरोप में जन्मे वैदिक ऋषि और भारतीय परंपरा : इस शोधप्रबंध पर जितना परिश्रम और समय लगा वह व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित था। प्रथम तो, सौ अंकों वाले प्रश्नपत्र के विकल्प में, अन्य प्रश्नपत्रों की उपेक्षा करके, इसमें ही लगना मूर्खता थी। इससे भी अधिक भीषण बात तब उजागर हुई जब इलाहाबाद के प्रोफ़ेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय से बटुकनाथ शर्मा के घर पर संयोगवश भेंट हुई।

मेरा शोध-प्रबंध मूल्यांकन के लिए उनके पास गया था और उसमें मुझे बहुत कम अंक मिले थे। परिचय होते ही उन्होंने सर्वप्रथम तो इस बात पर दु:ख प्रकट किया कि सौ अंकों के लिए मुझसे इतना अधिक परिश्रम कराया गया। फिर वे इस बात पर क्रुद्ध हुए कि मैंने योरोप के जाने-माने वैदिक विद्वानों की खुलकर आलोचना की थी और भावुकतावश दयानंद और तिलक को इतना महत्त्व प्रदान किया था। इसी बीच उन्होंने विधुशेखर भट्टाचार्य के मत को उद्धृत किया कि योरोप के वैदिक विद्वान् तो वैदिक ऋषि ही हैं जिन्होंने अब पश्चिम में जन्म लिया है। वे निराश थे कि मैंने योरोपियन और भारतीय *माइथॉलाज़ी* का इतना गहन अध्ययन करके भी, भावावेश में पड़कर, पाश्चात्य विद्वानों का सही मूल्यांकन नहीं किया और न इस बात का ध्यान रखा कि मेरी इस दृष्टि से कोई भी आधुनिक दृष्टि वाला परीक्षक सहमत नहीं हो सकता।

मैं चुपचाप उनके लंबे व्याख्यान को सुनतारहा। अंत में शायद उन्हें मुझ पर दया आ गई। अत: चलते चलते उन्होंने मुझे इलाहाबाद आने और कुछ दिन उनके साथ विचार-विनिमय करने के लिए आमंत्रित किया। साथ ही उन्होंने मुझे बताया कि जर्मनी के म्यूनिच विश्वविद्यालय से कुछ भारतीय शोध-छात्रों की मांग आई है और वे छात्रवृत्ति के लिए मेरा नाम भेज सकते हैं। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और शीघ्र ही इलाहाबाद आने का वचन दिया। उनके चले जाने पर, बटुकनाथ शर्मा ने मुझे सांत्वना दी और एक छोटी-सी अंगरेज़ी पुस्तक पढ़ने को दी। उसके लेखक थे आनंद के. कुमारस्वामी जो बोस्टन (अमेरिका) के सुप्रसिद्ध म्यूज़ियम के क्यूरेटर थे। उनकी पुस्तक का नाम था *ए न्यू एप्रोच टू द वेदज़*। इस पुस्तक की भूमिका पर सरसरी दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो गया कि उन्होंने यह पुस्तक मुझे क्यों दी।

आरंभ में ही लेखक ने लिखा था कि 'योरोपियन भाषाओं में उपलब्ध वैदिक ग्रंथों के वर्तमान अनुवाद निर्वचनशास्त्र और तुलनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से कितने ही उत्कृष्ट और युक्तियुक्त क्यों न हों पर वे प्राय: अ-बोधगम्य और अविश्वसनीय होते हैं। कभी कभी तो अनुवादक स्वयं ही इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि उन्होंने वेदमंत्रों का जो शाब्दिक अनुवाद किया है उससे यह नहीं समझ पड़ता कि मूल लेखक वास्तव में कहना क्या चाहता था?' आनंद के. कुमारस्वामी की प्रमुख मान्यता थी कि वैदिक तत्त्वज्ञान को जाने बिना वैदिक ग्रंथों का अनुवाद या व्याख्यान असंभव है। उनकी शिकायत थी कि आधुनिक विद्वानों ने प्राचीन परंपरा का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा। उनको आश्चर्य था कि इन विद्वानों में से कई

ने, जानकारी होतेहुए भी अपनी प्राचीन क्रिश्चियन परंपरा के आलोक में भी वैदिक ग्रंथों को देखने का प्रयास नहीं किया। उनका कहना था कि यदि वे ऐसा ही कर लेते तो भी उन्हें वेद की अनेक बातें स्पष्ट हो जातीं और वे वेदों के विषय में वैसी लचर बातें नहीं कहते जैसी कि उन्होंने प्राय: कही हैं। आनंद के. कुमारस्वामी ने अपनी इस मान्यता को प्रमाणित करने के लिए कुछ वैदिक सूक्तों और उपनिषदों के अंशों का अंगरेज़ी अनुवाद देतेहुए, वैदिक और प्राचीन ईसाई परंपराओं की तुलनात्मक दृष्टि को अपनी विस्तृत टिप्पणियों में प्रस्तुत किया है।

इस सबको पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। संभवत: इस पुस्तक के प्रभाव को ही और दृढ़ करने के लिए बटुकनाथ शर्मा ने अपने निजी पुस्तकालय से फ्रेंच मनीषी, रेने ग्वेनाँ की कई पुस्तकों के अंगरेज़ी अनुवाद पढ़ने को दिए। इस विद्वान् का निश्चित मत था कि मानवजाति की एक ही सार्वभौम और समान परंपरा है। वह आज भी भारतवर्ष के प्राचीन संस्कृत-साहित्य में भली भांति सुरक्षित है। उसकी यह भी मान्यता थी कि इस परंपरा से पाश्चात्य सभ्यताएं बहुत दूर जा चुकी हैं। पर यदि मानवजाति को सर्वनाश से बचाना है तो सबको उस सार्वभौम और समान परंपरा से जुड़ना पड़ेगा। रेने ग्वेनाँ ने लगभग चालीस-पचास पुस्तकें फ्रेंच में लिखी हैं। उनमें से अधिकांश में इसी दृष्टि की झलक मिलती है। अत: फ्रांस के ईसाई मिशनरियों ने कहना शुरू किया था कि रेने ग्वेनाँ हिंदुओं का एजेंट है और ईसाइयों का धर्मपरिवर्तन चाहता है। यह प्रचार इतना बढ़ा कि उस मनीषी को स्वदेश छोड़कर अपने जीवन के अंतिम बीस वर्ष मिस्र में बिताने पड़े।

आनंद के. कुमारस्वामी की तरह रेने ग्वेनाँ भी वेद के समुचित अध्ययन के लिए वैदिक तत्त्वज्ञान को अपरिहार्य समझता था और योरोपियन विद्वानों की ऐतिहासिक पद्धति को सर्वथा अनुपयुक्त मानता था। उसका कहना था कि ऐतिहासिक पद्धति ने जिस प्रकार *बाईबल* और प्राचीन ईसाई परंपरा में पुराना और नया का भेद करके भ्रम फैलाया है उसी प्रकार वह वेदों के अध्ययन में भी कररही है। तदनुसार, उदाहरण के लिए, *ऋग्वेद* के कुछ मंडलों और सूक्तों को बाद का कहा गया और फिर वैदिक तत्त्वज्ञान के मूलाधार की उपेक्षा करके, वेदमंत्रों में प्रकृति- पूजा, जादू-टोना, अभिचार, उच्चाटन, मारण, वशीकरण, आदि का प्रतिपादन किया गया या *अथर्ववेद* का अधिकांश भाग *ऋग्वेद* की अपेक्षा पुराना मान लिया गया।

निस्संदेह यह महत्त्वपूर्ण बात थी। पर ऐतिहासिक पद्धति ने कुछ ऐसे तर्कसंगत मुद्दे भी उठाए थे जिनका कोई उत्तर फिर भी नहीं सूझता था। उदाहरण

के लिए, एर्नाल्ड की छोटी सी पुस्तक *ए हिस्टौरिकल वैदिक ग्रामर* को ले लें। उसका कहना था कि जिन ऋचाओं में *जनासः, देवासः*, जैसे रूप आए हैं वे ऋचाएं उन ऋचाओं की अपेक्षा प्राचीन हैं जिनमें उनके रूपांतर, क्रमशः *जनाः, देवाः* जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार *गन्तुम्*, की अपेक्षा *गन्तवे, गत्वाय, गमध्यै*, आदि रूपों को उसने प्राचीनतर माना है।

फिर भी, रेने ग्वेनाँ का दृष्टिकोण बहुत ही विचारोत्तेजक लगा। उसी के अप्रत्यक्ष प्रभाव से आधुनिक शोध-प्रक्रिया को अपनातेहुए भी मुझमें परंपरा का आदर करने का दृढ़ विचार आया।

वैदिक निर्वचन : इस विचार को मैंने डी लिट् के लिए अपने शोध-प्रबंध की प्रस्तावित रूपरेखा तैयार करने में आधार बनाया। शोध-प्रबंध मूलतः *निरुक्त* और *ब्राह्मणों* में विद्यमान निर्वचनों पर था। विश्वविद्यालय छोड़ने से पहले बेल्वेल्कर ने यह विषय मुझे सुझाया था। रूपरेखा तैयार करने के लिए मैंने जो अध्ययन किया उसमें मुझे *अनिरुक्ता* और *निरुक्ता*, दो प्रकार की वाक् की कल्पना मिली। अतः मैंने निरुक्ता वाक् के अंतर्गत तो निर्वचनों को रखा और अनिरुक्ता वाक् के अंतर्गत वाक् का दार्शनिक पक्ष लेकर रूपरेखा तैयार कर ली। उसमें अनेक आधुनिक वैदिक विद्वानों की कृतियों का उल्लेख करतेहुए संपूर्ण वैदिक वाङ्मय को आधार बनाया गया था। बेल्वेल्कर के चले जाने से बटुकनाथ शर्मा के मार्गदर्शन में रजिस्ट्रेशन कराना था। रूपरेखा को देखते ही वे उछल पड़े और भवभूति का यह श्लोकांश उनके मुख से अनायास ही निकल पड़ा, *वन्देमहि च तां वाचम् अमृताम् आत्मनः कलाम्।* उन्होंने तुरंत अपने मित्र, बलदेव उपाध्याय से कहा, 'यह देखो, एक अद्भुत शोधकार्य होने जारहा है। साहब लोगों की शोध-प्रक्रिया अपनातेहुए, इसके द्वारा परंपरा की भी समुचित रक्षा होगी।' अब शोध का विषय हो गया था 'वाक् के रहस्यों की वैदिक खोज।' इसको अनुमति के लिए विधुशेखर भट्टाचार्य (कलकत्ता), गंगानाथ झा (इलाहाबाद) और गोपीनाथ कविराज (बनारस) के पास भेजा गया था। प्रथम दो ने तो रूपरेखा को ज्यों का त्यों स्वीकार करतेहुए हर्ष प्रकट किया पर तृतीय विद्वान् ने लिख दिया कि वैदिक वाक् की तुलना आगम और पुराणों की वाक् अथ वा देवी से भी की जाए।

यद्यपि इस सुझाव को क्रियान्वित करने में शोधप्रबंध का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया पर अन्ततोगत्वा वह एक ईश्वरीय वर दान सिद्ध हुआ। वेद की बहुत सी ऋचाएं आगम और पुराण के आलोक में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सार्थक और स्पष्ट लगने लगीं। उत्तरी शैवागम, दक्षिणी शैवागम, शाक्तागम और

वैष्णवागम की परंपरा से परिचय हुआ, तो *रामायण* और *महाभारत* में भी चंचुप्रवेश किए बिना नहीं रहा जा सका। ऐसा करने से परवर्ती वाङ्मय के अनेक आख्यानों और विचारों का बीज वैदिक साहित्य में मिल गया और इस उक्ति की सार्थकता सिद्ध होती प्रतीत हुई कि 'इतिहास-पुराण वेद की पुष्टि करते हैं', *इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं सम्-उप-बृंहयेत्।* उदाहरण के लिए, जब *महाभारत* मित्र और वरुण देवों को क्रमश: पुरुष और प्रकृति कहता है और *रामायण* दशमुख में वेद के *दशास्य ब्राह्मण* की छाया उपस्थित करता है अथ वा शैव पुराणों के शिवलिङ्ग में जब *अथर्ववेद के बृहच्छेप का उपबृंहण* और *अहिर्बुध्न्य-संहिता* में वैदिक *अहिर् बुध्न्य* का विस्तार प्रतीत होता है तो, निस्संदेह, भारतीय परंपरा की मौलिक एकता में निहित उस तत्त्वज्ञान की झलक मिलती है जिसका आदि स्रोत वेद है। इस प्रकार, जिन आख्यानों को मैंने किसी समय गपोड़ा समझा था वे अब वेदमंत्रों की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाले प्रतीत हुए। मेरा विचार बनने लगा कि संभवत: अब मैं पाश्चात्य विद्वानों के इस मत का भी खंडन कर सकूंगा कि *ब्राह्मणों* में केवल मूर्खतापूर्ण और बेढंगी कल्पनाओं और दंतकथाओं का जंगल अथ वा यज्ञ-संबंधी उहापोहपरक शब्दजाल का रेगिस्तान है जिसमें कभी कभी ही किसी रोचक प्रसंग का नख़लिस्तान दिखाई पड़ता है।

मेरे इस विचार का परिपाक तब होने लगा जब मैंने वैदिक साहित्य में पाए जानेवाले लगभग दो सहस्र निर्वचनों की तुलना पुराणों और *महाभारत* आदि से प्राप्त शब्द-व्युत्पत्तियों से की, और निम्न लिखित निष्कर्षों पर पहुंचा।

१. ये निर्वचन भाषाविज्ञान की दृष्टि से ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं अपि तु वैदिक मंत्रों की व्याख्या में भी इनसे बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। इसलिए मॅक्डॉनल, कीथ, लैनमॅन, आदि विदेशी विद्वानों द्वारा उन्हें अर्थहीन, मूर्खतापूर्ण अथ वा निरर्थक कल्पना कहना उन विद्वानों की ज्ञान-गरिमा का परिचायक नहीं है।

२. संहिताओं में प्राप्त शब्द-निर्वचनों में सरलता और प्रत्यक्षवादिता पाई जाती है। जिन शब्दों का प्रत्यक्ष निर्वचन यहां मिलता है वे प्राय: भौतिक जगत् से लिए गए प्रतीक-नाम हैं, यथा, *अथर्ववेद* ३.१३ में प्राप्त *नद्य:, आप:, वा:, उदकम्।* कुछ निर्वचन वेदमंत्रों में केवल संकेतित हैं, जैसे, *नचिकेतस्*, ऋ. १०.५१.५, *वि-राज्*, अ. ११.५.१६। कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताओं को छोड़कर अन्यत्र उन पर याज्ञिक कर्मकांड का कोई रंग नहीं होता है।

३. संहिताओं में जहां हम भाषाविज्ञान और शब्दार्थ-विज्ञान को एक अंकुरित बीज

के रूप में देखते हैं वहां *ब्राह्मणों* में वे, पल्लवित, पुष्पित और फलित होतेहुए, महावृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं, क्यों कि *ब्राह्मण* वस्तुत: उन शब्दों, वाक्यांशों और वाक्यों की व्याख्या का ही तो नाम है जिन्हें मनन द्वारा बृहंणशील होने से *ब्रह्म* नाम से ग्रहण करते हैं। *ब्राह्मणों* में हमें एक ऐसी निश्चित प्रक्रिया और शब्दावली के भी दर्शन होते हैं जो वैज्ञानिक विवेचन के लिए समीचीन है। उदाहरण के लिए, *गोपथ ब्राह्मण* में उपलब्ध ओंकार-मीमांसा और निपात, प्रत्यय, धातु, उपसर्ग, आदि शब्दों और *अव्यय* शब्द की परिभाषा को और *ब्राह्मणों* के अन्य अनेक निर्वचनों को ले सकते हैं।

४. मंत्र की पूर्वोक्त बृंहणशीलता के परिणामस्वरूप उसके मूल अभिधापरक अर्थ का निरंतर उत्कर्ष होता जाता है। इसलिए स्तरभेद अथ वा दृष्टिभेद से उसके अर्थ भी बदलते जाते हैं। उदाहरण के लिए, *ब्रह्म* शब्द को ही ले लीजिए। *तैत्तिरीया उपनिषद्* में स्तरभेद से क्रमश: अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनंद ब्रह्मों की कल्पना उभरती है और उससे आगे *सत्यं ज्ञानम् अन्-अन्तं ब्रह्म* की अथ वा पर ब्रह्म की।[५७]

५. ऐसे अर्थोत्कर्ष की अवस्था में, जब किसी शब्द के प्रकृत धातु से काम नहीं चलता है तो नए अर्थ के लिए उस शब्द की नई व्युत्पत्ति खोजी जाती है। यथा, *ओम्* शब्द की व्युत्पत्ति को *अव्* की अपेक्षा *आप्* धातु से अधिक समीचीन मानना और कहना कि *रूप-सामान्याद् अर्थ-सामान्यं नेदीयस्, तस्माद् आपेर् ओङ्कार:, सर्वम् आप्नोतीत्य् अर्थ:* ।[५८]

६. किसी शब्द के प्रत्यक्ष रूप-सामान्य द्वारा किसी अन्य अर्थ को भी व्यक्त करना हो तो इस नए अर्थ को परोक्ष अर्थ माना जाता है। निर्वचन को रोचक बनाने के लिए किसी आख्यान को गढ़कर कहा जाता है कि 'यह परोक्ष अर्थ इसी शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है क्यों कि देव परोक्ष के प्रेमी होते हैं और प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं।' उदाहरण के लिए, जब *अश्व* को करुणा का प्रतीक बनाना आवश्यक हुआ, तो उसे प्रजापति के अश्रु का रूपांतर मान लिया गया।[५९]

७. इस प्रकार, वास्तव में *अश्व* पर *अश्रु* शब्द का संश्लेषण (चिपकाना) किया गया। इस तरह का संश्लेषण साहित्यशास्त्र के श्लेष (अलंकार) के लिए उत्तरदायी है। एक शब्द के उपर विभिन्न अर्थों का यही संश्लेषण प्रतीकवाद में पाया जाता है। इस प्रवृत्ति में कुछ भी अस्वाभाविक अथ वा अवैज्ञानिक नहीं है। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत एक शब्द की व्युत्पत्तियां यद्यपि विभिन्न प्रकार से दी जाती हैं पर वास्तव में, विभिन्न अर्थों वाले अनेक शब्दों का पृथक् अस्तित्व मानतेहुए

ऐउ. ३.१४

२) *एतम् इन्धं सन्तम् इन्द्र इत्य् आ-चक्षते परोक्षेण, परोक्ष-प्रिया-इव हि देवाः, प्रत्यक्ष-द्विषः।* शब्रा. १४.६.११.२ (बृउ. ४.२.२-३)

३) इदम् *अदर्शम् इति तस्माद् इदन्द्रो नाम····तं····इन्द्र इत्य् आ-चक्षते परोक्षेण।* ऐआ. २.४.३; ऐउ. १.३.१४

४) *अस्मिन् वा इदम् इन्द्रियं प्रत्य्-अस्थाद् इति, तद् इन्द्रस्य इन्द्रत्वम्।*
तैब्रा. २.२.१०.४

कह सकते हैं कि इन चार निर्वचनों द्वारा अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करनेवाले वस्तुतः चार अलग अलग शब्द हैं जो इन्द्र शब्द से संश्लिष्ट कर दिए गए हैं।

निस्संदेह, जो विद्वान् धातु-प्रत्ययमूलक प्रत्येक व्युत्पत्ति को एकमात्र सत्य समझते हैं और श्लेष और प्रतीकवाद को स्वीकार नहीं करते हैं उनको बहुत से यास्कीय निर्वचन उतने ही अवैज्ञानिक और असंगत प्रतीत होंगे जितने *ब्राह्मण*, आदि प्राचीन ग्रंथों के निर्वचन। पर अपनी इस दृष्टि से वे वेद-व्याख्या की उस मूलभूत पद्धति से सर्वथा अपरिचित रह जाएंगे जो कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं, *ब्राह्मणों*, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, आदि में प्रच्छन्न है। यह पद्धति, निस्संदेह, मंत्रद्रष्टा ऋषियों और उनके शिष्यों ने ही आरंभ की होगी। यह पद्धति सर्वप्रथम, संभवतः, उस प्रकार ऋचाओं और कंडिकाओं के साथ गद्य-रूप में रही होगी जिस प्रकार कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं में आज भी सुरक्षित है। इस पद्धति के अन्तर्गत मंत्रों के पदपाठ और *निघंटु* समाम्नाय को भी रखा जा सकता है। प्रातिशाख्य, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, सांख्यसूत्र, आदि ग्रंथ और उनके परवर्ती इतिहास-पुराण भी इस परंपरा के अंग हैं। पर कालान्तर में, मूलभूत वैदिक प्रतीकवाद के उपेक्षित और विस्मृत हो जाने के कारण और वेदमंत्रों को केवल रटाई का विषय मान लिए जाने के कारण, पूरी परंपरा की अनेक बातों को केवल अंधश्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जाने लगा। यह समझकर, शताब्दियों पश्चात् संभवतः *बृहद्देवता*-कार और *निरुक्त*-कार ने अपने अपने ढंग से वेद की व्याख्या-पद्धति का पुनरुद्धार करने का प्रयास किया। पर यह एक महान् आश्चर्य की बात है कि सायण, आदि भाष्यकारों पर इस प्रयास का वांछित प्रभाव नहीं पड़ा।

परंपरा की उपेक्षा क्यों? : इसका मूल कारण यह था कि भौतिक फल प्रदान करनेवाले यज्ञों का उस समय इतना अधिक बोलबाला था कि उसको नकारनेवाला अथवा, कम से कम, उसके महत्त्व को कम करनेवाला कोई प्रयास तब सफल नहीं हो सकता था। संभवतः इसी लिए वेद की व्याख्या को आध्यात्मिक रूप देनेवाले तत्त्व *निरुक्त* और

बृहद्देवता में प्रच्छन्न-से और उपेक्षित-से रह गए। उदाहरण के लिए, वैदिक एकेश्वरवाद का संकेत देनेवाले निम्न लिखित वाक्य *निरुक्त* से प्रस्तुत हैं।

१. *माहा-भाग्याद् देवताया, एक आत्मा बहु-धा स्तूयते।* ७.४

२. *अथेमा अति-स्तुतय इत्य् आ-चक्षते, अपि वा सम्-प्रत्य्-अय एव स्याद् महाभाग्याद् देवतायाः।* १३.१

३. *सूर्य आत्मा......एतं महान्तम् आत्मानम् एष ऋग्गणः प्र-वदति 'इद्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुर्' इति।* १४.१

४. *अथात्मनो महतः प्रथमं भूत-नामधेयान्य् अनु-क्रमिष्यामः।* १४.१०

५. *अथैतं महान्तम् आत्मानम् एतानि सूक्तान्य्, एता ऋचोनु-प्र-वदन्ति।* १४.११

यही बात *बृहद्देवता* के विषय में भी सत्य है। उदाहरण के लिए निम्न प्रकरण (८.१३८-१४०) उल्लेखनीय है।

ऋषिं च प्रथमं ब्रूयाच्, छन्दस् तु तद्-अनन्तरम्।
देवतानाम् अथ मंत्राणां, कर्मस्व् एवम् इति श्रुतिः॥
आ-धारं वा अन्-आधारं, विविच्यात्मानम् आत्मनि।
ईक्षमाणौ ह्य् उभौ संधिं, ऋचो दैवत-वित् पठेत्॥
स ब्रह्मामृतम् अत्य्-अन्तं, योनिं सद्-असतो ध्रुवम्।
महच् चाणुञ् च विश्वेशं, विशति ज्योतिर् उत्-तमम्॥

यहां इस बात का स्पष्ट संकेत है कि *बृहद्देवता* में जिन अनेक आख्यानों सहित ऋचाओं के ऋषियों, छंदों और देवताओं के उल्लेख किए गए हैं उन सब उल्लेखों का अंतिम लक्ष्य आत्मा में आत्मा का दर्शन करना और उस ब्रह्मामृतस्वरूप विश्वेश में प्रवेश करना है जिसे सत् और असत् की *अत्यंत ध्रुव योनि* और *महान् होतीहुई भी अणु-सूक्ष्म ज्योति* कहा जा सकता है।

वैदिक मंत्रों के एकेश्वरवाद और अध्यात्मवाद के इतने स्पष्ट संकेत भी तब उपेक्षित हो गए थे क्यों कि उस समय जनमानस पर भौतिक फलप्राप्ति के लिए होनेवाले कर्मकांड की महिमा इतनी अधिक छाईहुई थी कि आध्यात्मिक साधना के लिए न तो लोगों के पास समय रह गया था और न उस ओर उनकी रुचि रह गई थी। यह बात सायण के समय तक भी विद्यमान थी। इसलिए *ऋग्वेद* के *अस्यवामीय* सूक्त की प्रथम ऋक् पर आध्यात्मिक भाष्य प्रस्तुत करतेहुए वे कहते हैं कि 'इस प्रकार आगे भी अध्यात्परक अर्थ करना संभव है, पर फिर भी स्वरसत्व के अभाव के कारण और ग्रंथ के विस्तार के भय से वैसा अर्थ नहीं लिखा जारहा है।' कर्मकांड के लिए

थी। यह बात सायण के समय तक भी विद्यमान थी। इसलिए *ऋग्वेद* के *अस्यवामीय* सूक्त की प्रथम ऋक् पर आध्यात्मिक भाष्य प्रस्तुत करतेहुए वे कहते हैं कि 'इस प्रकार आगे भी अध्यात्परक अर्थ करना संभव है, पर फिर भी स्वरसत्व के अभाव के कारण और ग्रंथ के विस्तार के भय से वैसा अर्थ नहीं लिखा जारहा है।' कर्मकांड के लिए प्रत्यक्ष अथ वा अप्रत्यक्ष रूप से *निरुक्त* और *बृहद्देवता* का जो भाग आवश्यक समझा जाता था उसी को इन ग्रंथों की रीति-नीति मानकर, स्वयं को भुलावे में डाले रखा गया। अतः वेद के भाष्यकार उसके आगे जाने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे। इसी दृष्टि से ऋग्वेद ४.५८ की ऋक् ३ पर सायण लिखते हैं, *यद्य् अपि, सूक्तस्याग्नि-सूर्यादि-पंचदेवताकत्वात्, पंचधायं मंत्रो व्य्-आ-ख्येयस् तथापि निरुक्ताद्य्-उक्तनीत्या यज्ञात्मकाग्नेः, सूर्यस्य च प्रकाशकत्वेन, तत्परतया व्याख्यायते।*

: ५ : दैवी प्रेरणा

फिर भी सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि न तो बाल की खाल निकालनेवाले परंपरावादी मीमांसकों को और न तथाकथित वैज्ञानिक व्याख्या करने में अथक-परिश्रमपूर्वक जीवनदानी पाश्चात्य भाष्यकारों की पैनी दृष्टि को इस तथ्य का पता चला। इसके फलस्वरूप मानवजाति को वैदिक तत्त्वज्ञान का वह लाभ अभी तक भी नहीं मिल पाया है जो मनुष्य के व्यक्तित्व और समाज का सुंदर निर्माण करने में निस्संदेह समर्थ है। अतः यह परम पिता परमेश्वर का परम अनुग्रह है कि जहां आनंद के. कुमारस्वामी और रेने ग्वेनाँ जैसे मनीषियों ने पाश्चात्य विद्वानों के परंपरा-विरोध और तत्त्वज्ञान-तिरस्कार को उजागर किया वहां दयानंद के निर्भीक अभियान ने परंपरावादियों को असत् के त्याग और सत् को स्वीकार करने की प्रबल प्रेरणा की। मुझे व्यक्तिगत रूप में इस प्रेरणा से जो आत्मबल मिला उसी के सहारे मैं अपने डी लिट् के शोधप्रबंध में, परंपरा के विस्तृत वनप्रदेश से उस चुनीदा सामग्री का समावेश कर सका जिसकी दैवी प्रेरणा गोपीनाथ कविराज के पूर्वोक्त सुझाव द्वारा प्राप्त हुई थी।

ऐसी दैवी प्रेरणा कविराज के माध्यम से एक बार फिर १९४५-४६ के आस-पास मिली जब मैं डी लिट् होने के पश्चात् उनसे आशीः लेने गया था। उस समय उन्होंने बताया कि वे मेरे परीक्षकों में से एक थे और उन्होंने मेरे शोध-प्रबंध की दृष्टि को अरविंद की दृष्टि से मिलता-जुलता पाया। अरविंद ने दयानंद की प्रशंसा में जो लिखा था उससे मैं बहुत प्रभावित तो हुआ था पर तब तक मैं यह

नहीं जानता था कि उन्होंने वेदमंत्रों की व्याख्या भी की थी। अत: जब कविराज ने उसी दिन अरविंद के कुछ अंगरेज़ी लेखों की एक टंकित प्रति देकर मुझसे उन्हें पढ़ने और तदनुकूल एक शोधयोजना बनाने के लिए कहा तो मैंने उसे पुन: एक भागवत अनुग्रह के रूप में स्वागत-योग्य माना। उन्होंने मुझे यह भी बताया कि पोंडिचेरि-आश्रम से आएहुए कोई सान्याल बाबू एक ऐसे शोध-छात्र की खोज में हैं जो अरविंद की पद्धति पर वेदभाष्य करने की ट्रेनिंग लेने को तैयार हो। अत: उनका कहना था कि मैं स्वनिर्मित शोध-योजना के साथ उक्त सान्याल बाबू से मिलूं और हो सके तो पोंडिचेरि चला जाऊं। अस्तु। कुछ कारणों से, मेरा पोंडिचेरि-आश्रम में प्रवेश तो संभव नहीं हो सका पर इस अवसर से अरविंद की विचार-निधि के संपर्क में मैं अवश्य आ गया।

वेदार्थ में सहायक एक अन्य प्रसंग उल्लेखनीय है। विश्वविद्यालय में जब मैं बी.ए. का छात्र था तब जयपुर के मधुसूदन ओझा का एक संस्कृत-भाषण वेद में विज्ञान विषय पर सुनने को मिला। वे जयपुर के महाराजा के साथ काशी आए थे। हिंदू विश्वविद्यालय के ओरियण्टल कॉलेज में उनके भाषण का आयोजन हुआ था। एक तो, मेरे कान संस्कृत-भाषण सुनने के अभ्यस्त नहीं थे। दूसरे, श्रोताओं में अनेक पंडित थे जो अपने पांडित्यप्रदर्शन के लिए बीच बीच में वेदमंत्रों को उच्च स्वर में बोलने लगते थे। इसलिए, व्याख्यान से मैं जो कुछ समझ सका वह यह था कि वेदों में बहुत ऊंचा विज्ञान है जो आधुनिक वैज्ञानिकों की भी आखें खोल सकता है। दयानंद ने भी वेद में आधुनिक विज्ञान होने की बात कही थी। अत: मैं समझा कि उसी तरह की कोई बात कहते होंगे।

पर कुछ वर्ष पश्चात्, जब मैं कोटा (राजस्थान) के हरबर्ट कालेज में प्रोफ़ेसर और वाइस-प्रिंसिपल था तो वासुदेवशरण अग्रवाल से भेंट हुई। वे उन्हीं दिनों प्रकाशित मेरे *वैदिक दर्शन* और *वैदिक एटिमॉलॉजी* को देख चुके थे। उन्होंने मेरे अप्रकाशित डी लिट् शोधप्रबंध को देखने की इच्छा प्रकट की। उसको तीन-चार दिनों में देखकर, उन्होंने मुझे लौटाया और, साथ ही, मोतीलाल शास्त्री के वैदुष्य की चर्चा करतेहुए बताया कि वे अपने गुरु मधुसूदन ओझा की वेद-विषयक सरणि को जिस प्रकार आगे बढ़ारहे हैं उससे मेरी दृष्टि का ताल-मेल हो सकता है। संभवत: उन्होंने मेरे विषय में मोतीलाल शास्त्री से चर्चा भी की थी, क्यों कि इसके कुछ ही दिन पश्चात् अपने मित्र, जयपुर-निवासी, मक्खनलाल सहल द्वारा मुझे उनकी कुछ पुस्तकें भेंट-स्वरूप मिलीं। उन्हें पढ़कर वेद-व्याख्या का एक नया रूप सामने आया।

इन पुस्तकों को पढ़कर मैं मोतीलाल शास्त्री से मिलने जयपुर गया पर दुर्भाग्यवश मेरा उनसे मिलना न हो सका; वे दिवंगत हो चुके थे। उधर मुझे महाविद्यालय के प्रिंसिपल का पद संभालना पड़ा जिसके फलस्वरूप मेरा सारा समय क्लर्की और पुलिसमैनी में बीतने लगा और वेदाध्ययन से लगभग संबन्धविच्छेद-सा हो गया। फिर भी १९५२-५३ से लेकर १९६६-६७ तक महाविद्यालयों के प्रशासन में मुझे जो सफलता मिली उसका प्रमुख श्रेय उस मानवधर्म को ही जाता है जिसे मैंने वेदों के अध्ययन से किसी अंश में आत्मसात् करने का प्रयास किया था। सब धर्मों के अध्यापक बंधुओं, छात्रों और अभिभावकों से जो अभूतपूर्व सहयोग मुझे मिला उससे मुझे पूरा विश्वास होने लगा था कि वैदिक मानवधर्म को व्यवहार में लाने से न केवल शिक्षण-संस्थाओं में अनुशासन लाया जा सकता है अपि तु छात्रों को राष्ट्र-निष्ठा, मनुष्य-निष्ठा, समय-निष्ठा, श्रम-निष्ठा और सत्य-निष्ठा का पंचामृत पिलाकर सुंदर समाज के निर्माण में योग भी प्रदान किया जा सकता है। कोटा, श्रीगंगानगर, ब्यावर और कालाडेरा के महाद्यिालयों में अनुशासन, नैतिकता, अध्ययनशीलता और सहकारिता लाने का जो श्रेय मेरे जैसे दब्बू स्वभाव वाले व्यक्ति को मिला उसका हेतु निस्संदेह कोई अलौकिक वेद-तत्त्व था। पर उसकी चर्चा यहां संभव नहीं है।

फिर भी, एक घटना ऐसी है जिसका उल्लेख यहां सर्वथा प्रासंगिक होगा। यों तो इसका संबंध महाविद्यालय के प्राचार्य के पुलिस-कर्म से है पर उस कर्म में अचानक एक ऐसा भाषावैज्ञानिक तथ्य मिला जो *फ़ोर्टनाइट क्लब* नामक एक गुप्त संस्था के नाम में छिपाहुआ था। अंगरेज़ी का *फ़ोर्टनाइट* शब्द सामान्यत: पखवाड़े का सूचक है। अत: पहले तो यही समझ में आया कि वह संस्था एक ऐसा क्लब होगा जो प्रत्येक पखवाड़े में अपनी गतिविधि करता होगा। पर उसके क्रिया-कलाप की जांच की गई तो पता चला कि उस क्लब के सदस्य *फ़ोर्टनाइट* शब्द से दो अन्य अभिप्राय भी समझते थे और तदनुसार उसके दो अन्य निर्वचन थे।

१. फोर्ट, अर्थात्, क़िला। नाइट, अर्थात्, रात। क़िले की रात। इस व्युत्पत्ति के अनुसार, वह क्लब कभी कभी क़िले की रात मनाया करता था। एक क़िले की रानी होती थी जिसके होंठों से स्पर्श करके प्रत्येक सदस्य एक प्याला शराब पीता था। उसके पश्चात् नाच-कूद होता था।
२. फ़ॉर+टी+नाइट। इस व्युत्पत्ति से 'चाय की रात के लिए' अर्थ था। इस रात में, शराब के स्थान पर, चाय का प्याला होता था। निस्संदेह, यहां *फ़ोर्टनाइट* को सामान्य अर्थ से दो भिन्न अभिप्राय देने के लिए दो नई निरुक्तियां गढ़ी

गईं।

ऐसे ही किसी गेरुआ-वस्त्रधारी से प्रात:काल कुछ लोग मिलने पहुंचे, तो उन्होंने अपने शिष्य से कहा कि पहले टी.बी., फिर और कुछ। टी.बी. सामान्यत: एक रोग का नाम है। पर, उनका अभिप्राय *टी* से चाय और *बी* से बीड़ी था।

अतीत में इसी प्रकार के निर्वचन वैदिक शब्दों के किए गए थे। उदाहरण के लिए, *गायत्री* शब्द को ले लीजिए। सामान्यत: वह एक छन्द का नाम है। पर गायत्री श्येन होकर स्वर्ग से सोम को लाती है, *गय* नामक प्राणों का विस्तार करती है, गाती है, वेद की माता है और किसी किसी मंत्र की देवता भी है। इन सब अर्थों के परिप्रेक्ष्य में इस शब्द के अनेक[६०] निर्वचन किए गए।

अस्तु। महाविद्यालय के प्राचार्यत्व से छुटकारा होने के पश्चात्, वासुदेवशरण अग्रवाल के शिष्य, अभयदेव ने मधुसूदन ओझा और मोतीलाल शास्त्री की पद्धति से परिचित होने का अवसर प्रदान किया। बात यह थी कि वासुदेवशरण अग्रवाल अपने जीवनकाल में आग्रह करते रहे कि मैं वैदिक परिभाषाओं की व्याख्या करूं और इस प्रसंग में ओझा जी की व्याख्या को भी देखूं। अभयदेव ने *वैदिक-परिभाषा-कोश* की रचना के लिए आमन्त्रित करके एक बार वही पुरानी याद ताज़ा कर दी।

२ नस्लवाद और वैदिक शोध

मेरे वैदिक अनुसंधान का दूसरा दौर संयोगवश तथाकथित सिंधु-सभ्यता से जुड़ गया। इस सभ्यता के अवशेष अब तक बलूचिस्तान से लेकर उत्तर प्रदेश में गंगा-यमुना-दुआबा के पूर्व तक और हिमालय से लेकर नर्मदा नदी तक के क्षेत्र में लगभग सात सौ स्थानों पर मिल चुके हैं। पर उसे सिंधु-सभ्यता कहने का कारण यह है कि सर्वप्रथम इसके अवशेष सिंधु नदी की घाटी में पाए गए थे। पंजाब के हड़प्पा नामक स्थान पर कर्नल कनिंघम को कुछ प्राचीन अवशेषों के साथ जब एक सिंधु-मुद्रा मिली तो उस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। कई वर्षों के बाद जब जॉन मार्शल, *आर्क्यॉलौजिकल सर्वे ऑव् इंडिया* के डायरेक्टर जनरल थे तो उनके एक सहायक, राखलदास बनर्जी ने सिंध प्रांत में मोयाँ-जो-दारो (मुर्दों का टीला) में फिर वैसे ही अवशेष पाए जैसे हड़प्पा में मिले थे। इस स्थान की खुदाई आरंभ हुई तो जॉन मार्शल ने कहा कि सिंधु-घाटी सभ्यता प्राचीन द्रविडों की है। पर बनर्जी ने इसे आर्य-सभ्यता कहा। इसके दंडस्वरूप उन्हें राजसेवा से निकाल दिया गया। इस प्रकार सिंधु-सभ्यता आर्य-द्रविड-विवाद में फंस गई।

आर्य-द्रविड-विवाद : *दासत्व की देन* : इस विवाद का मूल ब्रिटिश शासकों का वह भय था जो सन् १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम से उत्पन्न हुआ था। उससे पूर्व, संस्कृत के जानकार योरोपियन विद्वानों ने योरोप और भारत की भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक संबंध स्वीकार करके एक ऐसे भारोपीय कालखंड की कल्पना की थी जिसमें योरोपियनों और भारतीयों के पूर्वज एक थे और वे योरोप में रहते थे। इन पूर्वजों को उन्होंने *आर्य* कहना आरंभ कर दिया था। तदनुसार, भारतीयों को इंडो-*आर्यन* कहकर योरोपियन(-आर्य) उनको अपना भाई-सा मानने का यत्न कररहे थे। मॅक्स म्युलर, आदि अनेक योरोपीय विद्वानों ने संस्कृत और वैदिक साहित्य का गंभीर अध्ययन आरंभ कर दिया था। उन्हीं दिनों भारत में दयानंद ने भी वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का उपक्रम किया और आर्यधर्म, आर्यभाषा और आर्यावर्त के आधारों पर समूचे राष्ट्र को एकसूत्र में बांधने का प्रयास किया। अत: कोई आश्चर्य नहीं कि मॅक्स म्युलर और दयानंद के बीच पत्र-व्यवहार हुआ। पर सन् १८५७ में अंगरेज़ी सरकार को उखाड़ फेंकने का जो व्यापक प्रयास हुआ उससे साम्राज्यवादी सतर्क हो गए थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि आर्यों के भाई-चारे का मंत्र अंगरेज़ी शासन और ईसाइयत के प्रचार में लाभकर नहीं होगा। अत: नस्ल, भाषा और मज़हब के नाम पर भारत में फूट डालने का घोर यत्न हुआ।

इस यत्न का एक अध्याय आर्य-द्रविड-विवाद भी है। दक्षिण में इस भेद का प्रचार बहुत पहले हो गया था। बिशप काल्डवेल की *कम्पैरैटिव् ग्रामर् ऑव् ड्रेवेडियन् लैंग्वेजज़्* इस बात का एक अच्छा उदाहरण है। उस पुस्तक में, दक्षिणी भाषाओं में प्रयुक्त, संस्कृत के शब्दों की ओर संकेत करते हुए बिशप ने कहा है कि 'यदि हम तमिळ भाषा से सब संस्कृतमूलक शब्दों को निकाल दें तो जो आदिम द्रविड शब्द रह जाते हैं उनसे हमें शुद्ध अनार्य द्रविडों के जीवन का चित्र मिल जाता है..... । आदिम तमिळ के शब्दकोश का यह संक्षिप्त उदाहरण उस समय का है जब कि ब्राह्मण लोग नहीं आए थे। और इससे स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि द्रविडों में सभ्यता के तत्त्व उस समय भी मौजूद थे।' काल्डवेल के इन शब्दों पर टीका करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार, नीलकंठ शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि अपनी इस वैज्ञानिक कृति में *ब्राह्मण* शब्द को 'आर्य' अर्थ में प्रयुक्त करके काल्डवेल ने आजकल की उस पद्धति को आधार प्रदान किया है जिसके अनुसार आर्य, ब्राह्मण, संस्कृत और उत्तर भारत को एक वर्ग में माना जाता है और जिसके फलस्वरूप वर्तमान काल में अनेक सामाजिक और राजनीतिक अव्यवस्थाएं उपस्थित हो गई हैं।

इस परंपरा को आगे बढ़ाते हुए, *मोयां-जो-दारो एंड इंडस् सिविलाइज़ेशन* नामक पुस्तक में, जॉन मार्शल लिखते हैं कि सिंधु-घाटी-सभ्यता में देवी माता की उपासना होती थी जिसका 'भारत की अनार्य जनता की देवताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान आज भी है। इसका प्रमाण एक तो यह है कि आदिम जातियों में देवीपूजा अत्यधिक लोकप्रिय है और दूसरा यह है कि इन लोगों के कर्मकांड और उत्सवों में ब्राह्मण लोग भाग नहीं लेते हैं अपि तु पुरानी जातियों के व निम्न श्रेणी के लोग भाग लेते हैं जो देवियों को प्रसन्न करने की क्षमता रखनेवाले माने जाते हैं।' इन शब्दों से स्पष्ट है कि मार्शल तथाकथित आदिम जातियों के मस्तिष्क में एक ऐसे पृथक् राष्ट्र की कल्पना भरना चाहते थे जो आर्यो से भिन्न हो। मार्शल की सम्मति में ब्राह्मण को ही आर्य समझा जाना चाहिए। मार्शल और काल्डवेल की परंपरा में ही, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विद्वान् एफ़ आर अल्चिन के उस वक्तव्य को लिया जा सकता है जो उन्होंने ६ अप्रैल, १९६९ के *हिंदुस्तान टाइम्स* में प्रकाशित कराया था। यह वक्तव्य मेरी शोधकृति के विरोध में था जो मैंने दिसंबर, १९६८ में प्रकाशित की थी और जिसमें सिंधु-घाटी की सभ्यता को वैदिक, और

सिंधु-लिपि को पूर्व-ब्राह्मी लिपि सिद्ध किया था।* इस प्रसंग में अल्चिन का कथन है कि 'सिंधु-सभ्यता के *आर्यन* हल ढूंढने के लिए जो सरगर्मी दिखाई जारही है उसको देखतेहुए, यदि कोई *द्रविडियन* हल सही भी हो तो भी उत्तरी भारत में संभवत: बहुत ज़ोरदार और लम्बा विरोध होगा और शायद उसके विपरीत दक्षिण भारत में होगा।'

अल्चिन के इस वक्तव्य का लक्ष्य वस्तुत: भारत सरकार को इस बात का भय दिखाना था कि सिंधु-सभ्यता को आर्य सिद्ध करने से दक्षिणी लोग ज़ोरदार और लंबा विरोध करेंगे। सन् १९६९ से पूर्व, कम से कम, पचास साल से सिंधु-सभ्यता को विद्वान् द्रविड-सभ्यता कहरहे थे और अब तक कहरहे हैं। फिर भी, उत्तर भारत में कभी कोई विरोध नहीं हुआ। मार्शल, काल्डवेल और अल्चिन द्वारा आर्य-द्रविड-भेदभाव
के प्रचार में जो कुछ कहा गया था उसका सबसे ज़ोरदार समर्थन मुझे रेवरेंड फ़ादर हेरास की कृतियों में मिला। उसी नस्लवादी सरणि पर चलतेहुए, प्रथम तो इस विद्वान् ने सिंधु-मुद्राओं की लिपि को चित्रलिपि मानकर और देवी और शिव को अवैदिक कहकर सिंधु-सभ्यता को प्राचीन द्रविडों की सभ्यता बताया और फिर आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, ब्रह्म-साक्षात्कार और तपस्या के तथाकथित नए विचारों को द्रविडमूलक माना। नीलकंठ शास्त्री फ़ादर हेरास के इस मत पर टिप्पणी करतेहुए कहते हैं कि 'आदि स्रोत के सब प्रश्नों को ठीक ठीक सुलझाना बहुत कठिन बात है और यह सब लोग जानते हैं कि जिन नए विचारों को फ़ादर हेरास ने यहां शुद्ध रूप से द्रविड-मूलक माना है उनको अन्य स्रोतों से आर्यों अथ वा वैदिक कल्पनाओं और प्रथाओं का परिणाम माना गया है। और उनका यह कहना कि *ऋग्वेद* के एकेश्वरवादी मंत्र बाद में जोड़े गए हैं, वास्तविक कठिनाई को दूर करने का बहुत सरल उपाय है पर यह विश्वास-योग्य नहीं है।.....हेरास का कहना है कि *आत्मा* शब्द *तमिळ* के *अतस-आण* से निष्पन्न है जिसका अर्थ पाताल का स्वामी होता है। .....तमिळ-शब्दकोश *अतस* शब्द को संस्कृत के *अधस्* से निष्पन्न करते हैं। ..... और यह सुविख्यात है कि *आत्मा* शब्द ऋग्वेद में बहुत अधिक पाया जाता है और उसकी व्युत्पत्ति *अत* (सातत्यगमने) और *मन्* (अवबोधने) के योग से है।'

आर्य-द्रविड-भेद को बढ़ावा देनेवाले विदेशी विद्वान् ही नहीं हैं। भारतीय

* इस शोध के संदर्भ से पद्मधर पाठक ने एक लेख *हिन्दुस्तान टाइम्स* में सन् १९६९ निकलवाया था।

तो उनसे भी आगे बढ़ गए हैं। शहंशाह पंचम जार्ज की रजत जयंती के अवसर पर चौकलिंगम पिल्लै ने *ओरिजिन आव् इंडो-योरोपियंस्* नामक जिस बृहत्काय ग्रंथ को भेंट किया था उस पर भारत सरकार का लाखों रुपया यह सिद्ध करने के लिए ख़र्च किया गया था कि आर्य और द्रविड तमिळ-परंपरा के बेलन और सूरन हैं और कि इन दोनों में से अब द्रविड नस्ल ही अपने शुद्ध रूप में बची है, और वह भी संसार में केवल भारत के मद्रास प्रांत और योरोप के इंग्लैण्ड में पाई जाती है। आर्यों और द्रविडों के भेदभाव में कुछ भारतीय कितनी कट्टरता से विश्वास करते हैं इसका एक उदाहरण फ़ादर हेरास के एक शिष्य ए पी कर्मर्कर हैं। भारतीय धर्मों पर लिखनेवाले विद्वानों की ओर संकेत करतेहुए वे कहते हैं कि 'इनमें से किसी ने भी कोई ऐसी सुस्पष्ट और सुनिश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की है जिससे कोई भारतीय धर्मों में आर्य और द्रविड (अथ वा व्रात्य) तत्त्वों के भेद को ठीक ठीक समझ सके। हम ऐसा करने का साहस मुख्यतया इसलिए कर सके हैं कि पिछले पच्चीस वर्षों में, अभिलेख, मुद्रा, पुरातत्त्व और ऐसे ही अन्य विज्ञानों के क्षेत्र में जो सामग्री मिली है उसने विद्वानों के दृष्टिकोणों को बदल दिया है और यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि आर्य-पूर्व भारत में व्रात्यों की एक आश्चर्यजनक सभ्यता का अस्तित्व था। विशेषत: हड़प्पा, मोयां-जो-दारो और अन्य प्रागैतिहासिक स्थानों की आश्चर्यजनक खोजें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।'

आश्चर्य की बात तो यह है कि अधिकारी विद्वान् साथ ही यह भी मानते हैं कि *आर्य* और *द्रविड* शब्दों को नस्लवाचक नहीं माना जा सकता है। *आर्यन्* रेस की कल्पना सर्वप्रथम प्रस्तुत करनेवाले स्वयं मॅक्स म्युलर ने कहा था, 'मैंने बार बार घोषणा की है कि यदि मैं *आर्य* शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मेरा अभिप्राय न किसी रक्त से होता है, न अस्थि, केश अथ वा खोपड़ी से होता है। मेरा तात्पर्य केवल उन लोगों से है जो आर्य भाषा बोलते हैं। अत: *आर्य* शब्द का प्रयोग नस्ल के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।' ए एल बाशम कहते हैं कि 'आर्य और द्रविड नाम की कोई नस्लें नहीं हैं।' नीलकंठ शास्त्री का मत है कि एन्थ्रौपौलौजी के वैज्ञानिक अध्येताओं को आर्य और द्रविड नाम की किसी भी नस्ल का पता नहीं है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में फ़िज़िकल एन्थ्रौपौलौजी के प्रोफ़ेसर, शशांकशेखर सरकार का कथन है कि '*आर्य* और *द्रविड* भाषा-परिवारों के नाम हैं पर प्राय: इन शब्दों का प्रयोग नस्ल के अर्थ में होता है।'

इस प्रकार आर्य और द्रविड नामक नस्लों का अस्तित्व न होने पर भी, इन शब्दों का अपप्रयोग जारी रहना एक विचित्र बात है। आश्चर्य तो यह है कि

स्वतंत्र भारत में इन शब्दों का यह दुष्प्रयोग निरंतर बढ़ता जारहा है। १९६४ में प्रकाशित, एन बी तीर्थ की *नेशनल् इंटीग्रेशन* नामक पुस्तक में भारतवर्ष को अन्य नस्लों के साथ साथ इंडो-आर्यन और द्रविड नस्लों के क्षेत्र में विभाजित किया गया है। इसके अनुसार पंजाब, राजपूताना और कश्मीर में आर्य नस्ल के लोग हैं और मद्रास, आंध्र, केरल, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मैसूर द्रविडों का क्षेत्र है। अवैज्ञानिक तथ्यों को वैज्ञानिक मानकर भारतीय मानस में जो अराष्ट्रीय विचारधारा भर दी गई है वह आज शुद्ध राष्ट्रवादी मस्तिष्कों में भी किस प्रकार घर कर चुकी है उसका प्रमाण राष्ट्रीय एकता के एक प्रबल समर्थक व्यक्ति के निम्न कथन से स्पष्ट होता है, 'भारत एक उपमहाद्वीप है जिसमें विविध भाषाएं, रस्म-रिवाज़, संस्कृतियां, धर्म और ऐसे बहुत से राज्य हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना पृथक् इतिहास और परंपराएं हैं। अंगरेज़ों के आने के पूर्व, कुछ अंतरालों को छोड़कर, भारत केवल एक भौगोलिक इकाई रहा। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह वर्तमान यूरोप की भांति अनेक, परस्पर भिन्न राज्यों में विभक्त था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अंतर्गत सबका संमिलित उत्पीड़न और साथ में एक संमिलित प्रशासन, न्याय-व्यवस्था, और सबसे अधिक सब राज्यों के सरकारी कर्मचारियों और शिक्षित जनों द्वारा अंगरेज़ी भाषा का प्रयोग किया जाना—ये ही ऐसी बातें थीं जिसके कारण भारत के विविध जन एक राष्ट्रीयता और एक देश को प्राप्त कर सके।'

हमारे देश का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता के छप्पन वर्ष बीतने के बाद भी हम उन्हीं विचारों को ब्रह्मवाक्य मान लेते हैं जो विदेशी साम्राज्यवादियों ने अपने स्वार्थ की दृष्टि से व्यक्त किए थे। उदाहरण के लिए, कून, गार्न और बर्डसेल के हिंदू नस्ल, मुस्लिम नस्ल और क्रिश्चियन नस्ल जैसे शब्दों का प्र्योग इतना लोकप्रिय हुआ कि इसी आधार पर पाकिस्तान और हिंदुस्तान का निर्माण ही नहीं हुआ अपि तु नागालैंड, मिज़ोरम जैसे ईसाई-स्थानों के लिए भी यत्न किए गए। एक फ्रेंच पादरी, गार्सां द तासी ने मुस्लिम-ईसाई गठजोड़ के इरादे से हिंदू और मुसलमानों के बीच नस्ल का भेदभाव उठातेहुए उर्दू भाषा को प्रोत्साहन देने के लिए ब्रिटिश सरकार से अपील की थी। उसने कहा था, 'हिन्दी में हिंदू धर्म का आभास है—वह धर्म जिसके मूल में बुत-परस्ती और अन्य आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी सेमेटिक मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है। इसलिए इस्लामी तहज़ीब में ईसाई या मसीही तहज़ीब की विशेषताएं पाई जाती हैं। इसलिए

उर्दू को प्रोत्साहन देने से ईसाइयत को निस्संदेह लाभ होगा।'

इसी प्रकार, कुछ दूसरे फ्रेंच विद्वानों ने भाषाओं के आधार पर, भारत में तथाकथित आर्य और द्रविड नस्लों की तथाकथित पूर्ववर्ती नस्लों का पता लगाया था। पी सी बागची ने इन भाषाविदों की सम्मतियां संकलित करके *प्री-आर्यन् ऐंड प्री-ड्रैविडियन रेसज् इन इंडिया* नाम से एक पुस्तक सन् १९२८ में लिखी थी। उसकी आलोचना करते हुए संस्कृत के विद्वान्, ए बी कीथ ने लिखा था कि 'हम चाहे द्रविड-पूर्व भाषा और धर्म में एकदम विश्वास कर लें और चाहे हम यह भी मान लें कि उस समय कुछ ऐसे राजनीतिक संगठन भी थे जिन्होंने वैदिक जन के उन संगठनों पर प्रभाव डाला हो पर फिर भी ऐसा मानने के लिए कोई ठोस प्रमाण अब भी प्राप्त नहीं है।' इस विद्वान् ने जब कुछ विद्वानों को भारतीय आबादी में विदेशी तत्त्वों को ढूंढने के लिए अत्यधिक उत्सुक पाया तो सन् १९३१ में लिखा था[६१] कि 'उत्तरी-पश्चिमी प्रांत के पठानों को ट्रावनकोर की पहाड़ी जातियों से जोड़नेवाली कड़ी का अस्तित्व अब भी है। यदि विकासवाद एक सत्य है और यदि पैंतीस करोड़ दो लाख भारतीय जन मानव-जाति की उसी शाखा के सदस्य हैं तो ऐसा होना भी चाहिए। पर फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि सब नहीं, तो कम से कम लगभग सब लोगों ने जिन्होंने भारतीय आबादी के अंतर्गत विभिन्न नस्लों की व्याख्या करने का यत्न किया है, इस बात को जानने का यत्न भी नहीं किया कि स्वयं भारत ने अपनी नस्लों को किस सीमा तक जन्म दिया है। वे यह मानकर चले हैं कि इन नस्लों का विकास अत्यंत प्राचीन काल में और भारत से बहुत दूर हुआ होगा, न कि स्वयं भारत में जो कि नृवंश-वैज्ञानिकों के लिए नस्लों का एक बहुत बड़ा स्वर्ग सिद्ध होरहा है।'[६२]

नीलकंठ शास्त्री ने भी अपनी *कल्चरल् काण्टैक्ट्स् बिट्वीन आर्यन् ऐंड ड्रैवीडियन* नामक पुस्तक में विद्वानों के उक्त नस्लवादी दृष्टिकोण की अवैज्ञानिकता पर प्रकाश डालतेहुए कहा है कि 'नस्ल-संबंधी भेदभाव के इतिहास का आरंभ कब हुआ, इस बात को जानने के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, और नृवंशविज्ञानविद् पांच, छह या सात हज़ार वर्षों पुरानी नस्लों के विषय में अपनी अटकलबाज़ियों के लिए मुख्यत: उस सामग्री पर अवलंबित रहते हैं जो अभी हाल ही में अथ वा इसी समय प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त, अपने निष्कर्षों में कोई भी दो विद्वान् परस्पर सहमत नहीं होते हैं।' इसलिए, बी आर रामचंद्र दीक्षितार के शब्दों में, 'नृवंशास्त्रियों के आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों का एक उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ है कि अब संस्कृति पर अधिकाधिक ज़ोर दिया जाता है और नस्ल

पर न्यूनातिन्यून। अत: योरोप के संदर्भ में हम लैटिन-संस्कृति और एंग्लो-सैक्सन संस्कृति की बात करते हैं, न कि लैटिन नस्ल और एंग्लो-सैक्सन नस्ल की। इसी प्रकार, हमें भारत में आर्य और द्रविड संस्कृतियों को मानना चाहिए न कि नस्लों को।'

अरविंद ने भी भारतीय राष्ट्र में आर्यों और द्रविड नस्लों के भेद को अवैज्ञानिक बताया था। वे इतिहासकारों के इस सिद्धांत को नहीं मानते हैं कि उत्तरी ठंडे प्रदेशों में बसनेवाले आर्य-नस्ल के लोगों ने भारत के द्रविड लोगों पर आक्रमण करके उनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अरविंद के मतानुसार, वेद में जो आर्य और अनार्य का भेद प्रतीत होता है वह नस्ल का नहीं अपि तु संस्कृति का भेद है। प्राय: कहा जाता है कि वेद में दस्युओं को काले रंग का और अ-नास बतलाया जाता है जो गोरे रंग और लंबी नाक वाले आर्यों से भिन्न थे। पर यद्यपि रंग का भेद आर्य–देव-शक्तियों और दास-शक्तियों में क्रमश: प्रकाश और अंधकार के अर्थ में अवश्य कहा जाता है, *अ-नास* शब्द का अर्थ नासिकाहीन कदापि नहीं हो सकता। यदि यह अर्थ मान भी लिया जाए तो भी तथाकथित द्रविड लोगों पर यह बिलकुल लागू नहीं होता क्यों कि दक्षिण भारतीयों की नाक वैसी ही होती है जैसी कि उत्तर भारत के तथाकथित आर्यों की।' आर्य और द्रविडों के भेदभाव पर टीका-टिप्पणी करतेहुए, उन्होंने एक स्थान पर और कहा है कि 'भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषाई भेदों के आधार पर भारतीय राष्ट्र को उत्तरी आर्य नस्ल और दक्षिणी द्रविड नस्ल में बांट दिया है। पर गंभीरतापूर्वक निरीक्षण करने के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि कन्याकुमारी से लेकर अफ़गानिस्तान तक सारे भारतवर्ष में केवल कुछ सूक्ष्म परिवर्तनों के साथ एक ही प्रकार का भौतिक शरीर दिखलाई पड़ता है। इसलिए नस्ल का निर्णय करनेवाले तत्त्व के रूप में भाषा को नहीं माना जा सकता है। यदि सचमुच कोई द्रविड नाम की नस्ल इस समय है अथ वा कभी थी तो भारत की सब नस्लें शूद्र-द्रविड मानी जानी चाहिएं, अथ वा वे सबकी सब एक वर्णसंकर नस्ल होनी चाहिएं जिसमें किसी एक नस्ल की विशेषताओं की प्रधानता हो। पर किसी भी अवस्था में संस्कृत और तमिळ परिवार के भाषाई विभाजन के लिए इस समस्या के समाधान में कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। पर फिर भी इन आकर्षक और सामान्य निष्कर्षों और बहुचर्चित भूलों को आजकल इतना महत्त्व दिया जारहा है कि सारा संसार इस ग़लती को स्थायित्व प्रदान करतेहुए, भारोपीय नस्लों की बात करता है और आर्य नस्ल से अपने संबंध को स्वीकार अथ वा अस्वीकार करताहुआ इस झूठे आधार पर दूरगामी राजनीतिक, सामाजिक और

अर्द्ध-वैज्ञानिक निष्कर्षों को जन्म देरहा है।'

अरविंद ने जब ये विचार व्यक्त किए थे तब से अब तक लगभग सत्तर वर्ष हो चुके हैं और इस काल-खंड में उक्त नस्लवाद बढ़ता ही गया है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने साम्राज्यवादियों द्वारा प्रचारित *आदिवासी* शब्द को मान्यता देकर इस भेदभाव को वैधता प्रदान कर दी है। इसके कारण कई संस्थाएं तथाकथित आदिवासी संस्कृति, साहित्य, भाषा, आदि के नाम पर राजनीतिक और सामाजिक भेदभाव को बढ़ाने पर ज़ोरों से तुलीहुई हैं। भाषावार प्रांतों के निर्माण ने भी देश के विखंडन के लिए भूमिका तैयार की। कहने का अभिप्राय यह है कि लोक-भाषा, लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति के नाम पर भी जो आंदोलन आज खड़े हुए हैं वे भी नस्लवादी रूप लेते जारहे हैं जब कि विश्व के महान् मनीषी और वैज्ञानिक, जूलियन हक्सले का कथन है कि 'नस्लवाद एक कपोल-कल्पना है और एक भयंकर कपोल-कल्पना है।' उसका स्पष्ट मत है कि तथाकथित नस्ल संबंधी प्रत्येक समस्या को सुलझाने के व्यावहारिक पक्ष में सदा यही भूल प्रतीत होती है कि सांस्कृतिक तत्त्वों को ही प्रजननपरक तत्त्व मान लिया जाता है। वास्तव में, प्रजननपरक तत्त्वों को ही, विधिवत् नस्ल से संबंधित माना जा सकता है। पर यदि आधुनिक प्रजनन-विज्ञान के आधार पर विश्लेषण किया जाए तो स्वयं नस्ल ही की कल्पना छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस विश्लेषण के निष्कर्ष ये हैं जिन्हें हक्सले की *यूनीकनैस् ऑफ़ मैन्* से लिया गया है।

१. प्रथमत: जहां तक मनुष्य का संबंध है हमें अपने वैज्ञानिक और लोकप्रिय, दोनों प्रकार के शब्दकोषों से *नस्ल* शब्द को बिलकुल ही निकाल देना सर्वश्रेष्ठ होगा।
२. हमारे वर्तमान उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि हम जब तक उपेक्षित जनों के लिए अधिक उपयुक्त वातावरण उपस्थित करके, सबके लिए अवसरों की समानता नहीं पैदा कर देते हैं तब तक लोगों के जातीय भेदों और मानसिक विशेषताओं के विषय में हम ऐसी कोई घोषणा नहीं कर सकते हैं जिसे वैज्ञानिक कहा जा सके।

नस्लवाद के विरुद्ध जूलियन हक्सले के इस अमूल्य वैज्ञानिक मत को जानतेहुए भी, आधुनिक विद्वानों के सामान्यत: भारत-संबंधी सब अन्वेषणों में अवैज्ञानिक नस्लवाद ज़ोरों से चलतारहा है। इसी अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर योरोपियन साम्राज्यवादियों ने अमरीका और अफ़्रीका में वह रक्तरंजित और विषाक्त वातावरण पैदा कर दिया था जिसकी झलक *अंकिल टॉम्स कैबिन*, रैड

ब्रेड और *ह्यूमैनिटी अपरूटैड्*, आदि वृत्तांतों में मिलती है। इसके परिणामस्वरूप भारत अपनी संस्कृति के सच्चे स्वरूप को पहचानने से वंचित हुआ है। इसी के कारण भारतीय संस्कृति से विश्व को जो अमूल्य निधि मिल सकती थी वह नहीं मिल पाई है। पर दु:ख तो इस बात का है कि अवैज्ञानिक नस्लवाद को वैज्ञानिक और प्रगतिशील मानतेहुए हम भारतीय उसे अपने जीवन से चिपकाते चले जाते हैं और अन-जाने में राष्ट्र के विघटन में साझीदार होरहे हैं।

: २ :

यह नस्लवादी दृष्टि सिंधु-सभ्यता और वैदिक संस्कृति के अध्ययन में भी इतनी अधिक छाईहुई है कि लोग इसके विपरीत कुछ भी सुनने को तैयार नहीं हैं। जब मैंने सिंधु-लिपि को ब्राह्मी लिपि का पूर्व रूप और उसमें लिखीहुई भाषा को वैदिक संस्कृत कहकर, सिंधु-मुद्राओं को विश्व के सर्वप्रथम मुद्रणालय के मुद्रण-ठप्पे कहा था तो मुझे अपेक्षा तो यह थी कि विद्वान् मेरे मत पर कोई सटीक और सुविचारित प्रतिक्रिया करेंगे। पर जो प्रतिक्रिया सामने आई वह बिलकुल सतही और ओछी थी। एक ने कहा, 'मुद्रणकला का आविष्कार तो चीन ने किया था। अब यह श्रेय भारत की सिंधु-घाटी को कैसे मिल सकता है?' दूसरे ने कहा, 'वैदिक साहित्य तो श्रवण-परंपरा पर आधारित था, वहां लिपि का क्या काम!' अधिकांश आलोचकों ने इस बात पर रोष व्यक्त किया कि मैंने सिंधु-संस्कृति को वैदिक, सिंधु-भाषा को संस्कृत और सिंधु-लिपि को ब्राह्मी का पूर्व रूप कहकर उन प्रतिष्ठित विद्वानों का अनादर किया है जो इनको द्रविडों की देन मानते हैं।

वास्तव में, जब मैंने सिंधु-लिपि पर कार्य करना आरंभ किया था तो मैंने भी मार्शल, मैके, गैड, लेंग्डेन, हेरास, ह्वीलर और पीगट जैसे विद्वानों में पूर्ण श्रद्धा रखतेहुए ही इस काम में हाथ डाला था। अत: उस समय मैं भी उसी नस्लवादी दृष्टिकोण को लेकर चला था जिसका प्रकाश हमें अंगरेज़ी भाषा की 'अंतर्राष्ट्रीय खिड़की' से मिला था। *स्वाहा* (पत्रिका) में प्रकाशित सिंधु-लिपि-विषयक लेख को हिंदी में देखकर कुछ लोगों ने समझा कि मैंने सिंधु-घाटी सभ्यता पर लिखने की अनधिकार चेष्टा की क्यों कि, उनकी संमति में, महत्त्वपूर्ण शोध कार्य वैज्ञानिक ढंग से अंगरेज़ी, फ़्रेंच और जर्मन के माध्यम से ही किया जा सकता है। इस प्रसंग में, अत्यंत नम्रतापूर्वक निवेदन है कि मैंने अंगरेज़ी, फ़्रेंच और जर्मन माध्यम से भी भारतीय इतिहास और संस्कृति के उन सब पक्षों पर पर्याप्त अध्ययन किया था जो सिंधु-लिपि और सिंधु-संस्कृति को जानने-समझने में सहायक हो सकते हैं। साथ ही

उस विस्तृत वैदिक, पौराणिक, बौद्ध और जैन साहित्य से प्रत्यक्ष और तमिळ साहित्य से अप्रत्यक्ष परिचय भी प्राप्त किया था जो भारत की प्राचीनतम संस्कृति को जानने के लिए एक-मात्र राष्ट्रीय द्वार और संभावित कुंजी हैं। जहां अंगरेज़ी, फ्रेंच और जर्मन के माध्यम से हमें वह नस्लवादी दृष्टिकोण मिला है जिससे हमने भारतीय संस्कृति सहित सब संस्कृतियों को नस्लों के आधार पर आंकना सीखा है, वहां भारतीय साहित्य से हमें वह मानवतापरक दृष्टि मिली है जिसके अनुसार *ऋग्वेद* में इस देश के नाना प्रकार के लोगों को *भारत जन* और पुराणों में *भारती संतति* कहा गया है और समस्त मानवजाति में एकता देखनेवाले *विश्वमानुष* की कल्पना की गई है। 'अंतर्राष्ट्रीय खिड़की' से झांकने पर ऐसा लगा कि भारत एक उपमहाद्वीप है जिसमें अनेक राष्ट्र, अनेक भाषाएं, अनेक धर्म, अनेक संस्कृतियां और अनेक नस्लें हैं और कि भारत को एक राष्ट्र और एक देश का गौरव अभी हाल में अंगरेज़ी राज्य और अंगरेज़ी भाषा ने दिया है। पर 'राष्ट्रीय द्वार' से प्रवेश करने पर मैंने पाया कि *ऋग्वेद* के समय में ही *राष्ट्र* शब्द आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त होता था,[६३] और कि *अथर्ववेद* के अनुसार नाना भाषाओं और अनेक धर्मों वाले जन का भरण-पोषण करतीहुई भी हमारी राष्ट्रभूमि एक थी।[६४] और एक थी हमारी राष्ट्री वाक् (राष्ट्रभाषा) जो सबको एक संगम में रखती थी।[६५]

सिंधु-सभ्यता और वैदिक सभ्यता : अतः सिंधु-मुद्राओं को नस्लवादी दृष्टि से अध्ययन करतेहुए जब मैं निराश हो गया तो मैंने लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से सिंधु-लिपि को खोज निकाला। सिंधु-मुद्राओं के चित्रों और लेखों को वैदिक साहित्य के आलोक में पढ़ने की ओर मैं तब प्रवृत्त हुआ जब पीलीबंगा की खुदाई में यज्ञ वेदि मिली। बाद में तो अन्यत्र भी वेदि मिली। पीलीबंगा की खुदाई के बाद ही मैंने इस दिशा में जो प्रयास किया उससे आशाजनक परिणाम निकलने लगे।

उदाहरण के लिए, सिंधु-लिपि के *अ*-वर्ण को लेते हैं। सिंधु-मुद्राओं पर जो चार प्रकार की लिपियां मुझे मिली हैं उनमें से सर्वाधिक प्रयुक्त लिपि का *अ*-वर्ण फ़ारसी लिपि का *अ*-वर्ण (अलिफ़) है। देवनागरी में भी, व्यंजनों में जो दंड-वत् भाग है वह वही है। वैदिक परंपरा में *अ*-वर्ण ब्रह्म नामक मूल सत्ता का प्रतीक बनाया गया है जो अपनी शक्ति के योग से नानावर्णात्मक सृष्टि करता है।[६६] एक सिंधु-मुद्रा में *अ*-वर्ण से ग्यारह पत्तों वाला एक पीपल वृक्ष उत्पन्न होताहुआ बताया गया है। *अ* के साथ जुड़ाहुआ, क्रिया-द्योतक *ल* वर्ण है।[६७] अतः इस वृक्ष को *अ+ल-ज* (*अ+ल* से जन्मा हुआ) कह सकते हैं। *मैत्रायणी* और *काठक* संहिताएं इसी को *अलज आंतरिक्षः* कहकर याद करती हैं।[६८] इसका अर्थ है अंतस् में ईक्षण

करनेवाला अथ वा अंतस् में स्थित[६९] (आंतरिक्ष) अल-ज।* दस प्राणों सहित आत्मा ग्यारहवां है।[७०] अत: ग्यारह पत्तों वाला उक्त पीपल वृक्ष ऐसे आत्मा का प्रतीक कहा जा सकता है। *तैत्तिरीया संहिता* में इसी को एक ऐसा अलज-चित्** (अल से जन्मनेवाली चेतना) कहा गया है जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों से जुड़ी होने के कारण *चतु:सीत* भी है।[७१]

अलज-चित् नामक सिंधु-मुद्रा के आंतरिक-चेतना-वृक्ष की इस व्याख्या की पुष्टि इस बात से होती है कि वहां *अल* से जुड़ाहुआ *ओम्* शब्द भी है जिसमें *ओ* और *म* रोमन लिपि के समान हैं। इसी प्रकार का *ओम्* कुछ आहत मुद्राओं में भी मिलता है। सिंधु-मुद्रा के *ओम्* की यह विशेषता है कि वह उक्त चेतना-वृक्ष का एक अंग है और उसके *ओ* से जुड़ेहुए, दो एक-शृंगी पशुओं के स-ग्रीव शिरोभाग हैं। ये वेद और उपनिषद् में वर्णित इसी प्रकार के पीपल वृक्ष से संबद्ध *द्वा सु-पर्णा स-युजा स-खाया* की याद ताज़ी कर देते हैं।[७२] साथ ही, *ओम्* स्वयं अल-ज (अल से उत्पन्न) है जिससे पूरा वृक्ष विस्तार पाता है। इसका अर्थ है कि *ओम्* यहां पर ब्रह्म नहीं अपि तु उसकी उपज है। इसी ओर संकेत करने के लिए *गोपथ ब्राह्मण* ने ओम् को ब्रह्म का ज्येष्ठ पुत्र माना है।[७३]

ओम् से जुड़ेहुए दो स-ग्रीव एक-शृंगी शिर एक दूसरी ओर भी संकेत कररहे हैं। इनकी आकृति सिंधु-लिपि के दो जुड़वां *उ*-वर्णों जैसी है। सिंधु-मुद्राओं पर बहुतायत से पाया जानेवाला यह *उ* रोमन लिपि के *U* सदृश है। एक सिंधु-मुद्रा पर, उच्चासन पर योगमुद्रा में विराजमान व्यक्ति के शिर पर ऐसा ही *उ*-वर्ण युगल रखाहुआ है और नीचे, भूमि पर घुटनों के बल बैठे दो व्यक्तियों में से प्रत्येक के, ऊपर उठेहुए, एक हाथ में एक *उ*-वर्ण है जो, मानो, उच्चासन पर विराजमान व्यक्ति को समर्पित किया जारहा है। वेद-मंत्रों में *उ* कुल मिलाकर सहस्राधिक बार प्रयुक्त है पर केवल संहिता-पाठ में। पद-पाठ में इसे ऊँ लिखा जाता है। *संहिता* का अर्थ है एक से अधिक वस्तुओं की *अत्यंत संनिकृष्ट* इकाई। वेद में तीन ऐसे देव हैं जिनमें से प्रत्येक के लिए *उ* का प्रयोग होता है और साथ ही जिनकी एक 'अत्यंत संनिकृष्ट इकाई' भी है। ये देव हैं इंद्र, अग्नि और सोम। एक मंत्र में कहा गया है कि अग्नि के भीतर इंद्र है और उसके पेट में सोम है। इस त्रिदेव-संहिता की तुलना सिंधु-मुद्रा के उक्त चित्र से करने पर ऐसा लगता है कि, मानो, वह त्रिदेव-संहिता किं चित् भिन्न ढंग से सिंधु-मुद्रा में चित्रित की गई हो।

* यह याजुष पद पक्षि-विशेष का वाचक है। —संपादक

** अलजाकृति अग्न्याधार-स्थण्डिल-विशेष का वाचक यह याजुष पद है। —संपादक

इस बात की पुष्टि त्रिदेव-संहिता के एक दूसरे रूप से होती है जो एक अन्य सिंधु-मुद्रा पर चित्रित है। यहां इंद्र शब्द इस तरह से लिखा गया है जिससे पुरुष की आकृति बन जाती है। पुरुष के इधर उधर *उ*-वर्ण है। प्रत्येक *उ* के ऊपर इंद्र-सूचक इ है जो यह संकेत देता है कि दोनों *उ*-कार इंद्र के हैं। साथ ही, एक *उ*-कार के साथ *सो* और दूसरे के साथ *ऐग्न* लिखा है। इसका अभिप्राय है कि 'सो' वाला *उ*-कार सोम का है, और दूसरा अग्नि का है। पर वे दोनों मिलकर इंद्र के हैं, जैसा कि प्रत्येक उ-कार के ऊपर अंकित इंद्र-सूचक इ से संकेतित है।

इस सूचना के साथ, अब आइए, एक बार फिर पूरे पीपल वृक्ष को देखें। इसमें *अल* के ऊपर *ओम्* को रखकर *अल ओम्* बना है। *अल-ओम्* को यदि इंद्र मान लें तो उससे जुड़ेहुए अग्नि-सोमसूचक दो स-ग्रीव एकशृंगी शिर उसके दो स्थविर बाहु बन जाते हैं। वैदिक वाङ्मय और आगम में प्रसिद्ध *अग्नी-षोमात्मकं जगत्* कहावत के अनुसार संपूर्ण सृष्टि-वृक्ष को *अल-ओम्* (इंद्र) की इन दो स्थविर बाहुओं (अग्नि और सोम) की उपज कहा जा सकता है। इससे *अल-ओं* से जुड़ाहुआ, ग्यारह प्राणों रूपी पत्तों से युक्त, यह पीपल-वृक्ष मनुष्य की उस चेतना-समष्टि
का प्रतीक बन जाता है जो *अल-ओं* से समरस होरहा है।

इस आध्यात्मिक समरसता का सूचक, वैदिक साहित्य में चर्चित, *अलम्म* साम है, *तम्* (परि-जानतः पुत्रम् ऋषयः) *अब्रुवन्, को न्व् अयं कस्मा 'अलम्' इति, 'अलं नु वै मह्यम्' इति। तद् अलम्मस्यालम्मत्वम्,*[६४] '(ऋषियों ने) उस(परि-ज्ञानी)के पुत्र से कहा, सचमुच, यह कौन है, और किसके लिए *अलं* है? उत्तर है, निस्संदेह, मेरे लिए *अलं* है। यह *अलम्म* को 'अलम्म' कहने का कारण है।' दूसरे शब्दों में, *अलं* नाम है उस अनिर्वचनीय परम सत्ता का जिसे वेद में *कः*, 'कौन' (प्रजापति) कहा जाता है। यह *अलं* जब *अहं* के लिए (*मह्यम्*, मेरे लिए) हो जाता है तो जीव ('मैं') *अहं* से 'अल-अहं' हो जाता है। इसका अभिप्राय है कि *अहं* से *अल-अहं* हो जाना 'अलम्म' नामक साम है, जो दस प्राणों सहित
ग्यारहवें आत्मा के *अल-ओं* के साथ समरस होने में निहित है। यह *अल-अहं* *कुरआन*-परंपरा में 'अल्लाह' का और यहूदी-परंपरा में 'इलोहीम'
का हठात् स्मरण करा देता है। इसका भाव उपनिषद् के *अहं ब्रह्मास्मि* और सूफ़ियों के *अन-अल-हक़* वाक्य में भी वर्तमान है।

तथाकथित वृक्षपूजा और पशुपूजा : इस व्याख्या से स्पष्ट है कि पूर्वोक्त पीपल-वृक्ष और उससे संयुक्त स-ग्रीव एकशृंगी पशु से सिंधु-घाटी सभ्यता में किसी प्रकार की

वृक्षपूजा अथ वा पशुपूजा सिद्ध नहीं होती है। वृक्ष और पशु वहां अन्य मुद्राओं में भी आए हैं। वे सर्वत्र दार्शनिक काव्य-प्रतीक हैं।* वृक्ष को प्रतीक के रूप में ग्रहण किए जाने की परिपाटी *ऋग्वेद*, आदि में जहां अव्याख्यात रूप में मिलती है वहां उपनिषदों में वह यत्र तत्र अच्छी तरह से स्पष्ट कर दी गई है। उदाहरण के लिए, यहां *बृहदारण्यक उपनिषद्*[७५] का निम्न लिखित अवतरण प्रस्तुत है। 'जैसा वनस्पति वृक्ष होता है वैसा पुरुष भी होता है; यह बिलकुल सत्य है। वृक्ष में पत्ते होते हैं, पुरुष के शरीर में पत्तों की जगह रोम होते हैं। पुरुष के शरीर पर जो त्वचा है उसकी तुलना में वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है। पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है और वृक्ष की त्वचा से गोंद निकलता है। जिस प्रकार आघात लगने पर वृक्ष से रस आता है उसी प्रकार चोट खाएहुए पुरुष-शरीर से रक्त प्रवाहित होता है। पुरुष के शरीर में मांस होता है, वनस्पति में शर्करा (छाल के भीतर गूदा) है। पुरुष के स्नायु होते हैं और वृक्ष में किनाट जो स्नायु की भांति ही दृढ़ होता है। पुरुष के स्नायु-जाल में हड्डियां होती हैं, वैसे ही किनाट के भीतर काष्ठ है। मज्जा तो दोनों में समान है।'

मनुष्य-देह-रूप इस वृक्ष का प्रेरक 'अहं' नामक जीव है। इसका उल्लेख *तैत्तिरीया उपनिषद्* में (१.१०.१) जीव के मुख से इस प्रकार किया गया है,

अहं वृक्षस्य रेरिवा, कीर्तिः पृष्ठं गिरेर्-इव। ऊर्ध्व-पवित्रो वाजिनीव स्व्-अमृतम् अस्मि। द्रविणं स-वर्चसं सु-मेधा अमृतोक्षितः।

सिंधु-मुद्राओं में जहां वृक्ष से संबंधित कोई आदमी अंकित है वहां वह शरीर-रूप वृक्ष के प्रेरक जीव का प्रतीक है।

पशु-पक्षी के रूप में जीव को चित्रित करने की प्रतीक शैली वैदिक साहित्य में भी सुप्रचलित रही है। आत्म-रूप अश्व को हंस बतानेवाली एक ऋग्वेदीया ऋक्[७६] उपनिषदो और पुराणों में हू-ब-हू आत्मा के प्रसंग में है। कबीर, आदि संतों के भजनों में भी आत्मा को प्रायः हंस कहा जाता है। नौ द्वारों वाले शरीर-रूप पुर् में रहनेवाले हंस को सब चराचर लोक का स्वामी कहा गया है।[७७] बाह्य जगत् के संदर्भ में, विश्वात्मा की कल्पना जब मेध्य अश्व के रूप में की गई तो उसे अनेक प्रकार का बताया गया।[७८] 'उषा मेध्य अश्व का सिर है, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, वैश्वानर अग्नि खुलाहुआ मुख, और संवत्सर अश्व का आत्मा है। द्यौ

* फ़तहसिंह, *सिंधु-घाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक*। इन प्रतीकों के मूल में विद्यमान दार्शनिक विचारधारा को भी सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। देखें, फ़तहसिंह, *स्वाहा* (पत्रिका, राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर), दिसंबर, १९६८, अॅक्टूबर १९६९ के अंक।

इसकी पीठ है, अंतरिक्ष उदर, पृथिवी पादस्थान, दिशाएं पार्श्व भाग, प्रदिशाएं पसलियां, ऋतुएं अंग, मास और अर्ध मास पर्व, दिन-रात प्रतिष्ठा, नक्षत्र अस्थियां, आकाश मांस, बालू ऊवध्य (उदर का अध-पचा अन्न), नदियां नाड़ियां, पर्वत यकृत् और हृदय के मांस-खंड हैं, ओषधियां और वनस्पतियां अश्व के रोम हैं। उदयोन्मुख सूर्य अश्व का ऊपरी भाग, अस्तोन्मुख सूर्य निचला भाग, विद्युत् जमुहाई, घन-गर्जन शरीर का हिलना, वर्षा मूत्रत्याग और वाक् उसका हिनहिनाना है।.........इसने *हय* होकर देवताओं को, *वाजी* होकर गंधर्वों को, *अर्वा* होकर असुरों को और *अश्व* होकर मनुष्यों को वहन किया है।' *तांड्य ब्राह्मण* में, अश्व को उक्त चार के अतिरिक्त *अत्य, मय, सप्ति* और *वृषा* नाम भी दिए गए हैं।[७९]

इन आठ नामों के अतिरिक्त वैदिक हंस-अश्व को सोलह प्रकार का कहा गया है क्यों कि जीव (जिसका वह प्रतीक है) स्वयं बहुरूपिया है।[७६] उसके पक्ष श्येन जैसे और बाहु हरिण सदृश हैं।[८०] उसका सींग सोने का और पैर लोहे के हैं।[८१] अजाश्व रूप[८२] में उसकी बहुरूपता और भी बढ़ जाती है क्यों कि *मैत्रायणी संहिता* के अनुसार, अज तो सब पशुओं का प्रतिनिधित्व करता है।[८३] *अ-ज*(अजन्मा) आत्मा भी है। अत: अजाश्व की कल्पना का तात्पर्य यह है कि आत्मा अ-जन्मा (एक सत्) होतेहुए भी अग्नि, इंद्र, सोम, आदि अनेक प्राणों अथ वा देवों के रूप में कल्पित हो सकता है। ये देव वेद में विभिन्न पशुओं के रूप में कल्पित किए गए हैं और कभी कभी उन पशुओं के सींग भी एक ही होता है। उदाहरण के लिए अग्नि का सींग एक है[८४] और सोम का भी।[८५] मरुत हैं तो अनेक, फिर भी उनका सींग एक है जो गायों के सींग जैसा है।[८६]

अत: सिंधु-मुद्राओं के एक-शृंगी पशु की कल्पना निस्संदेह वैदिक है। एक-शृंगी पशुओं वाली जितनी सिंधु-मुद्राएं मिली हैं उन्हें वैदिक संदर्भ में समझा जा सकता है। उनमें एक-शृंगी पशु यद्यपि एक-सा दिखता है पर अलंकरण, आदि में भिन्नता करके प्रत्येक पशु को जीव के किसी न किसी विशिष्ट रूप का सूचक बनाया गया है। पूर्वोक्त पीपल-वृक्ष से संयुक्त, स-ग्रीव एक-शृंगी दो शिर एक ही आत्मा के क्रमश: कर्ता और भोक्ता पक्ष के द्योतक हैं। इन पक्षों को वैदिक साहित्य में कभी दो पुरुषों और कभी दो अजों के रूप में प्रस्तुत किया गया है—एक *ज्ञ* है दूसरा *अ-ज्ञ*; एक द्रष्टा है, दूसरा फलभोक्ता।[८७] सिंधु-मुद्राओं में कभी कभी एक अर्थ को दो भिन्न पशु-चित्रों द्वारा दिखाया गया है। वैसा उदाहरण वेद में मिल जाता है। उदाहरण के लिए दो ऐसे मुद्रा-चित्रों[८८] को लेते हैं जिनका समान शीर्षक *वृत्र-हा* है। पर एक मुद्राचित्र में एक-शृंगी पशु है और दूसरे मुद्राचित्र में द्वि-शृंगी

वृषभ की लम्बी, उठीहुई पूंछ के साथ आगे हाथी की सूंड है। इससे तुलना के लिए ऋग्वेदीय अग्नि के वे दो रूप ले सकते हैं जिनमें से एक में वह एक-शृंगी पशु है[८८] तो दूसरे में वह एक विचित्र पशु है जो अपने एक मुख से वृषा और दूसरे मुख से वृक्षों को खानेवाला हाथी बन जाता है।[८९] इसी प्रकार, सिंधु-मुद्रा-चित्रों के समान वैदिक साहित्य में भी उष्ट्रमुख अश्व और अज-वृषभ को प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है।[९०]

: ३ :

क्षेत्रिय रोग और राष्ट्र : सिंधु-मुद्रा-चित्रों की सैकड़ों कल्पनाओं में वैदिक विचारों से जो व्यापक सादृश्य है उन सबको यहां बतलाना अभीष्ट नहीं है। तथापि यहां वैदिक एक-शृंगी पशु से संबंधित क्षेत्रिय नामक रोग का उल्लेख समीचीन होगा। इसके विनाश की बात अथर्ववेद, ३.७ सूक्त में देखी जा सकती है। सूक्त का पद्यानुवाद निम्न लिखित है।

द्रुतगामी वृष हरिण के शिर में एक विषाण
तन-व्यापी क्षेत्रिय का उससे करे विनाश।
चतुष्पाद से वृष हरिण तुझ तक गया विषाण
हृदय-छिपी क्षेत्रियता, फेंक रोग महान्।
चतुष्पक्ष छत सदृश जो नीचे ज्योतिष्मान्
सर्व-अंग-क्षेत्रियता रोग उसी से हान।
तारकद्वय द्यौ में सुभग वि-चृत नाम विख्यात
क्षेत्रिय पाशों को हरे अधमोत्तम तत्काल।
अमीवनाशक भेषजी ओंकार जलधार
क्षेत्रियता के रोग से तुरत करें उद्धार।
नक्षत्रों का, उषा का जब होता अपवास
तब हमसे क्षेत्रियता, दुष्ट रोग का नाश।

यहां एक-शृंगी पशु को 'हरिण वृषा' कहा गया है। मनुष्य का व्यक्तित्व जब क्षेत्रियता (अहंकारजन्य संकीर्णता) से ग्रस्त होता है तो उसका उपाय वह शृंग है जहां लिंग-भेद, भाषा-भेद, रंग-भेद, आदि समस्त क्षेत्रियताओं का नाश हो जाता है। यह शृंग मानव के व्यक्तित्व की सर्वश्रेष्ठ ऊंचाई है। क्षेत्रियता-रूप विष की भेषज होने के कारण इस शृंग को *विषाण* कहा गया है। मनुष्य के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश हरिण के चार पैर हैं। इन पैरों से जीव-रूप हरिण वृष हिरण्यय-कोश-रूप द्यौ में स्थित उस शृंग तक द्रुत गति से, ध्यान द्वारा पहुंचता है।

तब चतुर्दिक् छाईहुई ज्योति की छत मनुष्य के अंग से समस्त क्षेत्रियता रोग को निकाल फेंकती है। इस कार्य में, नेत्र-रूप तारिका-द्वय ऊर्ध्वमुख होकर जब ध्यान में केंद्रित होता है और ऊं का अनाहत नाद जलधारा के समान बरसने लगता है तो न केवल शुभेच्छाओं रूप नक्षत्रों की अपि तु चरम-अभिलाषा-रूप उषा की भी समाप्ति हो जाती है। और उसके साथ मिट जाता है समस्त क्षेत्रियता रोग।

इस व्याख्या की युक्तियुक्तता और सार्थकता का प्रसंगोपात्त प्रमाण इस अथर्ववेदीय सूक्त के पूर्वापर संदर्भ हैं। इस सूक्त के पूर्व के सूक्तों में जिन विषयों की चर्चा हो चुकी है वे निम्न लिखित हैं, सूक्त १ और २ में शत्रुसेनासंमोहन। सूक्त ३ में स्वराज्य में राजा का पुन: स्थापन। सूक्त ४ में प्रजाओं द्वारा राष्ट्र में राजा का वरण। सूक्त ५ में राष्ट्र के राजा और 'राजकृत:'। सूक्त ६ में राष्ट्र के शत्रुओं का नाश।

सूक्त ८ में राष्ट्र-धारण का विषय है जिसका लक्ष्य है *बृहत् संवेश्य राष्ट्र* की स्थापना।[९१] पूर्व-सूक्त (३.७) के क्षेत्रिय रोग के विनाश के अनुरूप, यहां मनुष्य के व्यक्तित्व की सब दिव्य शक्तियों का *अहम् उत्तर-त्व* के लिए आह्वान किया गया है।[९२] *अहम् उत्तर-त्व* के परिणाम-स्वरूप राष्ट्र-जनों के मन, व्रत और आकूतियां समन्वित हो जाती हैं। जो लोग राष्ट्र-व्रत के विपरीत होते हैं वे मुख्य राष्ट्रधारा में प्रवाहित होने लगते हैं। राष्ट्र के मन से राष्ट्र-जनों का मन, और राष्ट्र के चित्त से राष्ट्र-जनों का चित्त मिल जाता है। सबके हृदय राष्ट्र के वशीभूत हो जाने से, सब नागरिक राष्ट्र के मार्ग पर चल पड़ते हैं।[९३]

नस्लवादी दृष्टि सर्वथा अभारतीय : यह सब लिखने का एक-मात्र उद्देश्य यह प्रतिपादन करना है कि नस्लवादी दृष्टि का परित्याग कर देने से, सिंधु-सभ्यता और वैदिक सभ्यता में जो तादात्म्य दृष्टिगोचर होता है वह आज भी हमारे ही नहीं, प्रत्येक राष्ट्र के लिए बहुत अधिक मूल्यवान् है।[९४]

संक्षेप में, मेरा मत यह बना कि सिंधु-घाटी के हड़प्पा और मोयाँ-जो-दारो की खुदाई में मिली यज्ञ-वेदियां वैदिक हैं, सिंधु-मुद्राओं पर जो लिपि है वह पूर्व-ब्राह्मी है और उनके लेखों में *ओम्, उमा, इंद्र, मित्र, वरुण, राष्ट्र, वषट्*, आदि जो वैदिक शब्द मिलते हैं उनके आधार पर इन नगरों की सभ्यता को निश्चयपूर्वक वैदिक मानना पड़ता है। साथ ही, अनेक सिंधु-मुद्राओं पर नारियल के पेड़ के चित्र हैं और उन पर *इंद्रामित्रा* लेख है। यह संभवत: उस *द्रामित्र* शब्द का पूर्व-रूप हो जिससे *तमिळ* शब्द निष्पन्न हुआ है। नारियल के पेड़ के साथ कुछ मुद्राओं पर *ऐन्द्रा:* और *मैत्रा:* शब्द मिले हैं। ये 'आंध्रा:' और 'मैद्रास:' के पूर्व-रूप हो सकते हैं।

● इसके अतिरिक्त प्राचीन तमिळ साहित्य से भी प्रमाणित होता है कि तथाकथित द्रविड-सभ्यता वस्तुत: वैदिक ही थी। उदाहरण के लिए, प्राचीनतम तमिळ ग्रंथ, *तौलकप्पियम्* के अनुसार देश की सारी भूमि वन, गिरि, जल और कृषि में विभक्त थी। इनके अधिष्ठातृ-देव क्रमश: विष्णु, सुब्रह्मण्य, वरुण और इंद्र नामक वैदिक देव थे। कृष्णस्वामी आयंगर[९५] ने तमिळ के प्राचीन संगम साहित्य का प्रमाण देकर बतलाया है कि प्राचीन तमिळ परंपरा में राष्ट्रभूमि को दक्षिण के चैरा-पांड्या से लेकर उत्तर के हिमालय तक माना जाता था और राष्ट्रभूमि से जिन देवों का संबंध माना गया था उनमें विष्णु, रुद्र, सुब्रह्मण्य, इंद्र, आदि वैदिक देव भी हैं। *शीलप्पाधिकारम्* नामक प्राचीन तमिळ काव्य में एक ऐसे कैलास-निवासी विद्याधर का उल्लेख है जो अपनी प्रिया को हिमालय के शिखर, गंगा की धारा, उज्जयिनी, विंध्याटवी, तिरुपति पर्वत और कावेरी की उपकंठ भूमि को दिखाताहुआ दक्षिण की पुहार नगरी में इंद्रमहोत्सव देखने आया था।

किसी अब्राह्मण (मलंकिकार) कवि द्वारा कोणिन्यन नामक ब्राह्मण की प्रशंसा में लिखित, एक अतिप्राचीन कविता *तोलकप्पियम्* के भाष्य में उद्धृत है। इस कविता का उल्लेख आयंगर ने किया है। इस वंश के ब्राह्मणों की प्रशंसा करतेहुए कवि लिखता है, 'आपका जन्म ऐसे ब्राह्मण-वंश में हुआ जो समस्त वेद-वेदांगों में पारगंत था और जिसने वैदिक धर्म के सत्य को इक्कीस प्रकार के श्रौत यज्ञों द्वारा अभिव्यक्त किया था। आप कृष्णाजिन और यज्ञोपवीत धारण करते हैं। आपकी पतिव्रता धर्मपत्नियां ऐसी मणियों को धारण करती हैं जो महायज्ञों के ऋत्विजों की पत्नियों के योग्य हैं। वे परम सुंदरी हैं और आपकी कुलमर्यादा के अनुसार आचरण करती हैं। आप चाहे वन में रहो या गांव में, वे विविध प्रकार की गायों की सेवा द्वारा घी को पानी की तरह बहाकर आपके आदेश का पालन करती हैं। उनकी सहायता से असंख्य यज्ञों को करके और समस्त पृथिवी पर अपना यशो-विस्तार करके आप यज्ञों की समाप्ति पर अभ्यागतों को बृहद् भोज देकर कीर्तिमान् होते हो। हमारी कामना है कि हम आपकी इस उच्च प्रतिष्ठा को देखने का सौभाग्य निरंतर पाते रहें।.......आप पृथ्वी पर जहां भी रहो, उत्तुंग हिमालय के समान ध्रुव रहो और स्वयं हिमालय के समान निरंतर वृष्टि करते रहो।'

इस प्रकार, तमिळ साहित्य के आदि काल से लेकर मध्य काल तक, दक्षिण भारत वैदिक संस्कृति का गढ़ रहा था। यही कारण है कि जब जब उत्तर भारत में वैदिक यज्ञों के जानकार पंडितों का अभाव हुआ तब तब उन्हें दक्षिण से लाया गया, और जब जब उत्तर में धर्म का ह्रास हुआ तो उसका उद्धार करने के

लिए शंकर, मध्व, वल्लभ, प्रभृति आचार्य दक्षिण से उत्तर में आए। ऐसी स्थिति में, जब कुछ विद्वान् जान-बूझकर द्रविड़-सभ्यता को अवैदिक सिद्ध करने के लिए कुछ प्रमाण घड़ते हैं तो यह हास्यास्पद प्रतीत होता है।

उदाहरण के लिए कुछ विद्वानों ने जब दक्षिण के *मुरुगन* को अनार्य देवता कहा तो यह वे भूल गए कि *मुरुगन* वस्तुतः वैदिक *मरुद्गण* हैं। इन दो नामों में ध्वनि-साम्य ही नहीं है अपि तु दोनों की मुख्य विशेषताओं में भी साम्य देखा जा सकता है। मुरुगन लाल (अग्निवर्ण) है। वैदिक मरुद्गण को प्रायः अग्नि के समान,[९६] अग्निरूप,[९७] अग्निश्रिय,[९८] अरुणप्सव,[९९] और अग्निजिह्वा के समान[१००] कहा जाता है। मुरुगन वृक्षों से ढकी ऊंची पहाड़ियों पर स्थित कहा जाता है, तो मरुद्गण भी गिरियों में रहनेवाला है। उनका *गिरि-स्थाः* विशेषण बहुत प्रसिद्ध है।[१०१] उनसे संबंधित गिरियों को *वृक्ष-केशाः* कहा गया है।[१०२] *तौलकप्पियम्* में मुरुगन को जिस पहाड़ी क्षेत्र का अधिपति माना गया है उसे *कुरञ्जी* कहा गया है। उसके साथ नृत्य करनेवाली गिरिबालाओं को *कुरव,* और नृत्य को *कुरवइ* बताया गया है।[१०३] स्पष्टतः उक्त तीनों तमिळ शब्दों में *कुर* भाग संस्कृत के *गिरि* शब्द से साम्य रखता है। वैदिक मरुतों के साथ, 'गिरि' के अतिरिक्त *अञ्जि* शब्द विशेष रूप से जुड़ा हुआ है; *अञ्जिमन्तः* विशेषण वेद में एकमात्र मरुतों के लिए प्रयुक्त है।[१०४]

मुरुगन के समान, वैदिक मरुद्गण भी नृत्य और क्रीड़ा का प्रेमी है और बालाओं से उसका विशेष संबंध है।[१०५] इसी लिए मरुतों को सुंदर स्त्रियों वाले *(भद्र-जामयः)* कहा जाता है।[१०६] मुरुगन वीरता के लिए प्रसिद्ध है। उसे सेनानी कार्तिकेय या स्कन्द के रूप में भी मान्यता मिली है।[१०७] वेद का मरुद्गण भी वीर, सेनानी है।[१०८] उसका भी समीकरण सेनानी स्कंद के साथ नितांत स्वाभाविक है क्यों कि स्कंद के समान, वैदिक मरुद्गण रुद्र का पुत्र कहा गया है।[१०९] और, स्कंद[११०] के समान, मरुद्गण की भी उत्पत्ति अग्नि से स्वीकार की गई है।[१११] मुरुगन से संबंधित मयूर[१०३] पक्षी न केवल पौराणिक स्कंद का वाहन है अपि तु उसे मरुद्गण के *हंसासः नील-पृष्ठाः* विशेषणों में देखा जा सकता है।[११२]

● सच बात तो यह है कि वैदिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध, आदि प्राचीन परंपराओं का जो रूप संस्कृत, तमिळ, पालि, प्राकृत, आदि भाषाओं के प्राचीन साहित्य में, अथ वा स्थापत्य, संगीत, आलेख्य, आदि कलाओं में आज मिलता है उसमें, कहीं भी तो यह नस्लवादी दृष्टि नहीं मिलती है जिसे साम्राज्यवादियों के बहकावे में आकर आज ज़ोर-शोर के साथ अपनाया जारहा है। पुराणों में पूरे भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों और भागों में रहनेवाले लोगों को गिनाया गया है। पर

वे सबके सब भारतीय कहे गए हैं। *विष्णु पुराण* के अनुसार, समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण जो भारतवर्ष है उसमें *भारती-संतति* रहती है।[११३] *भागवत पुराण* ने भारत के जनों को *भारती प्रजा* कहा है।[११४] इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि वे सब एक ही वंश, जाति, धर्म अथ वा भाषा के लोग थे। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* भारत की नदियों का उल्लेख करने के पश्चात् उनके बीच बसेहुए कुरु, पांचाल, मध्यदेश, पूर्वदिश, कामरूप (आसाम), ओड्र (उड़िया), कलिंग, मगध, अपरान्त, सौराष्ट्र, अर्बुद(आबू), मारूक (मारवाड़), मालव, सौवीर, सिंधु, शाकल (स्यालकोट), मद्र, रामा (लामा), दाक्षिणात्य, पारियात्र-निवासी, हूण, अम्बष्ठ, पारसीक, आदि अनेक जन का उल्लेख करता है। अन्य पुराणों ने विभिन्न प्रदेशों के जनों का इस प्रकार नामोल्लेख किया है।

मध्यप्रदेश : मत्स्य, कुशूल, कुल्य, कुन्तल, काशी, कौशल, पुलिंद, समक और वृक।

सह्य प्रदेश : बाह्लीक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, पह्लव, चर्मखंडिक, गांधार, यवन, पारद, आहारभूषिक, माठर, केकय, दशमानिक, काम्बोज, दरद, बर्बर, अंग, आत्रेय, भारद्वाज, प्रस्थल, दशेरक, लम्पक, सूनकार, चूलिक, जाह्नव, अपथ, अलिभद्र और किरात।

उदीच्य प्रदेश : तामस, हंसमार्ग, काश्मीर, तंगन, हुडुक और ऊर्ण।

प्राच्य प्रदेश : अंध्रवाक, मुद्गरक, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, प्लवंग, बंग, मलद, मलवर्तिक, ब्रह्मोत्तर, प्रविजय, प्राग्ज्योतिष, मद्र, विदेह, ताम्रलिप्ति और गोमेद।

दक्षिणापथ : पाण्ड्य, केरल, चोल, सेतुक, कुमार, महाराष्ट्र, आभीर, ऐषीक, आटव्य, शबर, पुलिंद, विंध्यमालेय, वैदर्भ, दंडक, पौरिक, मौलिक, अश्मक, तैलिक, अंध, उद्भिद और नालकारक।

विंध्य प्रदेश : मरुकच्छ, कच्छ, मजल, करुष, मेकल, उत्कल, उत्तपर्ण, दशार्ण, भोज और त्रिगर्त।

अपरान्त प्रदेश : सोपरिक, कालनद, दुल्ल, तालीयक, कारस्कर, लोहजंग, वानेय, राजमुद्रक, त्रैपुर, तुम्वर, पाटव, नैषध, महज, करुष और मेकल।

पर्वतीय प्रदेश : निहार, कुपथ, खश, कुत्सु, प्रावरण, दर्व्व और सहुहुक।

भारती संतति क्यों : पुराणों में उल्लिखित जनों की यह लम्बी सूची यहां देने का तात्पर्य यह है कि इनमें निस्संदेह विभिन्न नस्लों, भाषाओं, मान्यताओं, पूजापद्धतियों और रस्म-रिवाजों वाले लोग रहे होंगे। फिर भी इन सबको *भारती प्रजा* अथ वा

भारती संतति कहा गया। इसके पीछे जो रहस्य है उसकी खोज आवश्यक है। क्यों कि यही निर्विवाद रूप से वह *प्रगतिशील भारतीयता** है जिसने यहां के राष्ट्रीय समाज को बहुभाषाभाषी, बहुधर्मावलंबी और बहुनस्ली बनायाहुआ है। इसकी खोज करने चलते हैं तो पता चलता है कि 'भारती संतति' अथ वा 'भारती प्रजा' वस्तुत: *ऋग्वेद* के *भारत जन*[११५] का अनुवाद है। अत: जिस सिद्धांत के आधार पर इस विशाल और विविध जनसमूह का नामकरण हुआ उसका पता हमें वेदों से ही लग सकता है।

आम तौर पर पौराणिक आख्यानों में इतिहास देखनेवाले विद्वान् तो कह देंगे कि जिस भरत चक्रवर्ती के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा था उसकी संतान होने के कारण यहां के लोगों को *भारत जन, भारती संतति* अथ वा *भारती प्रजा* कहा गया था। पर हम देख चुके हैं कि पौराणिक सूची में पारसीक, यवन, हूण, जैसे कई नाम, निस्संदेह, बाहर से आनेवालों के हैं। अत: यदि एक भरत की असंख्य संतान होने की संभावना को स्वीकार कर भी लें, तो भी उक्त नामकरण का आधार कोई व्यक्ति-विशेष नहीं हो सकता है। 'भरत' नाम *ऋग्वेद* में मिलता है। *भरतस्य सूनवः,*[११६] *भरताः*[११७] कहकर उसकी संतान का भी उल्लेख है। पर *ऋग्वेद* में, स्पष्टत:, *भरत* अग्नि का विशेषण है। इसका विस्तृत प्रकाश सूर्य के समान चमकता है।[११८] *तैतिरीया संहिता* में, अग्नि ही राजा भरत है।[११९] *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार, अग्नि 'भरत' इसलिए कहलाता है क्यों कि यह, प्राण होकर प्रजाओं का, भरण-पोषण करता है।[१२०] इसलिए *ऐतरेय ब्राह्मण* प्राण को भरत कहता है।[१२१]

महाभारत और पुराणों के भरत नामक चक्रवर्ती के विषय में कहा गया है कि उस महात्मा के महत्, दिव्य, भास्वर, अंजित और सदुद्घोषक चक्र का लोक में प्रवर्तन होता था।[१२२] इस महत्, दिव्य भास्वर चक्र में पूर्वोक्त वैदिक भरत अग्नि के उस *बृहद् भाः* के दर्शन होते हैं जिसकी तुलना सूर्यचक्र के तेज से की गई है। उस चक्र को 'द्वादशार ऋत-चक्र' भी कह सकते हैं जो अजर होकर प्रवर्तमान है।[१२३] प्रकारांतर से, यही इंद्र के *अघ्न्य* (अहन्य) हिरण्यय रथ की मूर्धा पर विराजमान चक्र है।[१२४] यही कारण है कि वैदिक ऐंद्र पद को परवर्ती परंपरा में 'चक्रवर्ती' पद माना गया था।[१२५] और चक्रवर्ती राजा के अभिषेक का नाम ऐन्द्र महाभिषेक' हो गया था। वस्तुत: यह ऋत-चक्र मनुष्य के व्यक्तित्व में अन्तर्हित है। इसी लिए उसकी कल्पना मनुष्य-रथ के रूप में करके उसे, दृष्टि-भेद से,

* देखें, फ़तहसिंह, *प्रगतिशील भारतीयता को वेदों की देन* (विद-संस्थान का प्रकाशन)

अ-चक्र एक-चक्र, द्वि-चक्र, त्रि-चक्र, सप्त-चक्र अथ वा अष्ट-चक्र के रूप में कल्पित किया जाता है।

इसी आधार पर *अथर्ववेद* में मनुष्य के व्यक्तित्व को एक अष्ट-चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या नामक देवपुरी बताया गया है।[४२] इस पुरी के अन्तस्तम स्तर को हिरण्यय कोश नामक ज्योतिर्मंडित स्वर्ग कहा गया है। इस हिरण्यय कोश की तुलना इंद्र के पूर्वोक्त हिरण्यय रथ से कर सकते हैं। यह कोश मानव के पूरे व्यक्तित्व का 'कारण' देह है जिससे प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्, इनका एक सप्त-नेमि ऋत-चक्र उदित होकर परितः गतिमान् होता है।[१२४] प्रथम स्तर पर अग्नि एक अद्वैत मानुष है। वही अन्य स्तर पर *सप्त-मानुष*[१२६] या *सप्त-होता*[१२७] कहलाता है। पहला अग्नि *भरत* है, तो अन्य अग्नि *भरताः* अथ वा *भरत-पुत्राः* हैं। प्रथम स्तर 'प्रजापति' है, तो दूसरे स्तर पर उसकी अनेक अभिव्यक्तियों को 'प्रजाएं' कहा जा सकता है। यही कारण है कि प्रजाओं का भरण करने के कारण अग्नि को 'भरत' कहा जाता है। प्रजापति की भी, इसी आधार पर, 'भरत' संज्ञा होती है।[१२९] यह भरत अग्नि अथ वा प्रजापति मनुष्य के भीतर मननशील (मनु) बनकर भरण-पोषण करने से 'भरत' कहलाता है।[१३०] अतः उस परिप्रेक्ष्य में वस्तुतः मनुष्य का व्यक्तित्व ही 'भारत वर्ष' है।[१३१]

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि जिस भरत के नाम पर हमारी इस राष्ट्रभूमि को 'भारत', और इसके जनसमूह को 'भारत जन' अथ वा 'भारती संतति' कहा गया था वह, वास्तव में, मनुष्य के व्यक्तित्व के मनौवैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त आंतरिक मानुष है। वहां नस्ल, भाषा, मज़हब, जात-पांत, रूप-रंग, आदि का भेदभाव नहीं किया जा सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की इच्छाओं, भावनाओं, क्रियाओं, आदि के रूप में कल्पित प्रजाओं का भावन, मनन, प्राणन, आदि द्वारा भरण-पोषण करने से उसी (आन्तरिक मानुष) को *भरत, प्राण, प्रजापति, मनु*, आदि कहा जाता है। वेदकालिक राष्ट्रभूमि का जनसमूह भी अनेक भाषाओं को विविध प्रकार से बोलनेवाला और अनेक धर्मों वाला था।[६४] पर अनेकता में एकता की खोज करनेवाली आर्ष बुद्धि ने जन-जन में एक ऐसे *विश्व-मनस्*[१३२] और *विश्व-मानुष*[१३३] को ढूंढ निकाला था जो सर्वत्र, सबके भीतर, समान रूप से भरण-पोषण करने से *भरत*, और रंजन करने से *राजा* कहलाने का अधिकारी है। मनुष्य के व्यक्तित्व का यही वह स्तर है जहां, वेद के अनुसार, अनेकतामय विश्व *एक-रूप*[१३४] अथ वा *एक-नीड*[१३५] होताहुआ कहा जाता है। *अथर्ववेद* ने मनुष्य के व्यक्तित्च के अनेकतामय स्तर को *पृथिवी* कहा है और एकत्व

के स्तर को *भूमि* कहा है। *भूमि* जो पृथिवी का परम व्य्-ओम में स्थित, सत्य से आवृत, अमृत हृदय है। वह किसी भी उत्तम राष्ट्र को तेज और बल प्रदान कर सकती है। उस तक मनीषी ही पहुंच पाते हैं क्यों कि वह उस देश-कालातीत स्तर पर स्थित है जिसे चेतना-समुद्र का शांत सलिल कहा गया है।[१३६]

उत्तम राष्ट्र की संगमनी राष्ट्री : मनीषियों द्वारा प्राप्तव्य, आंतरिक *भूमि* का यह तेज और बल आज मानव-मात्र को चाहिए क्यों कि सब अपने अपने राष्ट्र को उत्तम बनाना चाहते हैं। इसी *भूमि* को, एक दूसरी दृष्टि से, *संगमनी राष्ट्री वाक्* कहा जाता है। यह प्रथमा चेतना है। तथापि यह अनेक रूपों में स्थित है और अनेकतामयी प्रजाओं में प्रवेश करनेवाली है।[६५] इस राष्ट्री वाक् की योनि भी उक्त चेतना-समुद्र में ही है।[१३७] यह समुद्र वह अन्तस्तम स्तर है जहां पहुंचकर मनुष्य के स्थूल अंगों में रमनेवाले प्राण ध्रुव हो जाते हैं। प्राणों का यह ध्रुव स्वरूप उत्तम राष्ट्र के अध्यक्ष को समुचित दृष्टि दे सकता है, जैसा कि ध्रुव ऋषि के ऋग्वेदीय सूक्त (१०.१७३) से ज्ञात होता है। इस सूक्त का अविकल पद्यानुवाद नीचे दिया जारहा है।

मैं तुझको अन्तस् तक लाया, ध्रुव हो जा अच्युत उपविष्ट।
तुझे प्रजाएं प्यार करें सब, राष्ट्र न होवे तुझसे भ्रष्ट। १
यहीं रहो, मत च्युत हो जाना, पर्वत सम होना अविचल।
इंद्र समान यहीं ध्रुव बैठो, ऊं राष्ट्र धारो अविरल। २
ध्रुव हवि द्वारा ऊं राष्ट्र यह ध्रुव था इंद्र देव ने धारा।
उसे सोम ने, ब्रह्मणस् पति ने ऊं राष्ट्र था उच्चारा। ३
ध्रुव होवे द्यौ, पृथिवी हो ध्रुव, ध्रुव होवें ये पर्वत सारे।
विश्व जगत् यह ध्रुव हो जावे, राजा प्रजा अचल हो धारे। ४
हे राजन्, ध्रुव राष्ट्र तुम्हारा राजा वरुण बृहस्-पति धारें।
राष्ट्र तुम्हारे को ध्रुवत्व दे, इंद्र अग्नि हर दम ही धारें। ५
ध्रुव हवि द्वारा अचल सोम का, हम हैं अभिमर्षण करते।
जिससे इंद्र प्रजा तेरी को, तेरी ही बलिहृत् कर दे। ६

ऊं राष्ट्र : यह सूक्त अभिषिक्त राजा के लिए उपदेश है। उपदेश में ऊं राष्ट्र का दो बार प्रयोग है। राजा को *ऊं राष्ट्र* को वैसे धारण करना है जैसे इंद्र ने किया था। इंद्र ने *ऊं राष्ट्र* को *ध्रुव हवि* द्वारा धारण किया था। यह 'ध्रुव हवि' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर प्रथम मंत्र में ही प्राप्त हो जाता है। इसके अनुसार, ध्रुव प्राण जीव-रूप राजा को अंतस् में ले जाता है और उसे वहीं ध्रुव (अचल) होने को कहता

है। अंतर्मुखी चित्तवृत्तियों को सर्वथा निरुद्ध करके कुछ समय अचल भाव से स्थिर हो जाना 'ध्रुव हवि' है। इसके द्वारा जीव व्यष्टिगत राष्ट्र पर आधिपत्य स्थापित करके उसका धारक इंद्र बनता है। तब वसु, रुद्र, आदित्य, विश्व देव और मरुत नामक प्राण (*विशः*) उसके अधीन हो जाते हैं क्यों कि वह सबका भरण-पोषण निष्काम और निष्पक्ष भाव से करता है। पिंडांड के इस इंद्र के समान, ब्रह्मांड का इंद्र (परमेश्वर) भी प्रकृति की सब शक्तियों का और जगत् के सब जीवों का भरण-पोषण निष्काम और निष्पक्ष भाव से करता है। अतः जब किसी पार्थिव राजा से कहा जाता है कि वह अंतः में प्रवेश करके ध्रुव और अचल होकर अपनी प्रजाओं का प्रेम प्राप्त करे, तो अभिप्राय यह होता है कि वह आध्यात्मिक गहराई और ऊंचाई को प्राप्त करे ताकि वह निष्काम, निःस्वार्थ और निष्पक्ष होकर प्रजापालन कर सके। यह आध्यात्मिक गहराई और ऊंचाई मनुष्य को ध्यान की उस ध्रुवता में मिलती है जिसमें वह अपने भीतर ॐ का अनाहत नाद सुनने लगता है। इस अभ्यास से मनुष्य के व्यक्तित्व-रूप राष्ट्र का जो स्वस्थ, समन्वित और सामंजस्यपूर्ण स्वरूप उभरता है वही वस्तुतः *ॐ राष्ट्र* है।

उक्त सूक्त के तीसरे मंत्र में *ॐ राष्ट्र* को कहनेवाले *सोम* और *ब्रह्मणस् पति* बताए गए हैं। तात्पर्य यह है कि इस आध्यात्मिक राष्ट्र की पूर्णता तब आती है जब व्यक्ति ध्यान में उस हिरण्यय कोश के ज्योतिर्मंडित स्वर्ग में पहुंचता है[१५८] जहां ब्रह्म-रूप यक्ष आत्मन्वत् होकर विराजमान है; क्यों कि वहीं उसे ब्रह्मानंद-रूप *सोम* और आत्म-रूप *ब्रह्मणस् पति* की उपलब्धि होती है। जो पार्थिव राजा ऐसी आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंचता है उसके विभिन्न स्थूल प्राण ध्रुव बनकर ध्रुव हवि (अचल ध्यान) द्वारा ध्रुव सोम (ब्रह्मानंद) का साक्षात्कार करते हैं। उसकी प्रजा को इंद्र (परमेश्वर) अनन्य राजभक्त बनाता है। यह बात सूक्त के अंतिम मंत्र में स्पष्ट बताई गई है। ऐसे राजर्षि के उदाहरण राम हुए जिनका *रामराज्य* सदा के लिए आदर्श बन गया। इसी प्रकार के आदर्श की स्मृति से प्रेरित होकर यूनानी मनीषी, प्लेटो ने राजा को दार्शनिक होने का विधान किया होगा।

आज की सिद्धांतहीन राजनीति को देखतेहुए, यह सब अविश्वसनीय लगता है। पर यदि राष्ट्राध्यक्ष को सचमुच सर्वथा निःस्वार्थ, निष्काम और निष्पक्ष होकर न्यायसंगत प्रशासन चलाना है तो, निस्संदेह, उसे सर्वप्रथम, अपने व्यक्तित्व को ॐ राष्ट्र बनाना होगा और राष्ट्र के आभिजात्य वर्ग में अपने को सर्वोत्तम बनाना होगा।[१३८] वेदों में मनुष्य के व्यक्तित्व के इस आदर्श रूप को भिन्न भिन्न ढंग से बार बार चित्रित किया गया है। *अथर्ववेद* के एक सूक्त, १०.५ में मनुष्य के

व्यक्तित्व को ओजस्, सहस्, बल, वीर्य और नृम्ण नामक शक्तियों से युक्त करने के लिए क्रमशः ब्रह्मयोगों, क्षत्रयोगों, इन्द्रयोगों, सोमयोगों और भूतयोगों का विधान किया गया है। उसी वेद के एक सूक्त, १०.४ में हिरण्यय कोश के आत्मा को स्थिर *(स्थाणुं)* मानकर उसे सक्रियता प्रदान करनेवाले विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों को क्रमशः इंद्ररथ, देवरथ, वरुणरथ और अहिरथ के रूप में चित्रित किया गया है। इन चार रथों के रूप में उक्त स्थाणु पुरुष निष्क्रिय से सक्रिय होकर अपने पूरे व्यक्तित्व के अंगों रूपी प्रजाओं (*विशः*) को धारण करने के कारण *धर्मः* (पुं.) कहाता है तो रंजन करने से *राजा* कहलाता था।[१३९] यजुर्वेद में, उसे राष्ट्र का दाता *(राष्ट्र-दाः)* मानकर, उसे राष्ट्र को प्रदान करने के लिए कहा गया है।[१४०] उसके प्राणों *(आपः)* की क्रियाओं के विविध आयामों की ओर भी इंगित किया गया है।[१४१]

इस व्यष्टिगत ऊं राष्ट्र को हृदयंगम किए बिना उन अनेक देवों, आदि के स्वरूप को समझना असंभव है जिनके नाम न केवल वेदों और पुराणों में अपि तु सिंधु-मुद्राओं में भी भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए, *यजुर्वेद* में वर्णित पूर्वोक्त प्राणों (*आपः*) का समस्त प्रसंग मित्र-वरुण और इंद्र के संदर्भ से आरंभ होता है।[१४२] मित्र-वरुण इन प्राणों (*आपः*) द्वारा अभिषेक करके आत्मा (इंद्र) को शत्रुओं पर विजयी बनाते हैं। *ऋग्वेद* ४.४२ सूक्त की आदिम ऋक् में राष्ट्र के ब्रह्मांडीय रूप का उल्लेख है। वहां इंद्र (परमेश्वर) के एक द्विविध राष्ट्र की चर्चा है। उस राष्ट्र में इंद्र का निकटतम भागीदार वरुण है। इसलिए इंद्र कहता है कि मैं वरुण हूं, ऋक् २। मनुष्य के व्यक्तित्व में *अहम् उत्तर-त्व* को लाकर उसे जिस *बृहत् संवेश्य राष्ट्र* के उपयुक्त बनाने की चर्चा की गई है उस राष्ट्र में भी मित्र, वरुण, वायु, अग्नि, इंद्र, त्वष्टा, धाता, सविता, अदिति, सोम, आदित्यों और 'विश्व' देवों के सहयोग का उल्लेख हुआ है।[९१-९३] *अहम् उत्तर-त्व* का अभिप्राय है शरीर में केंद्रित अवर अहंकार का उत्तरोत्तर त्याग, दीर्घ तम में सोएहुए अग्नि का जागरण और अधम अरणि को छोड़कर उत्तम अरणि की ओर प्रस्थान। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य के मूलाधार चक्र से ईं नामक उदक (उदञ्चनशील—'अग्नि' प्राण) उठता है और उधर ऊपरी सहस्रार चक्र से इंद्र का *ऊं* नामक ज्येष्ठ इंद्रिय अवतरण करता है। तब असुर अपनी माया से रहित हो जाते हैं और वरुण देवों के राष्ट्र का आधिपत्य पा लेता है। वृत्र के भय से मुक्त हुए दिव्य आपः के साथ इंद्र *स-युज् हंस* बन जाता है। फिर वह मानव के व्यक्तित्व में *पंच-याम त्रि-वृत् सप्त-तन्तु यज्ञ* का रूप धारण करता है। इसका सुंदर चित्रण ऋग्वेदीय सूक्त १०.१२४ में हुआ है। सूक्त

का पद्यानुवाद निम्न प्रकार है।

१ देवों द्वारा अग्नि का आह्वान

दीर्घ तमस् में चिरशायी हे अग्नि! यज्ञ में आओ,
पंच-याम इस सप्त-तंतु में, त्रि-वृत यज्ञ में आओ,
हव्यवाह तुम बनो हमारे, नेता होकर आओ।१

२ अग्नि का उत्तर

मैं हूं देव, अदेव धाम को छोड़ चला, मैं देखरहा
अशिव हो गया था मैं, फिर भी शिव अमृतत्व निहाररहा,
आवाहन पर मैं तुम सबके, स्व के सख्य को त्यागरहा,
अरणी केंद्रभूत जो मेरी, उधर पगों को बढ़ारहा।२
उस गंतव्य अरणि का जो है अतिथि, उसी को देखरहा,
ऋत के धाम, निमित्त उसी के, विविध अनेकों बनारहा,
'क्या सुख है' यह असुर पिता को, करता मैं उपदेश चला,
यज्ञ-भाग की ओर बढ़े पग, लो अयज्ञ को छोड़ चला।३
वर्ष अनेक बिताए जिस घर, उसको मैंने छोड़ दिया,
इंद्र देव को वरण कररहा, असुर पिता को त्याग दिया,
अग्नि, सोम च्युत वरुण जिसी से, उसी राष्ट्र की रक्षा करता,
मैं आता हूं पुनः लौटकर, 'तत् राष्ट्रम्' की अलख जगाता।४
वरुण! मुझे तुम चाहरहे, वे असुर ऊं हैं माया तजकर,
अधिपति बनो राष्ट्र के मेरे, ऋत से राजन्! अमृत पृथक् कर।५
यह स्वः ज्योति, 'वाम' है यह ही, यह प्रकाश, उरु अंतरिक्ष यह,
सोम! निकल आ, दोनों मिलकर, करें वृत्रवध, रचें यज्ञ यह,
तू ही हवि है, मिलकर दोनों, आओ हवि से यज्ञ करें यह।६

३ निष्कर्ष

कवि साधक जब निज प्रज्ञा से, दिव्य रूप में मगन हुआ,
तभी मित्र से (अल्प वरुण से), आपः का था सृजन हुआ,
करती हुई क्षेम-संपादन, महिलाओं सी शुचि सरिताएं
धारण करती वर्ण उसी का, उमड़ पड़ीं चेतन-धाराएं।७

इंद्रिय ज्येष्ठ इंद्र की जो है, ई नाम है प्यारा।
सेवन करती आज उसी का, सकल चेतना-धारा,
स्वतः मग्न धाराओं में है, वास ई का चहुं दिश्
आज ई को राजा चुनती, वे हैं उनकी निज विश्
वृत्र-त्रास से कभी हुई थीं त्रस्त, आज थीं वे खुश।८

भय से भीत दिव्य आपः का, सख्य जिसे है प्यारा,
उनका तो वह 'सयुज हंस' है, कहना है यह सारा,
है मनुष्य-व्यक्तित्व 'अनु-स्तुप्', कण कण इंद्र रमा है,
कविगण उसे मनीषा से ही, रमता देखरहा है।९

३ आर्य-शूद्र-वैमनस्य और वैदिक दृष्टि

मेरे वैदिक अनुसंधान के तीसरे दौर का आरंभ सन् १९७० में राजस्थान-राजसेवा से मुक्त होने के पश्चात् आरंभ होता है। राजसेवा से मुक्त होने का एकमात्र कारण मेरे द्वारा की गई सिंधु-सभ्यता विषयक शोध थी। यों तो, जब मुझे १९६७ में महाविद्यालय से स्थानांतरित करके राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान का निदेशक बनाया गया था तो मुझे आश्वासन दिया गया था कि मैं तत्कालीन निवर्तमान निदेशक, मुनि जिनविजय के समान पिछत्तर वर्ष के वय: पर्यंत उस पद पर कार्य करता रहूंगा। पर ऐसा नहीं हो सका क्यों कि स्वतंत्र भारत के नेतृत्व और नौकरशाही को मेरा कार्य राष्ट्रविरोधी प्रतीत हुआ।

आर्य-द्रविड विवाद का भय : जैसा कि पिछले खंड में लिखा गया है, इस प्रतिष्ठान में आते ही मैंने एक ऐसे शोध कार्य में हाथ डाल दिया जो आर्य-द्रविड विवाद में फंसाहुआ था। यद्यपि यह विवाद ब्रिटिश शासनकाल में साम्राज्यवादी लेखकों और विदेशी मिशनरियों के गठ-जोड़ से उठा था, पर कौन जानता था कि स्वतंत्र भारत में भी राष्ट्र के कर्णधार उस रोग से पीड़ित होंगे। इसका पता सर्वप्रथम तब चला जब दिसंबर, १९६८ में पद्मधर पाठक ने *डिसाइफ़र्मेण्ट ऑव् इंडस् स्क्रिप्ट* शीर्षक से मेरे अनुसंधान की सूचना दिल्ली के *हिंदुस्तान टाइम्स* पत्र को भेजी। उनका लेख जब दो महिने तक प्रकाशित नहीं हुआ तो उन्होंने लगातार दो व्यक्तिगत पत्र उस समय *हिंदुस्तान टाइम्स* के मुख्य संपादक, वर्गीज़ को लिखे। तब कहीं वह लेख उस दैनिक में छपा। बाद में पता लगा कि उस लेख को दबाने का दुष्प्रयास पत्र के संपादक-मंडल के एक दक्षिण भारतीय का था।

इस लेख के छपने के बाद संपादक के नाम पत्रों की झड़ी लग गई और भारत सरकार के पास अनेक तार और पत्र पहुंचे। इन सबमें मेरी शोध का तीव्र विरोध था। कोई इसमें दक्षिण भारत का अपमान समझता था, तो कोई उन विद्वानों का जिन्होंने सिंधु-सभ्यता को द्रविड-सभ्यता कहा था। एकाध का कहना था कि इस विषय में निष्पक्ष शोध कार्य तो योरोपियन विद्वान् ही कर सकते हैं। कुछ पत्रों में मेरे कार्य को एक दुस्साहस और अनधिकार चेष्टा बताया गया था, तो अन्यों में उसे द्रविड-जाति के विरुद्ध अपप्रचार और अनादर की संज्ञा दी गई थी। कुछ ऐसे पत्र भी थे जो मेरे कार्य को आर्यों द्वारा द्रविडों की अस्मिता को मिटाने का एक नवीन दुष्प्रयास समझते थे। उनमें यह धमकी भी दी गई थी कि यदि सिंधु-सभ्यता को आर्य-सभ्यता सिद्ध करने का यह स्वप्न चलता रहा तो द्रविडों को इसके विरुद्ध ज़ोरदार आंदोलन करना पड़ेगा।

इस प्रचार से दुष्प्रभावित होकर, *हिंदुस्तान टाइम्स* के साप्ताहिक संस्करण का एक पूरा अंक सिंधुघाटी-सभ्यता की समस्या पर विचार के लिए समर्पित किया गया। उसमें पुरातत्त्ववेत्ताओं के कई लेख छपे। सबने यही मानते हुए लिखा कि आर्य-जाति के लोग भारत में बाहर से आए थे और उन्होंने यहां के आदिवासियों को दास बनाया था। उन सबने अरविंद, बाशम, ए सी दास और संपूर्णानंद, आदि उन विद्वानों की सर्वथा उपेक्षा की थी जिनकी मान्यता थी कि आर्य और द्रविड नाम की कोई नस्लें नहीं हैं और वेद में वर्णित दासों या दस्युओं को कोई आदिवासी जाति नहीं माना जा सकता है। सबका कहना था कि सिंधु-लिपि को जब तक पढ़ा नहीं जाता तब तक वास्तविकता का पता नहीं लग सकता। पर किसी ने भी न तो मेरी पुस्तक को पढ़कर उसकी आलोचना करने का कष्ट किया और न इस बात का ही उल्लेख किया कि मैंने जिस वर्णमाला के आधार पर सिंधु-मुद्रालेखों को पढ़ा था उसे प्रकाशित भी किया जा चुका था।

इस बीच राजस्थान-सरकार के तत्कालीन शिक्षा-सचिव ने मुझे बुलाया और उन तारों और पत्रों की जानकारी दी जो सिंधु-लिपि और सिंधु-सभ्यता से संबंधित मेरे शोध कार्य के विरुद्ध भारत सरकार को मिले थे और जिनके कारण सरकार चिंतित थी। उनकी सलाह थी कि मैं या तो अपने शोध कार्य को बिलकुल बंद कर दूं अथ वा अपने मत को बदल दूं। मैंने उन्हें यह समझाने का यत्न किया कि मैं जो कुछ कहरहा हूं उससे आर्य-द्रविड अथ वा उत्तर-दक्षिण का भेद मिटेगा और राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलेगा। उनका कहना था कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के कारण दक्षिण भारत वैसे ही क्रुद्ध है और मद्रास की एक पार्टी तो भारत से पृथक् तमिलनाडु बनाना चाहती है। उनको अडिग देखकर मैंने उनसे निवेदन किया कि वे मेरे स्थान पर किसी दूसरे को निदेशक बना सकते हैं। इसके फलस्वरूप जनवरी, १९७० में प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान एक दूसरे विभाग के निदेशक की देखरेख में चलने लगा और मैं राजस्थान-राजसेवा से मुक्त होकर उत्तर प्रदेश चला गया। इस प्रकार, सिंधु-सभ्यता की शोध से वैदिक अनुसंधान का जो एक नया अध्याय खुला था उसे सरकार ने अपनी जान में बंद कर दिया।

आहत *(पञ्च-मार्क्ड)* मुद्राओं में सिंधु-लिपि और वेद : पर एक घटना ने उसी शोध को एक अप्रत्याशित नया रूप दे दिया। जब मैं पीलीभीत (उत्तर प्रदेश) ज़िले में स्थित अपने गांव में रहने पहुंचा तो उन्हीं दिनों मेरे गांव से आठ-दस किलोमीटर दूर खनौत नदी की तलहटी में चरवाहों को एक बहुत पुराना, गलाहुआ ताम्रपात्र मिला जिसमें चांदी के सिक्के भरे थे। एक इतिहासप्रेमी अधिकारी ने उनमें

से बीस सिक्के, साफ़ किएहुए, मेरे पास भेज दिए। जब मैंने उन सिक्कों पर उसी सिंधु-लिपि का प्राचीनतम रूप देखा जिसके चार रूप मुझे सिंधु-मुद्राओं पर मिले थे तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अधिकांश सिक्कों में सूर्य और गौ का शिर चित्रित था। किसी किसी पर एक ऐसा वृक्ष था जिसकी जड़ ऊपर को थी और शाखाएं नीचे को। इसकी तुलना वेद के उस वरुण-वृक्ष से की जा सकती है जिसकी शाखाएं नीचे की ओर हैं और मूल (बुध्न) ऊपर को है और जिसके प्राण हमारे भीतर अंतर्हित हैं।[१४३] यही वह अश्वत्थ वृक्ष भी हो सकता है जिसे *श्रीमद्भगवद्गीता* में *ऊर्ध्वमूल अध:शाख* कहकर याद किया गया है और जिसके जानकार को वेदवेत्ता माना है।[१४४]

इससे स्पष्ट है कि आहत (*पञ्च-मार्क्ड*) मुद्राएं भी, सिंधु-लिपि से युक्त होने के कारण, तथाकथित सिंधु-सभ्यता से जुड़ेहुए होने के अतिरिक्त, कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर, परंपरा से अभिन्न संबंध रखती हैं। इसका एक प्रमाण यह भी है कि उक्त सिक्कों में से कुछ पर सिंधु-लिपि में 'राम' नाम लिखा है और साथ ही राम, लक्ष्मण और सीता के चित्र भी हैं। विशेषता यह है कि वहां वे तीनों वनवासी वेश में हैं। राम-लक्ष्मण के जटा-जूट है। पर सीता वहां दो वेणियां रखेहुए है। प्राचीन काल में एक वेणी तो अपने पति से वियुक्त पत्नी ही रखती थी। इन तीनों को वनवासी वेश में देखकर और भी कुतूहल इसलिए हुआ क्यों कि अन्यत्र इन तीनों में सीता को साड़ी पहनेहुए ही दिखाया जाता है। वाल्मीकि की *रामायण* से पता चलता है कि कैकेयी ने एक बार सचमुच तीनों ही को वनवासी वेश पहना दिया था। पर वसिष्ठ के हस्तक्षेप से सीता को पुन: न केवल सामान्य वेश में आना पड़ा अपि तु चौदह वर्ष के लिए अपेक्षित वस्त्र, आदि भी उसके साथ भेजे गए। इससे सिद्ध हो गया कि 'राम' नाम से अंकित, त्रिमूर्ति वाले सिक्के सचमुच राम के समय के हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सिक्कों पर शबरी को राम-लक्ष्मण के सामने प्रणिपात करतेहुए दिखाया गया था। और एक सिक्के पर 'हा राजेन्द्र अमर' अंकित था। वह संभवत: राजा दशरथ की स्मृति में जारी किया गया होगा। कुछ सिक्कों पर खड़ाऊं की जोड़ी का चिह्न था जिसे उस भरत-शासित साम्राज्य-काल का स्मारक समझा जा सकता है जिसमें राम की खड़ाऊं राजसिंहासन पर विराजमान रही थीं।

ये सब सिक्के उन प्राचीन सिक्कों में आते हैं जो *आहत मुद्रा* कहे जाते हैं और आसाम-बंगाल से लेकर अफ़गानिस्तान तक और दक्षिण से लेकर उत्तर तक, देश में सर्वत्र पाए गए हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो लिपि सिंधु-मुद्राओं

की थी उस लिपि वाले सिक्कों का सारा क्षेत्र उसी सभ्यता का प्रदेश था जिसे पहले केवल सिंधु-घाटी से सीमित माना जाता था। साथ ही, यह सभ्यता वही वैदिक सभ्यता है जो रामराज्य से जुड़ीहुई है और सारे भारत की सभ्यता कही जाती है। ये निष्कर्ष मैंने उत्तर प्रदेश सरकार की *त्रिपथगा* पत्रिका में प्रकाशित कराए और दो-एक लेख लखनऊ के दैनिक *स्वतंत्र भारत* में निकले। इस प्रसंग में, मैंने उन सब सिक्कों का अध्ययन करना चाहा जो खनौत नदी में पाए गए थे और जिनमें से बीस मुझे मिल गए थे। वे सिक्के लखनऊ के सरकारी संग्रहालय में पहुंच गए थे। मैंने उत्तर प्रदेश सरकार के तत्कालीन शिक्षा-सचिव से संग्रहालय को फ़ोन करवाया कि मुझे उन सब सिक्कों के फ़ोटो उपलब्ध करा दिए जाएं। पर दो वर्ष तक सदा यही उत्तर मिला कि अभी तो सिक्कों की सफ़ाई ही नहीं हुई है। साथ ही, सरकारी पत्रिका (*त्रिपथगा*) ने मेरे लेख छापना भी बंद कर दिया।

इस घटना से मन में प्रश्न उठा, क्या हम सचमुच स्वतंत्र हैं?

पुराने साम्राज्यवाद का आतंक : ऐसा ही मेरा एक अनुभव विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के साथ का है। जब मैं राजस्थान सरकार की राजसेवा से मुक्त हो गया तो मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को सिंधु-सभ्यता के वैदिक आधार पर शोध कार्य करने के लिए अपनी योजना भेजी। कुछ महिनों बाद, आयोग के सचिव, सैमुअल मथाई का पत्र मिला कि यदि मैं *ऋग्वेद* के पुनर्गठन पर कार्य करना चाहूं तो आयोग मुझे अनुदान दे सकता है। मैं समझ गया कि सैमुअल मथाई के माध्यम से फ़ादर एस्टलर (निदेशक, हेरास इंस्टीट्यूट, बंबई) बोलरहे हैं जो *ओरियंटल कान्फ़रेंस* के वैदिक संभाग के अपने अध्यक्षीय भाषण में *ऋग्वेद* के पुनर्गठन की योजना को ज़ोरदार शब्दों में प्रस्तावित कर चुके थे। यह योजना वस्तुत: वेदों को कलंकित करने का एक दुष्प्रयास था जिसमें यह सिद्ध किया जाता कि वेदों में व्याकरण, छंद, आदि की बहुत सी ग़लतियां हैं और बहुत से प्रक्षेप और पुनरुक्तियां हैं। इन सबको निकालकर एक शुद्ध *ऋग्वेद* को प्रकाशित करने के बहाने दुनिया को यह दिखलाना था कि जिस वेद पर इतना गर्व किया जाता है वह त्रुटियों का पिटारा-मात्र है।

अत: मैंने सैमुअल मथाई को लिखा कि मैं *ऋग्वेद* के पुनर्गठन पर तो काम नहीं करूंगा क्यों कि इस पर तो फ़ादर एस्टलर कररहे हैं पर मैं ऋग्वैदिक विचारधारा के पुनर्गठन पर कार्य कर सकता हूं। उस विषय की एक सुविस्तृत रूपरेखा भी मैंने प्रस्तुत की। उसमें सिंधु-मुद्रालेखों और आहत-मुद्राओं से प्राप्त वैदिक विचारों का भी समावेश था। उसका उत्तर वही मिला जिसकी आशंका थी,

'खेद है कि आयोग आपकी योजना को स्वीकार नहीं कर सका।'

कुछ दिनों बाद, मुझे हेरास इंस्टीट्यूट के सचिव से एक पत्र मिला जिसमें सूचित किया गया था कि हेरास इंस्टीट्यूट एक संगोष्ठी आयोजित कररहा है जिसमें वैदिक विद्वानों के साथ उन सब लोगों को भी आमंत्रित किया जाएगा जिन्होंने सिंधु-लिपि पर काम किया है। मुझसे कहा गया था कि मैं भी अपना एक लेख पढ़ूं और उसकी एक विस्तृत रूपरेखा भेज दूं। मैंने तुरंत 'सिंधु-लिपि और आहत-मुद्रा' पर एक रूपरेखा भेज दी। रूपरेखा की भूमिका में मैंने स्पष्ट कर दिया था कि सिंधु-सभ्यता वैदिक सभ्यता ही थी जिसके तब सारे देश में फैलेहुए होने का ताज़ा प्रमाण वे सिक्के हैं जिन पर सिंधु-लिपि मिली है। रूपरेखा भेजने के बाद छह महिने निकल गए और वह तारीख़ भी निकल गई जब गोष्ठी होनेवाली थी पर मुझे हेरास इंस्टीट्यूट से कुछ भी सूचना नहीं मिली।*

इस प्रकार की घटनाओं से, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि स्वतंत्र भारत में भी हम पुराने साम्राज्यवादी लेखकों की परंपरा के गुलाम हैं और जब तक हम इससे मुक्त नहीं होते हैं तब तक सत्य की खोज नहीं की जा सकती है। मेरा ऐसा ही अनुभव देश की कुछ शिक्षा-संस्थाओं के साथ भी रहा। उन दिनों कई स्नातकोत्तर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में मुझे सिंधु-सभ्यता, सिंधु-लिपि अथ वा उससे संबंधित आर्य-द्रविड समस्या पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया। प्राय: सर्वत्र तीन से लेकर छह व्याख्यान मैंने दिए। प्रत्येक व्याख्यान लगभग दो-ढाई घंटे का होता था। सर्वत्र मैं बड़े ध्यान से सुना गया। इन आयोजनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वह भाषणमाला थी जो मैंने बंगलौर की राष्ट्रोत्थान परिषत् के तत्त्वावधान में प्रस्तुत की थी। उसमें दक्षिण के चौदह समाचारपत्रों के प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया गया था। उनके समक्ष मैंने विशेष रूप से अपने विचार अलग से रखे थे। एक महाविद्यालय के प्रांगण में छह दिनों तक लगातार लगभग दो हज़ार बुद्धिजीवी श्रोता आते रहे। जाते समय अपने प्रश्नों को लिखकर वे एक डिब्बे में डाल जाते थे जिनका उत्तर मैं दूसरे दिन देता था।

यहां मैंने जो भाषण दिए उनका सार इस प्रकार था। *आर्य* और *द्रविड*

* जब मैंने लिखा तो उत्तर मिला कि ऑक्सफ़ोर्ड के जिस विद्वान् की अध्यक्षता में संगोष्ठी होनेवाली थी उसका आना स्थगित हो गया है। अत: फिर जब गोष्ठी होगी तो सूचित किया जाएगा। एक वर्ष बाद जब मैंने फिर लिखा तो उत्तर आया, 'आपने सिंधु-सभ्यता के साथ आहत-मुद्राओं का एक नया अध्याय जोड़ दिया है। अत: जब विद्वान् लोग उसका अध्ययन कर लेंगे तब गोष्ठी होगी।'

शब्द नस्लवाचक नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण में आदि काल से एक ही वेदमूलक समान संस्कृति रही है। वेद भारत अथ वा हिंदुओं की ही नहीं, सारी मानवजाति की सार्वभौम और समान परंपरा को प्रस्तुत करते हैं। वेदों ही की सहायता से, न केवल भारतीय साहित्य के अपि तु ईसाई, मुस्लिम और यहूदी परंपरा के भी ऐसे बहुत से प्रसंग समझे जा सकते हैं जिन्हें हम गपोड़ा अथ वा अंध विश्वास की संज्ञा देते आए हैं। इसके अतिरिक्त, वैदिक तत्त्वज्ञान में ही वह शक्ति निहित है जिसने हिंदु-समाज में अनेक नस्लों, अनेक भाषाओं, अनेक रस्म-रिवाज़ों और अनेक पूजापद्धतियों का समावेश करके, अनेकता में एकता को लाने का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है। अत: वेदों का अध्ययन सारी मानवजाति के लिए अत्यंत उपादेय हो सकता है। सिंधु-सभ्यता निस्संदेह वैदिक सभ्यता है। हड़प्पा और मोयां-जो-दारो नामक प्राचीन नगरों की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से स्पष्टत: प्रमाणित है कि वे उन्हीं वैदिक लोगों के नगर थे जो यज्ञ करते थे और देवोपासक थे। *द्रविड* शब्द जिस *द्रामित्र* का रूपांतर माना गया है वह वस्तुत: वैदिक *इंद्रामित्र* शब्द के इं का लोप होने से निष्पन्न हुआ है* और *आर्य* शब्द के समान ही वैदिक संस्कृति की देन है।

लगभग ये ही बातें मैंने जोधपुर, जयपुर, अजमेर, उज्जैन, आगरा, अलीगढ़, आदि स्थानों पर कहीं। श्रोताओं ने बड़े ध्यान से सुना भी। पर कई घटनाएं ऐसी हुईं जिनसे मुझे प्रतीत हुआ कि पुरातत्त्ववेत्ताओं को मेरी बातें पसंद नहीं आईं। पुरातत्त्व और इतिहास के एक प्रोफ़ेसर ने मेरी शोध पर प्रसन्नता व्यक्त करतेहुए, मेरी प्रशंसा में एक लेख किसी दैनिक में प्रकाशित करा दिया। इसका परिणाम उसे इतिहास-परिषत् के एक अधिवेशन में देखने को मिला। जो मिलता यही कहता, 'आपने भी फ़तहसिंह का समर्थन कर दिया।' उनका मानना था कि 'सिंधु-लिपि पर शोध करना केवल पुरातत्त्व और इतिहास के प्रोफ़ेसरों का काम है और मेरे जैसे संस्कृत-वाले का उस कार्य में टांग अड़ाना अनधिकार चेष्टा है। जिस कार्य को बड़े बड़े विदेशी विद्वान् नहीं कर सके उसे कोई भारतीय कैसे कर सकता है? क्या आप कभी विदेश गए? क्या आपने कंप्यूटर का प्रयोग किया? अमुक विद्वानों ने कंप्यूटर का प्रयोग करके सिंधु-लिपि को द्रविड लिपि सिद्ध किया है। फ़ादर हेरास उसे चित्रलिपि सिद्ध कर चुके हैं। क्या यह अंतिम निर्णय नहीं है? फ़ादर हेरास से आगे आप सिंधु-सभ्यता के विषय में क्या कह सकते हैं? निश्चित

* इस शब्द के बारे में पूर्व पृष्ठ भी द्रष्टव्य।–*संपादक*

रूप से, सिंधु-सभ्यता आर्य सभ्यता नहीं हो सकती क्यों कि वहां शिव और देवी जैसे अवैदिक उपास्यों का होना इसके ठोस प्रमाण हैं।' इस प्रकार की अनेक बातें उन्हें या मुझे सुनने को मिलीं।

आर्य-अनार्य की बात : इनमें से प्रत्येक बात का उत्तर मैं अपने लेखों में दे चुका था।[९४] सिंधु-घाटी में प्राप्त शिवलिंग वस्तुत: यज्ञवेदि से उठती हुई अग्नि-शिखा का द्योतक है। स्वयं *ऋग्वेद* में ही कम से कम तेईस देवियों के नाम मिलते हैं। अत: शिव और देवी को अवैदिक कहना सरासर झूठ और बेईमानी है।

इस प्रकार के असत्य का प्रचार विदेशियों द्वारा प्राय: होता रहा है।* इसके अतिरिक्त, साम्यवादी विचारधारा से प्रेरित कई संस्थाएं भी छद्म-रूप से ऐसा अपप्रचार करती रही हैं। इन संस्थाओं ने मिलकर एक तथाकथित साहित्य-महासभा खड़ी की है। उसका पूरा नाम दलित-आदिवासी-ग्रामीण-संयुक्त-साहित्य-महासभा है। साहित्य और संस्कृति की आड़ में दलित, आदिवासी, ग्रामीण (शूद्र),[१४८] नाम से गिरिजनों, वनवासियों, हरिजनों और अभावग्रस्त ग्रामीणों को अपने राजनीतिक मंतव्य की ओर ले जाने के लिए यह संस्था यत्नशील है। मुझे साम्यवाद से कोई द्वेष नहीं है, पर भारतीय साहित्य का मार्क्सवादी विश्लेषण करने में, वैदिक तत्त्वज्ञान की नासमझी से, ऐसे विद्वान् मानवता का जो अहित कररहे हैं वह अवश्य चिंतनीय है। इस प्रसंग में, *आर्य* और *शूद्र* शब्दों को जाति अथ वा वर्ग के वाचक मानकर वे जो निष्कर्ष निकालते हैं उससे दोहरी हानि है। एक तो, इससे *आर्य* और *शूद्र* शब्दों के ग़लत अर्थों का प्रचार करके आज की जाति-प्रथा के लिए वेदों को उत्तरदायी समझ लिया जाता है। दूसरे, इन शब्दों के पीछे जो गंभीर तत्त्वज्ञान है उससे मानवता वंचित रह जाती है। अत: दोनों शब्दों के मूल वैदिक अर्थ पर विचार आवश्यक है।

: १ : *आर्य* और *शूद्र*

आर्य और *शूद्र*, दोनों ही शब्द एक साथ, *अथर्ववेद* के एक ही सूक्त, ४.२० में दो बार प्रयुक्त हुए हैं। उसकी चर्चा करने से पूर्व, *शुक्ल-यजुर्वेद* २६.२ की इसी तरह की एक यजुर्वेदीय कंडिका का विवेचन उपयोगी होगा,

यथेमां वाचं कल्याणीम् आ वदानि जनेभ्य:। ब्रह्म-राजन्याभ्यां, शूद्राय चार्याय च, स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुर् इह भूयासम्, अयं मे काम: सम् ऋध्यताम्, उप मादो नमतु।

* इस दिशा में ईसाई मिशनरियों और देशी-विदेशी साम्राज्यवादी लेखकों की अभिसंधि की ओर संकेत पहले किया जा चुका है।

इस कांडिका में जो कुछ कहा गया है वह इसकी पूर्ववर्ती कंडिका के इस वाक्य से जुड़ाहुआं है कि *'सप्त सं-सदो, अष्टमी भूत-साधनी,* और कि 'तू स-काम अध्वाओं का निर्माण कर; मुझे उसके द्वारा सं-ज्ञान हो।' यह सं-ज्ञान ही वह वस्तु है जिसके संदर्भ को इंगित करने के लिए अगली (२६.२) कंडिका में *यथा* शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि मुझे सं-ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है *'ताकि* इस कल्याणी वाणी को *जनों के लिए,* अर्थात्, ब्रह्म और राजन्य के लिए, शूद्र और अर्य के लिए, स्व और अरण के लिए मैं बोलूं। देवों की दक्षता के लिए मैं दाता का प्रिय होऊं। मेरी यह कामना समृद्ध हो। वह (परमेश्वर) मुझे प्राप्त हो।' भाष्यकारों ने यहां प्रयुक्त *जनेभ्यः* शब्द को 'मनुष्य' अर्थ में लेकर *ब्रह्म, राजन्य, शूद्र* और *अर्य* को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य समझ लिया है। ऐसा करने में, उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि *अर्य* का अर्थ वैश्य कभी नहीं हो सकता है और न *ब्रह्म* शब्द से उस(ब्रह्म)के जानकार, ब्राह्मण को ग्रहण किया जा सकता है। फिर इन चार 'जनों' के अतिरिक्त *स्व* और *अरण* का भी उल्लेख है जो जातिसूचक नहीं माने जा सकते हैं।

इन शब्दों के वास्तविक अर्थों को समझने के लिए *स्व* शब्द से विचार आरंभ करना चाहिए। 'स्व' मनुष्य का वह प्रकृत व्यक्तित्व है जिसे लेकर वह जन्मता है। स्व को *स्वः* नामक आध्यात्मिक ज्योति चाहिए ताकि वह ठीक समय पर, ठीक ढंग से, ठीक काम करनेवाला ऋत्विक् बन जाए।[१४६] 'स्व' नामक प्रकृत व्यक्तित्व के विरोधी आसुरी व्यक्तित्व के लिए *अरण* शब्द का प्रयोग होता है। स्व के धर्म स्वः[१४७] को चुराने-छिपाने वाले पणि अथ वा असुर 'अरण' हैं। स्व और अरण, दोनों का पारस्परिक विरोध समाप्त होकर मनुष्य में सामंजस्य–समन्वय स्थापित हो, इसके लिए मन्यु का शमन आवश्यक समझा गया है।[१४८] इस सामंजस्य–समन्वय के परिणामस्वरूप, मनुष्य का बहिर्मुखी व्यक्तित्व शुश्रूषा के लिए *शूद्र* [*शु* (क्षिप्र) *द्र* (द्रवणशील होनेवाला)] हो जाता है और अंतर्मुखी व्यक्तित्व *अर्य* हो जाता है जो फिर (आ+अर्य[१४९] होकर) 'आर्य' बनता है। स्व को स्वः नामक आर्य ज्योति प्राप्त हो जाती है, जिससे वह मनु बनने में समर्थ होता है।[१५०] मनु, 'राजन्य' (ज्योतिर्मय) होकर ही उस *दैव्य जन* को जन्म देता है[१५१] जिसे यजुर्वेद की कंडिका में *ब्रह्म* कहा गया है और जिसके जानकार व्यक्ति को वैदिक वाङ्मय में 'शुश्रुवान् अनूचान ब्राह्मण' कहा जाता है।[१५२] इसका तात्पर्य यह है कि उक्त यजुर्वेदीय कंडिका में उल्लिखित 'जनों' में ब्रह्म और राजन्य, शूद्र और अर्य, स्व और अरण, ये सब मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष हैं। इन ह ह के अतिरिक्त,

वहां चर्चित 'कल्याणी वाक्' सप्तमी है। ये सब वे *सप्त जन* हैं जिनमें से सातवीं (वाक्) को *एक-ज* और शेष छह को दो-दो के जोड़े से जन्मनेवाला *(साकं-ज)* कहा जाता है।[१५३] यह एक कल्याणी वाक् अन्य छह मानवी पक्षों के लिए व्यक्त हो, इस निमित्त सं-ज्ञान अपेक्षित होता है।[१५४]

यह सं-ज्ञान वह 'परा वाक्' है जो मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांग सर्वेक्षण करने में समर्थ है। उसके द्वारा साधक अपने भीतर दैवी त्रिलोकी *(त्रि-दिव)* के तीन द्युओं और मानुषी त्रिलोकी की तीन पृथिवियों के अतिरिक्त, छह दिशाओं और 'सर्व' नामक बहिर्मुखी भौतिक जगत् को देख सकता है। वह परा वाक् देव-भूत, जीवात्म रूप, *दिव्य सुपर्ण* की आंख की पुतली है। आध्यात्मिकता की भूमि पर उत्तरोत्तर आरोहण करतीहुई वह साधकों को अपने शूद्र और आर्य, दोनों पक्षों को देखने का सामर्थ्य दे सकती है। वह परा वाक् वस्तुतः *सहस्राक्ष देव* की महाशक्ति है और *ओषधि* कही जाती है, क्यों कि इसके द्वारा साधक अपने शूद्र और आर्य पक्षों के अनेक राक्षसों और पिशाचों पर चौकसी रख सकता है। दूसरे शब्दों में, इसी के द्वारा मनुष्य जहां *कश्यप* ऋषि होकर 'सर्व' नामक अपने बहिर्मुखी पक्ष को देख सकता है वहां उसी से वह *पश्यक* होकर अंतर्दृष्टि-रूप 'सरमा (देव-शुनी)' द्वारा विश्व नामक अंतर्जगत् को भी देख सकता है। इस तरह, परा वाक् को *विश्व देव* और *सर्व देव*[१५५] कही जानेवाली सब दिव्य शक्तियों की जननी और नियंत्रिका कहा जा सकता है। इस बात को ऋ १०.१२५ में वाक् स्वयं सविस्तर कहती है। उसी परा वाक् के उक्त समस्त सामर्थ्य को अथर्ववेद के सूक्त, ४.२० में एक अनोखे ढंग से व्यक्त किया गया है। सूक्त का पद्यानुवाद निम्न लिखित है।

देखरही है चारों ओर,
इधर-उधर से चारों ओर,
दूर दूर ऊपर की ओर,
देखरही द्यौ अंतरिक्ष को,
तत्पश्चात् भूमि को देवी।
'सर्व तत्' को देखरही।१

तीनों द्यौ, पृथिवी भी तीनों,
और पृथक् ये छह प्रदिशाएं,
तेरे द्वारा देवि! ओषधे!
देखरहा मैं सर्व भूत को।२

दिव्य सुपर्ण जिसे कहते हैं,

उसकी जो आंखों की पुतली
वह तू करे भूमि आरोहण,
थकी वधू सी वाहन ऊपर।३

सहस्राक्ष! हे देव! उसे तुम,
हाथ दाहिने मेरे रख दो,
उसके द्वारा मैं सब देखूं
जो है शूद्र, आर्य जो वह भी।४

निज रूपों को प्रकट करो,
मत अपना रूप छिपाओ,
हे परोक्ष! हे सहस्राक्ष! तुम
रहो देखते राक्षस दल को।५

तुझको धारण करूं, ओषधे!
मुझको यातुधान दिखलाओ,
यातुधानियों को दर्शाओ,
सभी पिशाचों को दिखलाओ।६

चक्षु तू ही कश्यप ऋषि की
चतुर्-अक्षी देवशुनी की भी,
चूक न जाना उस पिशाच को
सूर्य सदृश जो सरपट उर में।७

घोर चौकसी द्वारा पकड़ूं,
'किम् इदम्' जपते यातुधान को,
इसी तरह लख सकूं सर्व को,
जो है शूद्र, आर्य जो वह भी।८

अंतरिक्ष से जो आता है,
द्यौ को जो सरपट जाता,
नाथ भूमि को मानरहा जो
उस पिशाच को मुझे दिखा।९

नौ ऋचों के इस सूक्त में, मनुष्य के व्यक्तित्व के शूद्र और आर्य पक्षों पर नज़र रखने का दो बार उल्लेख हुआ है, क्यों कि यदि चौकसी नहीं रखी जाए तो *यातुधान*, *पिशाच*, आदि कही जानेवाली आसुरी शक्तियां, प्रविष्ट होकर, शूद्र और आर्य पक्षों को विकृत कर देती हैं। वेद में उनकी विकृत शक्तियों को क्रमश:

दास वृत्र और *आर्य वृत्र* कहा जाता है।[१५६] इनकी पराजय आवश्यक है[१५६] क्यों कि इनकी गणना आंतरिक द्वेषियों में होती है।[१५६] इन शत्रुओं के विनाश अथ वा पराजय का आशय है इनका आद्योपान्त परिवर्तन। अत: इंद्र से एक 'संयती, बृहती' और 'अहिंसिता' स्वस्ति की कामना की जाती है जिससे उसके द्वारा दास और आर्य, दोनों प्रकार के वृत्रों को मानुषी शक्तियों *(नाहुष)* में परिणत किया जा सके[१५६] और फिर उनको मनुष्य-देवों में।[१५२]

इंद्र *सहस्राक्ष* है, पर वह अव्यक्त (परोक्ष) है। उससे प्रार्थना है कि वह अपने रूपों को न छिपाए। उन रूपों में से ही एक रूप बुद्धि है जिसे वेद में उक्त 'संयती, बृहती स्वस्ति' कहा गया है। उस रूप को *परा वाक्* भी कहते हैं। मानव के सारे व्यक्तित्व पर वह ऐसी चौकसी रख सकती है कि कोई भी राक्षसी अथ वा आसुरी वृत्ति, प्रवेश करते ही, पकड़ में आ जाए। यह परा वाक् *ओषधि* मानी जाती है क्यों कि इसके द्वारा तन-मन के रोगों (असुरों) को नष्ट किया जा सकता है। सबसे बड़ा रोग अहंकार रूप *पिशाच* है। वह सूर्य की तरह स्पष्ट है और हमारे भीतर बड़े वेग से प्रवेश कररहा है। पर परा वाक् आत्मा रूप *कश्यप* ऋषि का ज्ञाननेत्र है। अत: विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय स्तरों पर चौकसी रखनेवाली आत्मशक्ति का भी वह ज्ञाननेत्र होती है। यह आत्मशक्ति, वेद में, *सरमा* नामक देव-*शुनी* (कुतिया) है, जिसे उक्त चारों स्तरों के संदर्भ से, चतुर्-*अक्षी* कहा गया है। उसमें यदि परा वाक् रूपी ज्ञाननेत्र का अवतरण हो गया तो, फिर, उससे बचकर कोई असुर अंदर नहीं आ सकता है।

इस उपलब्धि के लिए दैव्य त्रिलोकी के तीनों द्युओं और मानुषी त्रिलोकी की तीनों पृथिवियों का निरीक्षण आवश्यक है, ऋक् २। इस निमित्त, उक्त आत्मशक्ति को भूमि की उत्तरोत्तर सीढ़ियों पर आरोहण करना होगा और वह भी थकी वधू की तरह धीरे धीरे, ऋक् ३। दूसरे शब्दों में, 'पश्यन्ती योग' अथ वा 'वि-पश्यना' द्वारा आरोहण धीमी गति से होता है। धैर्यपूर्वक तब तक ऊपर चढ़ना है जब तक उक्त तीनों द्यौ और तीनों पृथिवियां दिव्य आलोक से विराट् *(उर्वी)* नहीं बन जातीं।[१५७] उनके विराट् रूप में ही *विश्व देव* मनुष्य के व्यक्तित्व में सर्वत्र अपना वीरकर्म कर सकते हैं।[१५७] आत्मन्वत् ब्रह्म का स्वर्ग–हिरण्यय कोश तो है ही उरु लोक।[१५८] विज्ञानमय कोश भी उरु अंतरिक्ष है।[१५९] ऊर्ध्व मनोमय कोश भी उक्त दोनों से जुड़कर, उनकी उरु ज्योति पाकर उरु ही हो जाता है। पर सामान्य मनोमय कोश और, प्राणमय और अन्नमय कोशों की त्रिलोकी उरुत्व को तभी प्राप्त करती है जब इन तीनों में भी उरु ज्योति का दिव्य आलोक अवतीर्ण होता है। यह

तभी संभव है जब मनुष्य के आर्य नामक भीतरी पक्ष के लिए दस्यु का विनाश हो और उरु ज्योति की प्राप्ति हो।[१६०] तभी उसका स्थूल बाह्य पक्ष, अपने पैरों द्वारा शुश्रूषा के लिए द्रवण करके, शूद्र बनने का गौरव प्राप्त करता है[१६१] और उसके दोनों पाद तप:पूत होते हैं।[१६२] इस दृष्टि से शूद्र को साक्षात् तप कहा गया है।[१६३]

आर्यत्व का मूलाधार : अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि यजुर्वेद २६.२ में अर्य, शूद्र आदि जिन छह जनों के लिए कल्याणी वाक् को बोलने का उल्लेख है वे मनुष्य के व्यक्तित्व के ही किसी न किसी पक्ष के द्योतक हैं। वास्तव में, *जन, जा:* और *प्र-जा:*, आदि शब्द, आध्यात्मिक दृष्टि से, मनुष्य के व्यक्तित्व की अंग-भूत उपजों के द्योतक हैं। अत: जब तीन *ज्योतिर्-अग्र आर्य-प्रजा:* का उल्लेख होता है[१६४] तो उन्हीं को, अन्यत्र, स्पष्ट रूप से तीन *ज्योतिर्-अग्र वाक्* कहा जाता है।[१६५] *आगमों* में इन्हें इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति कहा गया है। *आर्या: प्रजा:* के समान *विश: आर्या:* प्रयोग भी मिलता है।[१६६] इन्हें वसु, रुद्र, आदित्य, विश्व देव और मरुत नामक गणों में विभक्त किया गया है।[१६७] ये सब *पुरुष* में विद्यमान प्राण हैं।[१६८] भीतर प्रवेश करने के कारण वे *विश:** नाम धारण करते हैं। इन *(विश:)* के कारण मनुष्य का अन्तर्जगत् *विश्व* कहलाता है। ये ही प्राण बहिर्मुखी होकर *सर्व*** संज्ञा ग्रहण करते हैं। इस प्रकार, विश्व के संदर्भ से प्राणों को *विश्व देव* अथ वा *विश्व मरुत* और सर्व के प्रसंग से *सर्व देव* कहा जाता है।[१६९]

आदर्श व्यक्तित्व वही है जहां विश्व देव *नाथ* हों और सर्व देव साधक की पुकार को सुनें।[१६९] पर यह तभी संभव है जब काम वह रूप ग्रहण करे जिसे *श्रीमद्भगवद्गीता* में *धर्माविरुद्ध* कहा गया है और जो स्वयं भगवत्स्वरूप कहा जा सकता है।[१७०] ऐसा काम व्यक्तित्व के सब शत्रुओं का विनाश करके साधक के लिए उरु लोक का निर्माण करता है। तब सभी छह उर्वियां ब्रह्मानंद-रूप घृत को वहन करती हैं और चारों दिशाएं साधक को नमन करने लगती हैं।[१७१] दूसरे शब्दों में, साधक का पूरा आंतरिक जगत् आंतरिक शत्रुओं के विनाश और इंद्र के वर्धन द्वारा आर्य बन जाता है।[१७२] इंद्र के वर्धन को अन्यत्र आर्य का वर्धन कहा गया है।[१७३] इसका तात्पर्य है कि आर्य अथ वा आर्यत्व का विकास ही वैदिक साधना का लक्ष्य है और यह विकास होता है जीवात्मा (इंद्र) में।

इसलिए स्वयं इंद्र को आर्य कहा जाता है। आर्य इंद्र आंतरिक जगत् का निर्भय शासक है। वह आवश्यकतानुसार दास को अपने वश में करता है।[१७४] 'दास'

* *विश्* (=प्र-वेशन) धातु से निष्पन्न।

** *सृ* (=गति) धातु से निष्पन्न।

मनुष्य की उन जन्मजात वृत्तियों का नाम है जो अहंकार (वृत्र) के प्रभाव में पड़कर स्वयं तो वृत्र बनती ही हैं, साथ में आर्य शक्तियों को भी वृत्र बना सकती हैं। अतः आर्य और दास, दोनों ही इंद्र को युद्ध के लिए ललकारनेवाले हो सकते हैं।[१७५] जिस साधक
का आंतरिक जगत् आर्य है उसका तो अरि भी धनपाल-दास (*शेवधि-पा*) हो जाता है।[१७६] पर साथ ही, आर्य ज्योति को प्राप्त व्यक्तित्व भी पापग्रस्त हो सकता है। इस दृष्टि से, वेद में 'दास' वृत्र के साथ 'आर्य' वृत्र की कल्पना भी मिलती है।[१७७] उक्त *ऊं ज्योति* वह स्वस्ति है जिससे 'दास' प्राण 'आर्य' प्राणों में, और 'वृत्र' प्राण मानुष *(नाहुष)* प्राणों में परिणत होते हैं।[१५६] *ऊं ज्योति* वह *उरु ज्योति* है जिसे आर्यत्व की ख़ातिर उत्पन्न करनेवाला, *मित्र-मह् अग्नि* मनुष्य के व्यक्तित्व से *(ओकसः)* दस्युओं को दूर भगा देता है, और उस अग्नि की प्रज्ञा *(क्रतु)* का सेवन करके, वसु आसुरी प्रभाव *(असुर्य)* को बाहर निकाल देते हैं।[१७८] इसलिए मनुष्य को उपदेश है कि वह आर्य और दस्यु के भेद को जाने[१७९] और यह भी समझ ले कि आर्य व्यक्तित्व के लिए दस्यु का विनाश और उरु ज्योति की सृष्टि करनेवाले अश्विनौ हैं।[१६०] जब आर्य प्राण के लिए वह ज्योति प्रकट हो जाती है तो दस्यु प्राण भी उसके बायीं ओर स्थित हो जाता है, अर्थात्, वह आर्य का सहयोगी 'मानुष' प्राण बन जाता है।[१८०]

दूसरे शब्दों में, आर्य प्राण भी परम नहीं है। विकास के लिए, आर्य से *विश्व आर्य* होने के लिए[१७३] उसे भी उरु ज्योति चाहिए। इसी तरह, ज्योतिर्-अग्र आर्य प्रजाओं को भी *विशः आर्याः* होना पड़ेगा,[१६८] क्यों कि *विशः* (प्राणों) और *विश्व* का अन्योन्याश्रय संबंध है। अतः जब तक हमारे प्राण केवल बाह्य जगत् *(इदं सर्वं)* से जुड़े हैं तब तक वे दास से दस्यु अथ वा वृत्र तो हो सकते हैं पर आर्य अथ वा शूद्र नहीं हो सकते हैं। सच तो यह है कि विश्व की उपेक्षा करके आर्य प्राण भी वृत्र बन जाते हैं। इसी लिए जीवात्मा के *सु-दाः* (सु का दाता) रूप की रक्षा करने के लिए दास वृत्रों के साथ साथ आर्य वृत्रों का भी वध आवश्यक हो जाता है।[१८१] अत एव अग्नि दासों, वृत्रों और आर्यों पर विजय प्राप्त करता है,[१८२] तो इंद्र वृत्रों, आर्यों, दासों, आदि सब विश्व-द्वेषियों का हनन करता है[१८३] क्यों कि उभय प्रकार के प्राण (दास और आर्य) यदि अ-मित्र हैं तो वध्य हैं।[१८४] वृत्र होने पर, इनके लिए क्रमशः नपुंसकलिंगी *दासानि* (अथ वा *दासा*) और *आर्याणि* (अथ वा *आर्या*) प्रयोग होते हैं।

इसके विपरीत, *दास* और *आर्य* शब्दों का प्रयोग जब पुलिंग में होता है तो वे निर्दोष सहज वृत्तियों के द्योतक होते हैं। वे इंद्र द्वारा रक्षणीय माने गए हैं।[१८५] निर्दोष आर्यों के विरोधी 'दस्यु' हैं, साधारण दास नहीं है।[१८०] निर्दोष आर्य व्यक्तित्व

वह है जिसका विश्व (अन्तर्जगत्) आर्य होता है। फलतः उसका जो दास प्राण पहले शत्रु था वह अब उसका कोशरक्षक हो जाता है। यह व्यक्तित्व वस्तुतः पहिए में अर के समान सामूहिक उत्तरदायित्व को उठाने के लिए दूसरों के साथ एकजुट होनेवाला और शत्रुनाशक 'अर्य' *(रुशमे ऊतये)* नामक वज्रायुध *(पवीरु)* है जिसमें परमेश्वर के लिए ही दैवी संपत्ति लाई जाती है।[१८२] अर बनने योग्य *(अर्य)* ऐसे व्यक्तित्व में उसकी अंगभूत उपजों *(जनों)* की आशाएं और आयु इंद्र को समर्पित होती हैं।[१८६] अतः ऐसे व्यक्तित्व के सब 'विश्व' प्राण च्यवनशील होकर उसके बहिर्मुखी 'दास वर्ण' को अंतर्हित कर देते हैं। अर्य व्यक्तित्व, मानो, अपनी स्वार्थपरता (श्व-वृत्ति) का हनन करके, बदले में, अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है और पोषक शक्तियों को ग्रहण करता है।[१८७] यह सब उपलब्धि वस्तुतः उस मनौवैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है जिसके अनुसार सारी व्यष्टिगत शक्तियां एकजुट होकर अग्नि की सेवा *(सपर्या)* उस प्रकार करने लगती हैं जिस प्रकार पहिए के सारे अरे उसके केंद्र में एकजुट हो जाते हैं।[१८८]

इस प्रक्रिया का मूल आधार है *सं-वनन*, अर्थात्, भावात्मक एकता। भावात्मक एकता के द्वारा ही किसी परिवार के सदस्य एकजुट होते हैं।[१८९] सामाजिक संगठन भी इसके बिना संभव नहीं है। *ऋग्वेद* के उपसंहार-सूक्त में, समाज के सब लोगों को अतिशय संगठित करने के लिए 'वृषा' अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि

अतिशय संगठन हेतु, हे वर्षक!
अग्नि! व्यक्तियों के विश्वों का,
करो एक आ-अर्य संगठित,
सार्वभौम मानव-समाज को,
बुद्धि-भूमि में जो मानव के
होते हो समीद्ध तुम अविरल,
सो तुम हम सबके वसुओं को
एकत्रित करके दो संबल। ऋक् १

इसके उत्तर में अग्नि मनुष्यों को जो उपदेश करता है उस उपदेश का ऋषि 'भावात्मक एकता' *(सं-वनन)* को मानकर, उक्त प्रार्थना की पूर्ति के लिए भावात्मक एकता की अपरिहार्यता स्वीकार की गई है। इन मंत्रों में भावात्मक एकता के निमित्त, सब लोगों को निम्न लिखित व्यवहार करने के लिए कहा गया है,

मिलकर चलो, एकस्वर बोलो
एक दूसरे के मन जानो
तो होगा संज्ञान; युक्त हो
जिससे सारे अंग तुम्हारे,
सब मिलकर सबकी सेवा में,
तत्पर हो संज्ञानपूर्वक,
निज निज भाग बिना मांगे ही,
पा जाते हैं न्यायपूर्वक। ऋक् २
यदि मिलकर मंत्रणा करो तुम,
एक रहे संगठन तुम्हारा,
सबके मन मिल जाएं, चित्त भी
सबके ही यदि एक साथ हों,
तो मैं तुम सबको ही करता
अभिमंत्रित एक ही मंत्र से,
और यज्ञ सामूहिक सबका
संपादित हो एक हविष् से। ऋक् ३
हो समान भावना तुम्हारी,
हृदय तुम्हारे भी समान हों,
होवे मन का मेल तुम्हारा
जिससे सह-अस्तित्व सुष्ठु हो। ऋक् ४

व्यष्टिगत और समष्टिगत आर्यत्व : सह-अस्तित्व-परक जिस समष्टिगत 'आर्य' ('आ-अर्य') का ऊपर विवेचन हुआ है वह, वस्तुतः, व्यष्टिगत आर्य से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। चक्र के केन्द्र से जुड़ेहुए अरों का भाव दोनों के मूल में है। चक्र में अरों के समान, व्यष्टिगत व्यक्तित्व में व्यक्ति की सब शक्तियां एकजुट होती हैं। उधर समष्टिगत व्यक्तित्व (परिवार या समाज) में सब व्यक्ति (नर-नारी) एकजुट होते हैं। इन्होंने अपने व्यष्टिगत व्यक्तित्व को समाज के अंगभूत ('आ'-) और 'अर' होने योग्य ('-अर्य') बना लिया होता है। सामाजिक अर्य ही आर्य (*आ-अर्य* कहा जानेवाला) है। समाज का समस्त विश्व ही आर्य हो चुकता है,[१७२] क्यों कि उसमें व्यष्टि का विश्व, अन्य मनुष्यों के विश्वों *(विशः)* के साथ (एक 'आ-अर्य' में परिणत होने से) 'परम आर्य' व्यक्तित्व बन जाता है।[१४९]

● गुण के आधार पर इस व्यक्तित्व के दो पक्ष माने गए हैं। विश्व की दृष्टि

से वह 'आर्य' होता है और सर्व की दृष्टि से उसका बहिर्मुखी दास पक्ष 'शूद्र' होता है।[१९०] इस व्यक्तित्व में वस्तुतः जीवात्मा (इंद्र) ही वह आर्य है। यह भयरहित होता है और आंतरिक जगत् का नियंता होने के साथ, बहिर्मुखी 'दास' को आवश्यकतानुसार वश में रखता है।[१७४] दूसरे शब्दों में, इस आर्य व्यक्तित्व का विश्व जब योगयुक्त होता है तो उसका सर्व (=लोकव्यवहार–*दास*) शुश्रूषा के लिए 'शूद्र' [शीघ्र *(शु)*; द्रवित (गतिशील) होनेवाला] बन जाता है। इस प्रकार, आर्य भीतर से योगी होता है, और बाहर से सेवापरायण। आर्य व्यक्तित्व एक ऐसा सूर्य है जो समाधि-रूप स्वर्ग के मध्य अपने सक्रिय रूप (रथ) को छोड़तेहुए भी उक्त शूद्र रूप द्वारा अपने प्रकृत दास रूप का प्रतिमान पा लेता है।[१९१] इसका तात्पर्य यह है कि आर्य व्यक्तित्व किसी गुफा या तहख़ाने में बंद रहनेवाला निष्क्रिय योगी नहीं होता है अपि तु वह व्युत्थान अवस्था में, समाजसेवा के लिए अपने समस्त आर्यत्व को शूद्र बना लेता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन एक यज्ञ होता है जिसके यजमान (आत्म) की रक्षा सब आंतरिक संग्रामों में स्वयं परमेश्वर करता है।[१९२] यज्ञ, वास्तव में, *अध्व*-र नामक एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। अध्वर में ऊर्ध्व मन (श्येन पक्षी) जब ज्योतिर्मय, विचक्षण सोम को ले आता है और आर्य प्रजाएं *(विशः)* अग्नि को होता रूप में वरण करती हैं तो धी उत्पन्न होती है।[१६६] अन्यत्र इस धी को, मनु के लिए आविर्भूत होनेवाली उषा कहा गया है।[१९३] इस उषा की उत्पत्ति तब होती है जब ज्ञानयज्ञ के लिए प्रज्ञानाग्नि को उद्‌बुद्ध करने हेतु ईं को उत्पन्न किया जाता है।[१९३]

आर्यत्व का विकास : वास्तव में, आर्यत्व का विकास मूलाधार से ईं के ऊर्ध्वमुखी होने में निहित है। अधोमुखी ईं का उपयोग शरीर के नैसर्गिक कार्यों में होता है जिन्हें *दास कृत्व्य* कहा गया है।[१९४] अहंकार-रूप असुर (वृत्र) के प्रभाव में ईं दस्यु रूप धारण कर लेता है। पर मनोमय स्तर के प्रेमप्रसव से प्रेरित होकर जब आत्मा सूर्यरश्मियों रूप अश्वों से समाधि की ओर गतिशील होता है तो वह इस नैसर्गिक दास कर्म को भी दूर कर देता है[१९४] क्यों कि आर्यत्व की अंतिम परिणति (समाधि) में वह अन्ततः बाधक ही होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए, यह सावधानी बरतना आवश्यक है कि उक्त ईं का प्रयोग दस्यु न करने पाए। ईं के लिए *नाम* शब्द का भी प्रयोग होता है जो *निघंटु* के 'उदक'-नामों में ईं के साथ परिगणित है। अतः आत्मा (इंद्र) स्वयं को संयम-वज्र बनाकर दस्यु को उस 'नाम' से वंचित कर देता है।[१९३] इस प्रकार, अ-करणीय को करनेवाले असुर को च्युत करके और कर्तव्यों का संपादन करके हमारे प्राण आत्मा (इंद्र) को आर्य बनाते हैं।[१९५]

दूसरे शब्दों में, अकर्तव्य असत् है, और कर्तव्य सत्। कर्षण बल द्वारा असत् से हटाकर जब प्राण को सत् में निविष्ट किया जाता है तो उसकी संज्ञा *कृष्टि* होती है। जब तक प्राण असत् में लिप्त है तब तक वह *वव्रि* (आवृत) है। वव्रि रूप को छोड़कर जिस कृष्टि रूप को वह ग्रहण करता है उसका एक नाम *निष्-कृत* (असत् से 'बाहर निकलाहुआ') भी है। समाधि में सत्-असत् के द्वंद्व से परे पहुंचने पर कृष्टि रूप भी, ब्रह्मबल की प्राप्ति से, समाप्त-सा हो जाता है। पर, वास्तव में, वह कृष्टि, पर-ब्रह्म रूप पिता के पास पहुंचकर, मनुष्य के व्यक्तित्व में फैलेहुए सब प्राण-तंतुओं को निर्मल रूप प्रदान करने लगता है। असत् को 'असुर्य वर्ण' कहकर, यह भाव निम्न लिखित ऋक् में व्यक्त किया गया है,

प्र कृष्टि+हेव शूष एति रोरुवद्, अ-सुर्यं वर्णं नि रिणीते अस्य तम्।
जहाति वव्रिं पितुर् एति निष्-कृतम्, उप-प्रुतं कृणुते निर्-णिजं तना॥
ऋ. ९.७१.२

इस ऋक् में *शूष* (बल) शब्द सोम के बल के लिए प्रयुक्त हुआ है। वह जब प्राण के असत् को दूर करके, उसे कृष्टि बनाकर, पिता (ब्रह्म) के पास (समाधि में) पहुंचा देता है, तो ऐसा लगता है कि प्राण रहा ही नहीं है। इस बात का संकेत करने के लिए 'शूषः' के पूर्व 'कृष्टि+हा-इव' विशेषण प्रयुक्त करके कहा गया है कि, मानो, वह बल कृष्टि का हनन करनेवाला है। वैदिक 'कृष्टि' को ईसाई परंपरा में जब 'क्राइस्ट' कहा गया तो उक्त विशेषण के 'इव' अंश को भुलाकर क्राइस्ट (कृष्टि) के वध करने की कल्पना चल पड़ी। पर कृष्टि *(क्राइस्ट)* की मृत्यु नहीं होती है। वह तो अपने पिता के पास पहुंचकर वहां से सब प्राण-संतानों *(तना)* को परिपूर्ण और स्वच्छ करने में लग जाता है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए, ईसाई परंपरा में, क्राइस्ट पुनर्जीवित होकर समस्त मानव-जाति का कल्याण करनेवाला माना जाता है। वास्तव में, यह ऋक् समाधि की उस अवस्था का वर्णन कररही है जिसमें प्राण का अभाव-सा प्रतीत होता है पर वस्तुतः प्राण, ब्रह्मलीन होकर, सोम के बल (ब्रह्म-वर्चस्) का सर्वत्र विस्तार करके, मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व से असत् को दूर करके उसे आर्यत्व से भर-पूर करने में लग जाता है। कर्म-प्रेरक सोम-बिंदु जीव *(इंद्र)* का वर्धन करतेहुए और अ-रातियों का हनन करतेहुए मनुष्य के आंतरिक जगत् को आर्य बना देते हैं।[१७२] इसी को 'आर्य का वर्धन' भी कहा जा सकता है[१७३], क्यों कि वस्तुतः जीव ही आर्य होता है। इंद्रवर्धन[१७४] और आर्यवर्धन, समानार्थक हैं।

यह आर्यवर्धन जिस अग्नि की उपलब्धि है उसे योगमार्ग *(गातु)* का

सर्वश्रेष्ठ जानकार कहा गया है।[१७३] यह अग्नि उस ई नामक शक्ति का सुविकसित रूप है जो मूलतः प्राणायाम-गत श्वास-प्रश्वासरूप बाहु-द्वय से उद्‌भूत होती है और बाद में मनुष्य की दस प्राणशक्तियों रूप बहिनों द्वारा अखंड चेतना (अदिति) की गोद (समाधि) में पहुंचाई जाती है। इसके फलस्वरूप साधक को बुद्धि-रूप गौ का रहस्यमय पद प्राप्त होता है।[१९६] यह अग्नि, अपने मूल ई रूप में, मूलाधार चक्र से उठनेवाली, बहुचर्चित 'कुंडलिनी' शक्ति है। शनैः शनैः विकसित होताहुआ यह अग्नि, अंततोगत्वा, एकदम श्येन के समान उड़कर, उस 'हिरण्यय आ-सद्' को पहुंच जाता है जिसे ध्यान-बुद्धि द्वारा उपार्जित हिरण्यय कोश कहा जा सकता है।[१९७] यह हिरण्यय आ-सद् ही परमेश्वर (इंद्र) द्वारा प्रदत्त वह *हिरण्यय भोग* है जिसके साथ वह (इंद्र), दस्युहननपूर्वक, आर्य वर्ण की रक्षा भी करता है।[१९८] तात्पर्य यह है कि दैनिक योगाभ्यास द्वारा हिरण्यय तत्त्व का साक्षात्कार करके आंतरिक शत्रुओं का विनाश होता रहता है, जिससे आर्यत्व सुरक्षित रहता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, वास्तव में आत्मा (इंद्र) ही आर्य है। आत्मा के विकास के लिए अनात्म-रूप दास वर्ण को उत्तरोत्तर विस्मृत करना पड़ता है। *वव्रि* रूप को छोड़कर *कृष्टि* बनने से अथ वा विश्व की शक्तियों द्वारा च्यवनशील होकर दास वर्ण को अन्तर्हित करने से तात्पर्य है अनात्म को भुलाकर आत्मबोध को प्राप्त करना। पर यह कार्य यदि परमात्म-रूप इंद्र को अकेले ही करना है तो उससे पूछना होगा कि उसमें यह करने की शक्ति है या नहीं। यदि नहीं है तो वह उपयुक्त समय पर कह दे,

त्वं ह नु त्यद् अदमायो दस्यूँर्, एकः कृष्टीर् अवनोर् आर्याय।
अस्ति स्विन् नु वीर्यं तत् त इन्द्र!, न स्विद् अस्ति तद् ऋतु-था वि वोचः।

ऋ. ६.१८.३

पर नहीं। साधक स्वीकार करता है कि तेरी शक्ति *(सहः)* तो सत् ही है।[१९९] 'सहः' वह शक्ति है जो व्यष्टिगत शक्तियों के एक साथ कार्यरत होने से पैदा होती है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि परमात्मा (इंद्र) तो मानुषी प्राणों और कृष्टि प्राणों का अकेला ही महान् प्रेरक है और उन प्राणों की सामुदायिक (सहः) शक्ति का स्वामी *(सहावा)* है।[२००] व्यष्टिगत अंगिरा प्राण उससे कहते हैं कि 'तुम्हारे साथ हम लोगों का पुराना सख्य है।' अतः वह उनके माध्यम से वल नामक असुर का हनन करे, उसके पुरों का भेदन करे और भीतरी द्वारों को खोल दे।[२०१] यह प्रार्थना मात्र शब्दों से नहीं अपि तु ध्यान-बुद्धियों से करनी है।[२०२] तभी परमेश्वर मानुष प्राणों के जन्म को *मज्म, द्युम्न, शवस्* और *वीर्य* नामक बलों सहित

आध्यात्मिक धन से और अमर *अप्*-तत्त्व से सराबोर कर देगा।[२०३] इस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व आर्य हो जाएगा ऋत नामक आप: की धारा से उक्त सारे बल ('आर्य धाम') ऐसे शुक्र सोम-बिंदु हो जाएंगे जो बुद्धि-रूप गौ से युक्त 'वाज' नामक आध्यात्मिक और शारीरिक बल का क्षरण करते हैं।[२०४]

: २ : पंचविध व्यक्तित्व

दूसरे शब्दों में, आर्यत्व केवल आध्यात्मिक उत्कर्ष में निहित नहीं होता है अपि तु उसका अवतरण शारीरिक स्तर पर भी होना आवश्यक है। इसके लिए, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति नामक पूर्वोक्त तीन *वाक्*-शक्तियों को आर्यत्व को अपनाना पड़ेगा। इन्हें *ज्योतिर्-अग्र प्र-जा:* कहा गया है। इन शक्तियों को वेद में क्रमश: *विभ्वा, ऋभु* और *वाज* कहा गया है। वे अपने सु-वितरक *('सु-दानु')* रूप में शरीर-रूप भूमि पर आर्य व्रतों की सृष्टि करते हैं। साथ ही, प्रज्ञान-सूर्य का आरोहण करतेहुए, वे जिन अनेक शक्तियों को उद्भूत करते हैं उनमें *आप:* भी परिगणित हैं। एक आत्मा और दस प्राणों की दृष्टि से आप: द्विविध हैं।[२०५] आत्म-रूप समुद्र *(अर्ण)* में उठतीहुई तरंगों के समान, प्राण उसमें प्रतिष्ठित होते हैं।[६७] अत: जो व्यक्तित्व एकमात्र अध्यात्म को सब कुछ मानता है उसे *अर्ण-रथ* कहते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्तित्व एकमात्र अधिभूत की विविधता पर केंद्रित होता है उसे *चित्र-रथ* कहा गया है। ये दोनों एकांगी व्यक्तित्व हैं। ये उस प्रगतिशील आर्यता से सर्वथा दूर *(पार)* होते हैं जिसकी प्रतीक *सरयू नदी* है। अत: ये द्विविध आर्य इंद्र द्वारा वध्य माने गए हैं[२०६] क्यों कि वे अपने एकांगी आर्यत्व के अभिमान में पड़कर उस प्रगतिशील आर्यता का तिरस्कार करते हैं जिसमें अध्यात्म और अधिभूत, दोनों का समावेश होता है। पहले, 'अर्ण-रथ', व्यक्तित्व का एक नाम द्रुह्यु (=द्रोही) है क्यों किं वह अपने अध्यात्म के अभिमान में अधिभूत का द्रोही हो जाता है। दूसरे, 'चित्र-रथ', व्यक्तित्व की एक संज्ञा *अनु* है क्यों कि वह अधिभूत के अहंकार में, प्राणों की अध्यात्म-जनित प्रकृष्टता को खोकर, प्राण के स्थान पर भौतिक *अन* का ही उपासक होता है।

इन दोनों के अतिरिक्त, *यदु* और *तुर्वशु* नामक दो ऐसे एकांगी व्यक्तित्व भी होते हैं जो किसी कारण सरयू की धारा में स्नान करने से वंचित तो रह गए हैं पर उससे द्वेष नहीं करते हैं। इनके लिए इंद्र सरयू की जलधारा को शांत करके उन्हें एक ओर से दूसरी ओर, आर-पार जाने का अवसर प्रदान करता रहता है।[२०७] इससे उन दोनों को सरयू में क्षणिक प्रवेश का आनंद मिल जाता है ताकि

आगे वे सतत अभ्यास से सच्चे आर्य बन सकें। यदु व्यक्तित्व अध्यात्म और अधिभूत में यदृच्छावश यदा-कदा रत होताहुआ दोनों के बीच झूलता है, जब कि तुर्वशु* अध्यात्म अथ वा अधिभूत, दोनों में बड़े वेग के साथ रत होता है। परमेश्वर की कृपा से इन्हें सच्चे आर्यत्व का मार्ग दुष्कर नहीं रहता है।

इनके अतिरिक्त, आर्य व्यक्तित्व के एक अन्य पक्ष का नाम *पुरु* है। एक ओर तो, पुरु बहिर्मुखी, 'सर्व' आयु का भोग करता है और, दूसरी ओर, वह *पवमान* होकर 'विश्व' *(स्वर्-ग)* में भी पूर्णता प्राप्त करता है।[२०८] दूसरे शब्दों में, जहां वह आंतरिक जगत् के सत्त्वगुण-संपन्न दिव्य प्राणों के साथ, बहिर्मुख 'सर्व' के राजस प्राणों की प्रियता का इच्छुक है वहां वह उनसे युक्त 'विश्व' के *आर्य* व्यक्तित्व में और 'सर्व' के *शूद्र* व्यक्तित्व में भी अपनी प्रियता चाहता है।[२०९] पुरु व्यक्तित्व व्यष्टिगत, सीमित 'जात-वेदाः' के स्थान पर, समष्टिगत *बृहत् जात-वेदाः* का शरणागत होता है और उससे श्रद्धा और मेधा की याचना करता है।[२१०] वह आयु ही नहीं अपि तु अमृतत्व भी चाहता है, लेकिन *आचार्य* बनने (अपने आचरण द्वारा दूसरों के आचरण को ऊंचा उठाने) के निमित्त।[२११] इसलिए, इस व्यक्तित्व को *पुरु-मित्र* कहा गया है। इसकी बुद्धिरूपिणी पत्नी *(योषा)* निरहंकार व्यक्तित्व के सद्गुणों की जन्मदात्री बनती है।[२१२] अन्यत्र जहां सामान्य व्यक्तित्व को मतियों और इच्छाओं रूप अश्वों द्वारा रंहणीय 'मनुष्य-रथ' के रूप में कल्पित किया गया है वहां पुरु नामक व्यक्तित्व को *पुरु-रथ* कहा गया है जो पूर्वोक्त 'अर्य' नामक व्यक्तित्व का जानकार *(अर्यमा)* भी है।

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते, राजाना मित्रावरुणा विवाससि।

अतूर्त-पन्थाः पुरु-रथो अर्यमा, सप्त-होता विषु-रूपेषु जन्म-सु। ऋ. १०.६४.५

मन, बुद्धि और पांच ज्ञानेंद्रियों से समन्वित होने के कारण, पुरु व्यक्तित्व नानारूपात्मक आध्यात्मिक सृष्टि-यज्ञ का *सप्त-होता* है। वह शांत, सुस्थिर होने के कारण *अतूर्त-पन्थाः* है। इस व्यक्तित्व को, विकल्प से, यह कहकर भी वर्णित किया जा सकता है कि दक्षता उत्पन्न करने के व्रत में यह सब (अर्यमा, सप्त-होता, आदि) संभव होना वस्तुतः अदिति नामक अखंड चेतना द्वारा मित्र-वरुण की परिचर्या है।

: ३ : ययाति व्यक्तित्व

निघण्टु के 'मनुष्य'-नामों के प्रसंग से उपर्युक्त *द्रुह्यु, अनु, यदु, तुर्वशु* और *पुरु* के

* तुर्-वश् = द्रुत-कामना वाला।

उल्लेख आगे सु-दा: के दाशराज्ञ युद्ध से संबंधित पाए जाएंगे। *रामायण, महाभारत* और पुराणों में ये पांचों ययाति के पुत्र हैं। ययाति की चर्चा *ऋग्वेद* में भी हुई है। इन सब संदर्भों में, उक्त पांचों को समझने के लिए, ययाति की चर्चा करना आवश्यक है।

वैदिक और वैदिकोत्तर परंपरा के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात्, ययाति मनोमय आत्मा पर केंद्रित आध्यात्मिक और भौतिक व्यक्तित्व का प्रतीक सिद्ध होता है। वेद की उक्ति, *चन्द्रमा मनसो जात:*[२१३] के आधार पर ययाति को चंद्रवंशीय माना गया है। उसकी अमर्यादित, आंतरिक और बाह्य गतियों की दृष्टि से, उसको गत्य्-अर्थक *या* धातु और अतिशय के बोधक *अति* के योग से निष्पन्न 'ययाति' नाम दिया गया है। उसका आध्यात्मिक पक्ष, ब्राह्मण आचार्य शुक्र की पुत्री देवयानी के प्रसंग से, और भौतिक पक्ष, असुरराज वृष-पर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा के प्रसंग से संकेतित हुए हैं। देवयानी और शर्मिष्ठा के बीच ईर्ष्या-द्वेषात्मक संघर्ष है। वह, देखने में, ययाति की दो रानियों का सौतिया डाह भले ही लगे पर, वास्तव में, वह मनुष्य में विद्यमान, अध्यात्म और अधिभूत का सनातन संघर्ष है।

इस संघर्ष में, मनुष्य कभी अध्यात्म-प्रधान (दैव) होता है, तो कभी अधिभूत-प्रधान (आसुर)। प्रथम अवस्था का प्रतीक ययाति और देवयानी का संबंध और उससे उत्पन्न पुत्र, यदु और तुर्वशु हैं। दूसरी अवस्था का संकेत ययाति और शर्मिष्ठा का संबंध और उससे प्रसूत पुत्र, अनु और द्रुह्यु हैं। ये चार पुत्र, वस्तुत:, ययाति के व्यक्तित्व के चार आयामों के प्रतीक हैं। यदु और तुर्वशु में अध्यात्म की प्रधानता है। पर
ययाति के व्यक्तित्व को अधिभूत दो भिन्न रूपों में आक्रांत करता है। आलस्य और प्रमाद यदु-व्यक्तित्व की अध्यात्म-साधना को प्राय: अनियमित और खंडित करते रहते हैं, जब कि भावुकता और कामुकता के आवेग तुर्वशु-व्यक्तित्व में विभिन्न प्रकार के विक्षेप और विघ्न पैदा करते रहते हैं। अत: तुर्वशु को कभी कभी दुर्-*वासा:* कहा गया है। ययाति के व्यक्तित्व के ये दोनों आयाम आध्यात्मिक विकास में आगे नहीं बढ़ पाते हैं।

अधिभूत की प्रधानता से उत्पन्न द्रुह्यु और अनु नामक व्यक्तित्वों में थोड़ी सी आध्यात्मिकता आती है। पर वह देहाभिमान-प्रेरित भौतिकता के कारण विकृत हो जाती है। जब द्रुह्यु-व्यक्तित्व उभरता है तो मनुष्य अधिभूत-द्रोही होकर यह भूल जाता है कि *शरीरम् आद्यं खलु धर्म-साधनम्* है।[२१४] अत: वह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की उपेक्षा करके जिस तथाकथित अध्यात्मसाधना में लगता

है वह मृगमरीचिका सिद्ध होती है। इसके विपरीत, अनु-व्यक्तित्व अध्यात्म का सर्वथा परित्याग करके उस आध्यात्मिक शक्ति से वंचित रह जाता है जो *अन* को प्रकृष्टता देकर उस शक्ति को प्राण *(प्र-अन)* बनाती है। अत: व्यक्तित्व के अभीष्ट विकास-पथ को ये दोनों को भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

इस प्रकार, ययाति के व्यक्तित्व के द्रुह्यु और अनु रूप, यदु और तुर्वशु की तरह, स्वयं ययाति के योग-क्षेम के विरोधी हैं। यह बात जिस परीक्षा की घड़ी में सिद्ध होती है वह ययाति के उस अंतर्विरोध के कारण उपस्थित होती है जिसका प्रतीक देवयानी और शर्मिष्ठा का एक दूसरे के प्रति सौतिया डाह है। इस अंतर्विरोध के कारण ययाति के व्यक्तित्व में शक्ति का ह्रास आता है। इसका प्रतीक शुक्र के शाप से जनित वार्धक्य है। इसके निवारण में उसके उक्त पुत्र-चतुष्टय-रूप आयाम उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। वे तो उस परिस्थिति की उपज हैं जब देवयानी और शर्मिष्ठा के रूप में क्रमश: 'भौतिकतापरक' अध्यात्मवाद और 'अध्यात्मपरक' भौतिकवाद द्वारा ययाति की टांगों को दो विरुद्ध दिशाओं में खींचा जारहा था।

ययाति जिस चिर यौवन की चाह करता है वह ऐसा समन्वित आर्यत्व है जो भोग और योग, अधिभूत और अध्यात्म में सामंजस्य स्थापित कर दे। यह चिर यौवन उसे ऐसे व्यक्तित्व से ही मिल सकता है जिसमें औदार्य-धन *(वरिव:)* उसके समस्त अंतर्विरोध को दूर कर दे। ऐसे व्यक्तित्व का प्रतीक है ययाति का पुत्र पुरु। इसे स्वयं इंद्र 'वरिव:' को प्रदान करता है।[२१५] इस व्यक्तित्व को पूर्वोक्त पुरु-रथ, पुरु-मित्र, आदि रूप में कल्पित किया गया है। यही वह *सु-दा:* है जिसके निमित्त इंद्र *अंहु* नामक असुर का छेदन कर डालता है।[२१५]

● वेद में, *मनुवत्,*[२१६] *मनुष्वत्, अंगिरस्वत्, ययातिवत्* और *पूर्ववत्*[२१७] कहकर मनुष्य के व्यक्तित्व के पांच आयामों का उल्लेख किया गया है। वे क्रमश: आनंदमय, विज्ञानमय, प्राणमय, मनोमय और अन्नमय कोशों से संबंध रखते हैं। इनमें से 'पूर्व' व्यक्तित्व अन्नमय शरीर है। इसे लेकर मनुष्य जन्मता है। अन्य चार व्यक्तित्व 'नव्य' व्यक्तित्व के विभिन्न स्तर हैं। इन्हें साधना द्वारा अर्जित करताहुआ, मनुष्य अंतिम *(मनुवत्)* व्यक्तित्व में पूर्ण *(अन्-ऊन)* अग्नि को प्राप्त करता है। इनमें से 'ययातिवत्' या मनोमय व्यक्तित्व *मनुवत्* (=आनंदमय) और *मनुष्वत्* (=विज्ञानमय) व्यक्तित्वों से युक्त होकर 'दैवी' त्रिलोकी का अंग हो जाता है, तो *अंगिरस्वत्* (=प्राणमय) और *पूर्ववत्* (=अन्नमय) व्यक्तित्वों से संयुक्त होकर वह 'मानुषी' त्रिलोकी का अंग बनता है। दोनों त्रिलोकियों का अंग होने से, ययाति एक ओर, प्राणमय और अन्नमय स्तरों के *कर्म* का प्रेरक है और दूसरी

ओर, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों से जुड़कर वह *प्रज्ञान* का प्रबल प्रेरक भी हो सकता है। एक भोग का मार्ग है, दूसरा योग का। इन दोनों में एक ओर, उसे बुद्धि, मन और पांच ज्ञानेंद्रियों को अंतर्मुखी करना है और दूसरी ओर, बुद्धि, मन और पांच कर्मेंद्रियों को संयत करना है। ये, द्विविध *सप्त सिंधुएं* हैं। इनमें यदि पाप घुस जाता है तो वह जीवात्मा को *कुत्स* अथ वा *पुरु-कुत्स* बना देता है। जब इंद्र पाप के सप्त पुरों को नष्ट करता है तभी जीवात्मा कुत्स से 'सु-दाः' अथ वा 'पुरु' बनता है।[२१५] इस निमित्त उसे इंद्र की ऐसी द्विविध सहायता चाहिए जिससे वह कर्तव्यनिष्ठ हो सके–एक, शत्रुसंहारक और दूसरी, प्रेरक।[२१८] इस दृष्टि से, सर्वप्रथम तो, उसे संन्यासार्थ *नव्य ऊं* की उपासना करनी है। यह जो आंतरिक शत्रुओं का विनाशक है।[२१९] यह उक्त सात सिंधुओं को आसुरी पाप के साथ आर्यपक्षीय पाप से भी मुक्त करने में समर्थ है।[२१०]

पुराण-गत ययाति : इस प्रकार, उक्त द्विविध संयम द्वारा ययाति मृत्युलोक में (मनोमय से लेकर अन्नमय कोशों तक) एक धर्मराज्य की स्थापना करता है। इसमें पाप, रोग, जरा और मृत्यु से मुक्ति हो जाने के कारण यमदूतों के लिए कोई भी कार्य शेष नहीं रह जाता है।* ययाति के धर्मराज्य से जहां इंद्र को चिंता है कि अपने पिता के समान, कहीं वह भी उसका आसन न हथिया ले, वहां धर्मराज को डर है कि कालांतर
में उसके यमदूतों को अपना धंधा सर्वथा बंद करना पड़ेगा। अतः दोनों देव इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि ययाति को स्वर्ग में निवास के लिए बुलाना चाहिए। इंद्र इस कार्य के लिए मातलि को ययाति के पास भेजता है। पर ययाति स्वर्ग में निवास को ठुकरा देता है। उसका कहना है कि आत्मा के साथ मिलकर शरीर जब धर्म का रक्षक है तो मैं स्वर्ग क्यों जाऊं। दूसरे, धर्म के क्षय से देवों को भी दुःख होता है। यज्ञ के शिर का छेदन और पुनः संयोजन, सूर्य का कुष्ठ, वरुण का जलोदर, पूषा के दांतों का टूटना, सोम का क्षय रोग, आदि इसके प्रमाण हैं। अंत में उसका सुविचारित निर्णय है कि बिना पार्थिव शरीर के मैं स्वर्ग नहीं जाऊंगा, न शरीर त्यागूंगा।[२२१] वह शरीर त्यागे भी क्यों? सौ वर्ष की आयु होने पर भी वह षोडशवर्षीय लगता था। बलवीर्य-समन्वित देह में ग्लानि, हानि, श्रम, व्याधि और जरा का लेश भी नहीं था। उसका शरीर धर्मोत्साह से वर्धमान था। पाप-व्याधि के विनाश के लिए धर्म अमृतमय, दिव्य और परम ओषधि है। उससे शोधित उसकी

* ययाति की कथा *पद्मपुराण* में चौंसठवें अध्याय से त्रासीवें अध्याय तक विस्तार से है।

काया नितांत निर्दोष थी। इसके अतिरिक्त पूजा, ध्यान, नियम, सत्य-भाव और दान द्वारा शरीर नित्यप्रति नवीनता ग्रहण करता रहता है।* इसलिए, वह मातलि से स्पष्ट कहता है कि मेरे शरीर के सब दोष और व्याधियां नष्ट होती रहती हैं। बाहरी और भीतरी शौच के कारण कोई दुर्गंधि नहीं होती है। अत: मैं परमेश्वर के प्रसाद से पवित्र होकर, तप, भाव और स्वधर्म के द्वारा इस पृथिवी को ही स्वर्ग बनाऊंगा। जाओ, पुरंदर से यही बात कह दो, 'मैं स्वर्ग नहीं जाऊंगा।'**

ययाति का पतन और पुनरुत्थान : इंद्र के प्रस्ताव को जब ययाति ने ठुकरा दिया तो इंद्र ने उसे गिराने का अन्य उपाय सोचा। उसने काम देव, गंधर्व और अप्सराओं को बुलाया। उनसे कहा कि किसी उपाय से ययाति को स्वर्ग में ले आओ। यह सुनकर, वे सब नट-रूप धारण करके ययाति के पास गए। उन्होंने अपना सुनियोजित जाल फैलाया। राजा उस जाल में फंस गया। नारी के कलकंठ से गाएहुए गीत, उनके साथ ललित हास-विलास, मधुर आलाप सहित जो नाटक होता था उसका सूत्रधार स्वयं काम था; पृथिवी उसकी नटी थी। नृत्य देखताहुआ और उत्तम गीत सुनताहुआ, ययाति पूर्णतया मोहजाल में पड़कर जरा-जर्जरित होने लगा। कामुक गीत, लास्य, हास और ललित मोहिनी से ग्रस्त होकर राजा में कायिक और मानसिक आशौच ने प्रवेश कर लिया। कामविह्वल, विषयपरायण रहने लगा।

इसी बीच, वह एक दिन वन में आखेट के लिए गया। वहां उसने एक सर्वांगसुंदर सुनहरा मृग देखा। देखते ही उसने अपना रथ उसके पीछे दौड़ाया। मृग तो उसके हाथ नहीं आया पर वह थकावट से चूर-चूर हो गया। जब मृग राजा को बहुत दूर तक अपने आकर्षण से खींच ले गया तो वह एकाएक अंतर्धान हो गया। तब तक राजा एक ऐसे वन में पहुंच गया था जो स्वर्ग के नंदनवन-सदृश था। वहां उसने नाना प्रकार के फलों और पुष्पों से लदेहुए पेड़ों के बीच एक सुंदर सरोवर देखा। थका तो था ही। उसने स्नान किया। विश्राम के लिए जब एक सघन छाया वाले वृक्ष के नीचे गया तो नारी-कंठ से निस्सृत-सी एक सुंदर गीतध्वनि उसे सुनाई पड़ी। कनरसिया राजा गायिका के रूप, आदि की कल्पना कर ही रहा था कि एक सर्वांगसुंदरी, रूपयौवनसंपन्ना नारी राजा के सामने आकर खड़ी हो गई। राजा के पूछने पर भी वह कुछ न बोली, और चली गई। कुछ देर के बाद पहले जैसी मधुर ध्वनि वाले संगीत से वह स्थान प्रतिध्वनित हो उठा।

* *हरे: पूजोपचारेण, ध्यानेन नियमेन च। सत्य-भावेन दानेन, नूतन-कायो वि-जायते।।*

** *तपसा चैव भावेन, स्व-धर्मेण मही-तलम्। स्वर्ग-रूपं करिष्यामि, प्र-सादात् तस्य चक्रिण:।।*
एवं ज्ञात्वा प्र-याहि त्वं, कथयस्व पुरं-दरम्।

ययाति जब गायिका की खोज करने लगा तो उसे उस पूर्वदृष्टा नारी के साथ एक अतीव सुंदरी और रूपशीलसंपन्ना युवती दिखाई पड़ी। राजा उस पर बुरी तरह आसक्त हो गया और अपना परिचय देकर प्रणय-निवेदन करतेहुए कहने लगा, हे भद्रे! मैं तुम्हारे साथ संगम चाहता हूं। तुम मुझसे जो चाहोगी वह सब निस्संदेह तुम्हें दूंगा। कामपीड़ित होकर मैं अत्यंत दैन्य भाव से तुम्हारी शरण में अपना राज्य, शरीर और सर्वस्व समर्पित करता हूं।' यह सुनकर उस परम सुंदरी ने अपनी सखी विशाला से कहकर राजा को अपना परिचय दिलवाया और यह भी बतलाया कि वह किन शर्तो पर उसका वरण कर सकती है।

विशाला के बताए अनुसार, उस परम सुंदरी का नाम अश्रुबिन्दुमुखी था क्यों कि वह काम की पत्नी, रति के आनंदाश्रुओं से पैदा हुई थी। आनंद का कारण यह था कि रति का जो पति महादेव द्वारा भस्मीभूत कर दिया गया था वह शिव की कृपा से पुन: जीवित होकर अपनी प्रिया के पास पहुंच गया था। इससे अधिक आनंद और क्या हो सकता था? जैसे ही रति ने किसी से सुना कि काम देव आ गया है वैसे ही उसने परमानंदित दृष्टि से अपने पति को देखा। उसकी आंखों से आनंदाश्रुओं की झड़ी लग गई जिससे प्रीति, ख्याति, महानंद, शांति, लीला, क्रीडा, आदि प्रजाएं उपजीं। उसके वाम नेत्र से जो अश्रुबिंदु जल में गिरे उनसे एक कमल उत्पन्न हुआ। उस कमल से वह परम सुंदरी युवती उत्पन्न हुई थी। वह युवती उस कामसरोवर पर पति के लिए तपस्या कररही थी। पर वह ऐसे यौवनसंपन्न, सर्वज्ञ, वीर, धर्माचारसमन्वित, तेजस्वी, महाप्रज्ञ और दानी पुरुष को पति वरण करना चाहती थी जो पुण्यात्मा, गुणी, धर्मभावयुक्त, याज्ञिक, नारायण के समान ऐश्वर्ययुक्त, वेदतत्त्वज्ञ, त्रैलोक्यप्रसिद्ध और देव-ब्राह्मणों का प्यारा हो।

ययाति में ये सब गुण थे, पर जरा-दोष उन सब गुणों पर पानी फेरनेवाला था। अत: विशाला के सुझाव पर वह अपने पुत्रों के पास गया और उनमें से एक एक से जरा के बदले अपना यौवन देने को कहा। चार राजकुमारों ने अपना यौवन देना स्वीकार नहीं किया। पर पांचवें पुत्र, पुरु ने अपना यौवन सहर्ष देकर अपने पिता की जरा स्वयं ग्रहण कर ली। ययाति ने यौवनसंपन्न होकर अश्रुबिंदुमुखी को अपनी पत्नी बनाया और उसे वचन दिया कि अब वह अपनी पूर्वपत्नियों (दिवयानी और शर्मिष्ठा) से कुछ भी संबंध नहीं रखेगा। तत्पश्चात्, अश्रुबिंदुमुखी के आग्रह पर, उसने पुरु से अपनी जरा वापस लेकर, उसकी तरुणाई उसे लौटा दी और उसे राज्यभार संभलाकर स्वयं अश्रुबिंदुमुखी के साथ स्वर्ग लोक को चला गया। यह योजना वास्तव में इंद्र की ही थी। उसने मेनका अप्सरा को

अश्रुबिंदुमुखी के पास भेजकर कहलाया था कि किसी उपाय से वह ययाति को मर्त्य लोक से स्वर्ग में ले आए।

ययाति की कथा का प्रतीकार्थ : निस्संदेह यह कथा कोई पुरावृत्तात्मक अथ वा इतिवृत्तात्मक इतिहास नहीं है। इसका प्रमाण रति के आनंदाश्रुओं से प्रसूत अनेक प्रकार की आनंदविधायक संतानें (प्रीति, आदि) हैं। इसके विपरीत, अपने पति के वियोग में रति ने जो अश्रु गिराए थे उनसे उत्पन्न प्रजाओं में मूर्च्छा, शोक, कामज्वर, प्रलाप, उन्माद, मृत्यु, वियोग, दु:ख, संताप, जरा जैसी दु:खकारिणी संतति का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि यहां मनुष्य के जीवन की दो भिन्न मानसिक अवस्थाओं का वर्णन है। इनमें से एक अवस्था को उस 'सांग' (=अशरीर) काम से प्रभावित कह सकते हैं जो इंद्रियविषयों के भोग और तज्जन्य मानसिक और शारीरिक कषायों का कारण बनता है। दूसरी अवस्था उस 'अनंग' (=अशरीर) काम से उत्पन्न होती है जिसे ऋग्वेद में *मन का रेत:*[२२२] और *श्रीमद्भगवद्गीता* में *धर्माविरुद्ध काम*[१७०] कहा गया है। पहला काम अपने सब विकारों के साथ महादेव के नेत्र से भस्म होता है तो दूसरा काम आनंदाश्रु की धारा उत्पन्न करता है। इस धारा से उत्पन्न होनेवाली अतिमानसिकी ध्यानावस्था का नाम 'अश्रुबिंदुमुखी' है। इसकी प्राप्ति के लिए ययाति आतुर हो उठता है। पर उसकी प्राप्ति तभी होगी जब वह उस यौवन को प्राप्त करे जिसे भोग-योगसमन्वय का प्रतीक कहा जा सके। यह यौवन उसे उस पुरु से ही प्राप्त हो सकता है जो, जैसा कि पहले कहा गया है, समन्वित व्यक्तित्व का प्रतीक है। उसकी सहायता से ययाति उक्त अतिमानसिक साधना-स्तर पर पहुंचकर उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। इससे, पुरु के रूप से समन्वित ययाति का व्यक्तित्व पुन: यौवनसंपन्न हो जाता है। साथ ही उसके व्यक्तित्व का वह समस्त विकासजन्य ऐश्वर्य भी उसे प्राप्त हो जाता है जिसका प्रतीक–वार्धक्य उसे पहले मिल चुका था।

'पूर्ववत्' की परा काष्ठा : इस प्रकार, अब मनुष्य का पुरु नामक व्यक्तित्व उस परा काष्ठा की ओर अग्रसर होता है जिसे वेद में *पुरू-तम* कहा जाता है।[२२३] यह *पुरुतम रथ* वस्तुत: *वाक् गौ* का केंद्रीकरण (संगति) है। जो साधक उसके द्वारा 'सूर्या' नामक ब्राह्मी ज्योति को वहन करता है उसे रथ की उच्चतम काष्ठा (समाधि) का इच्छुक *(बन्धुरथ)* कहा जाता है।[२२३] *पुरुतम ज्योति:* वाला यही वह मार्ग है जिसे दिव्य उषाएं जन के लिए बनाती हैं।[२२३] प्रकाशकिरणों रूप गौओं का यही वह अपूर्व *सर्ग* है जिसे मरुतों का सर्ग भी कह सकते हैं।[२२३] यह समाधि-स्थिति सब *पुरुओं की पुरुतम,* विशिष्ट वाक् है जिसे इंद्र वाजों द्वारा वाजायमान कर सकता

है।[२२३] वे सब पुरु तत्त्व वस्तुत: 'पुरु'-भूत प्राण हैं। इनका स्वामी इंद्र *(पुरुतम)* है।[२२३] उससे प्रार्थना की जाती है कि वह हमारे 'घ' नामक *योग* में आविर्भूत होवे और अनेक वाजों सहित हमारे *पुरं-धि* पद में[२३४] में आ जाए।* घ नामक योग संशयों रूप वृत्रों का हन्ता *(घन)*[२२५] और *शतक्रतु* है। अत: उसका अवतरण जब पुरं-धि पद पर होता है तो उस स्तर के बलों में वर्तमान जीव की रक्षा होती है।[२२६] यही वह दु:खरहित स्वर्ग (नाक**) है जिस पर वैश्वानर अग्नि, ध्यान-प्रक्रियाओं द्वारा मनोमय स्तर को प्रज्वलित करताहुआ आरूढ होता है। तब वह 'पूर्ववत्' व्यक्तित्व, जागरूक होकर, मनुष्य-प्राण के लिए आध्यात्मिक धन को उत्पन्न करतेहुए, समान गृह को प्राप्त होता है।[२२७] अत: इसे 'पूर्ववत्' व्यक्तित्व के विकास की परा काष्ठा कह सकते हैं। यही वह *पुरुतम ॐ* पद है जो इंद्र-वरुण के शश्वत्तम रूप को सहायतार्थ पुकारता रहता है।[२२९] यही वह स्तर है जहां सविता देव के वरेण्य भर्ग का ध्यान करके,[२२८] हम उक्त पुरंधी द्वारा 'वाज' नामक बल की कामना करतेहुए सविता-भग की राति की याचना करते हैं।[२३०]

यही व्यक्तित्व वह *पुरुतम पावक* बन जाता है जो सब स्थूल अनेकताओं को भस्म कर देता है।[२३१] यही वह *पुरुतम अग्नि* है जो अध्वर नामक आध्यात्मिक यज्ञों को वृद्धि प्रदान करनेवाला है।[२३२] यह 'पूर्ववत्' व्यक्तित्व का *अपूर्व्य पुरुतम* रूप है जिसे इंद्र का भोजन अथ वा स्तोम कहा जा सकता है।[२३३] अत: इंद्र इस पुरुतम को पसंद कर लेता है। तब *वृत्र-हा* होकर वह *आप:* को भर-भर के देता है। अत: जब हम ईं नामक उदक की कामना करते हैं तो वह उसे पूरा कर देता है।[२३४] ऋग्वेदीय सूक्त, १०.७४ के अंतिम मंत्र के साथ संगति बिठातेहुए, अगले सूक्त १०.७५ में इक्कीस उदक-प्रवाहों का अतिक्रमण करनेवाले सिंधु का वर्णन है। उसे मनुष्य के व्यक्तित्व का चेतना-सिंधु कहा जा सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व को ऐसे सुखदायक अश्व-रथ में परिणत कर देता है जिसके द्वारा वह 'वाज' नामक बल अथ वा अन्न को वितरित करता है। इस वाज को अगले सूक्त, १०.७६ में एक अद्भुत ऊर्जा (ऋक् १), ॐ नामक श्रेष्ठ सवन (ऋक् २) और मनु के लिए मार्ग प्रस्तुत करने वाले आप: (ऋक् ३) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मनु से युक्त व्यक्तित्व 'मनुवत्' कहा जाता है। मनुवत् व्यक्तित्व वाले अपनी वाचिक जुहू द्वारा पूर्ण और मधुसंपृक्त अग्नि का आह्वान करते हैं।[२१६] तब उन्हें अहि-परिवेष्टित, *मही पूर्वी* आप:' को मुक्त करनेवाले इंद्र की याद आ जाती है।[२३५] ऋ १.३१ में उस पूर्ण

* यास्क ने पुरं-धि को बहु-धी, अर्थात्. गीता की बहुशाखा बुद्धि वाला माना है।

** अ-क =सुख-रहितता। न-अक =सुखाभाव-रहितता।

अग्नि को 'प्रथम अंगिरा ऋषि' (ऋक् १), 'प्रथम अंगिरस्तम' (ऋक् २), प्र-मति (ऋक् ९) और 'शुचि', 'अंगिरा:' (ऋक् १७) कहकर पुकारा जाता है। 'मनुवत्' व्यक्तित्व को 'मनु पुरूरवा:' (ऋक् ४) कहा जाता है। वह अग्नि अनाहत नाद द्वारा उसके आंतरिक आकाश को शब्दायमान कर देता है। उस अग्नि से प्रार्थना है कि वह मनुष्वत्, अंगिरस्वत् ,ययातिवत् और पूर्ववत् होकर आए और हृदयासन पर ब्रह्म (*दैव्य जन*) को आसीन कर दे[२१७] और इस ब्रह्म द्वारा हमारा शक्ति-वर्धन करके हमें श्रेय: को प्राप्त कराताहुआ *वाजवती सु-मति* से युक्त कर दे।[२३६]

दूसरे शब्दों में, 'मनुवत्' व्यक्तित्व द्वारा अर्चित पूर्ण अग्नि जब मनुष्वत्, अंगिरस्वत्, ययातिवत् और पूर्ववत् स्तरों पर अवतीर्ण होता है तो ब्रह्म *(दैव्य जन)* को उन स्तरों पर लाकर वह मनुष्य के व्यक्तित्व को शक्ति, श्रेय: और वाजवती सु-मति से संपन्न कर देता है। तब 'मनु' व्यक्तित्व मनुष्वत्, आदि के संदर्भ से *पुरूरवा:*, अर्थात्, 'बहुविध अभिव्यक्ति (रव) करनेवाला' कहलाता है। यह वही पुरूरवा: है जो उर्वशी अप्सरा के संयोग से एक अन्य व्यक्तित्व को जन्म देता है जिसको वेद में *आयु* नाम से जाना जाता है। इसका विवेचन अगले अध्याय का विषय है।

४ इतिहास और वेद में पुरूरवा:

वेद में मनु पुरूरवा: का उल्लेख चौंकानेवाला है। *ब्राह्मण* ग्रन्थों में एक ओर जहां *आयुर् वै मनु:* उक्ति मिलती है[२३७] वहां दूसरी ओर आयु को पुरूरवा: और उर्वशी का पुत्र कहा जाता है।[२३८] अत: *मनु पुरूरवा:* कहने का क्या तात्पर्य है? क्या पुत्र और पिता को एक माना जाए? क्या पुत्र को पिता का रूपांतर मानकर, पुत्र को अपने नाम का प्रयोग पिता के नामसहित करने का अधिकार स्वीकार किया जाए?

ऐसी ही एक उलझन ऋग्वेदीय सूक्त, १०.९५ की १७वीं ऋक् उपस्थित करती है। वहां पुरूरवा: अपने लिए *वसिष्ठ* शब्द का प्रयोग करता है। तो क्या मनु पुरूरवा: ही वसिष्ठ पुरूरवा: है? अथ वा ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं? इस प्रश्न का उत्तर यदि वेदोत्तर साहित्य में खोजते हैं तो *ब्राह्मणों, रामायण, महाभारत* और पुराणों में कहीं भी पुरूरवा: को न तो मनु कहा जाता है और न वसिष्ठ। पर पुराणों में पुरूरवा: के तीन जन्मों का वृत्तान्त अवश्य मिलता है। तीनों जन्मों में उसका नाम पुरूरवा: ही रहता है। यदि तीन जन्मों में से दो जन्मों को मनु पुरूरवा: और वसिष्ठ पुरूरवा: मान लें तो तीसरे को *ऐड* पुरूरवा: कह सकते हैं, जो वैदिक और पौराणिक साहित्य में समान रूप से चर्चित है। मरने के बाद, पुरूरवा: 'विश्व' देवों में से एक होता है। यह उसका चौथा रूप है।

: १ : पुराणों में पुरूरवा:

ऐसी स्थिति में यह कथन सत्य प्रमाणित हो जाएगा कि इतिहास और पुराण द्वारा वेद का *उपबृंहण* होता है अथ वा इतिहास और पुराण की रचना वैदिक तत्त्वज्ञान के विस्तारार्थ हुई है।[२३९] यदि इस कथन का सत्यापन हो जाता है तो वेद-व्याख्यान की एक नई दिशा मिल जाती है और इतिहास और पुराण का महत्त्व बढ़ जाता है। इस दृष्टि से, सर्वप्रथम, पुराणों में वर्णित पुरूरवा: के तीन जन्मों और मरणानन्तर 'विश्व' देव रूप पर यहां विचार किया जारहा है।

ऐड पुरूरवा: : तीनों जन्मों में से, ऐड पुरूरवा: सर्वाधिक प्रसिद्ध है। *ऐड* का अर्थ है इडा का पुत्र। इडा (इला) वस्तुत: मनु का पुत्र इड (इल) था जो छह महिने पुरुष और छह महिने स्त्री रहता था। *भागवत*[२४०] और *मत्स्य*[२४१] पुराणों के अनुसार उसका मूल नाम सु-द्युम्न था। वह दिग्विजय करताहुआ एक वन में जा पहुंचा। वह शंकर-पार्वती का क्रीडावन था। वहां का नियम था कि शंकर के अतिरिक्त जो भी पुरुष उस वन में प्रवेश करता था वह स्त्री हो जाता था। तदनुसार, सु-द्युम्न (इड) स्त्री (इडा) हो गया। इस पर वह बहुत लज्जित था। उसने शंकर से प्रार्थना

की कि वे उसे पुन: पुरुष बना दें। शंकर ने उसे पार्वती के पास भेजा। पार्वती ने दया करके कहा कि वह छह महिने पुरुष और छह महिने स्त्री रहा करेगा। कहीं कहीं छह महिने के स्थान पर एक महिने का उल्लेख है। अस्तु। जिन दिनों वह इडा था तब उसका समागम सोम के पुत्र बुध से हो गया जिससे पुरूरवा: का जन्म हुआ। इडा का पुत्र होने से उसे 'ऐड' कहा गया।

यही ऐड पुरूरवा: उक्त ऋग्वेदीय सूक्त में उर्वशी से वार्तालाप कररहा है। पुराणों में इन दोनों की कथा विस्तार से मिलती है। *विष्णुधर्मोत्तर* पुराण के प्रथम खंड के एक सौ उन्तीसवें अध्याय में उर्वशी के जन्म से कथा का सूत्रपात होता है। उर्वशी अप्सराओं में श्रेष्ठ मानी गई है। वह न देवी है, न गंधर्वी और न असुरी। उसकी श्रेष्ठता इसमें है कि वह 'नारायण की सुता' कहलाती है जब कि अन्य अप्सराएं 'मौनेया' कही जाती हैं।[२४२]

दक्ष की कन्या साध्या से उत्पन्न, नर और नारायण नामक दो 'साध्य' देव हैं। वे बदरिकाश्रम में तप कररहे थे। उनका तप भंग करने के लिए इंद्र ने दस मौनेय अप्सराओं को उनके पास भेजा। उनको देखते ही नर तो काममोहित हो गया। पर कामजयी नारायण ने उनके आंतरिक भाव को जानकर, कामोद्दीपक सहकार रस लेकर अपने ऊरु-द्वय की सहायता से एक परम सुंदरी बनाई। ऊरु से जन्मने के कारण उसका नाम उर्वशी हुआ। उसे देखते ही मौनेय अप्सराएं लज्जित होकर इंद्र के पास लौट गईं। उर्वशी को देखने के लिए इंद्र बदरिकाश्रम गया और दोनों धर्मनित्य साध्यों के चरणों पर गिर पड़ा। नारायण ने इंद्र से, हंसतेहुए, कहा कि 'यह उर्वशी मेरे ऊरुओं से उत्पन्न है और सब अप्सराओं में श्रेष्ठ है। इसे तुम त्रि-दिव (स्वर्ग) में ले जाओ।' इंद्र ने उसे ले जाकर, तुंबुरु नामक गंधर्व के शिष्यत्व में नृत्य सीखने के लिए रख दिया।

एक दिन तुंबुरु के उपदेश का उल्लंघन करके उर्वशी इंद्र के सामने नाचने लगी। इस पर तुंबुरु ने उसे शाप दे दिया कि तू मनुष्यलोक में मनुष्य के साथ वास करने के लिए देवलोक को छोड़ेगी और कुछ समय तक उसके साथ रहकर पुन: त्रि-दिव में आकर नृत्य का अभ्यास करेगी। इस प्रकार, अपने गुरु का शाप पाकर, उर्वशी मनुष्यलोक में जाकर जिस प्रकार बुध के पुत्र पुरूरवा: के साथ रही वह सारा वृत्तान्त *विष्णुधर्मोत्तर* पुराण के एकसौतीसवें अध्याय में प्राप्त है। वैवस्वत मन्वंतर के द्वापर युग की बात है। देवासुर-संग्राम और अमृत-मंथन हो चुके थे। उस युद्ध में पुरूरवा: ने जो पराक्रम दिखाया था उससे प्रभावित होकर इंद्र ने स्वर्ग में उसका अभिनंदन किया। उस अवसर पर पुरूरवा: को उर्वशी ने देखा

तो वह उस पर बुरी तरह आसक्त हो गई। उर्वशी की अस्वस्थ अवस्था को देखकर, रंभा नामक अप्सरा उसकी पुरूरवा: पर आसक्ति को ताड़ गई। रंभा के आग्रह पर, उर्वशी उसके साथ अंतरिक्ष-मार्ग से प्रतिष्ठानपुर में स्थित पुरूरवा: के राजप्रसाद को जाने लगी।

मार्ग में नारद मुनि से भेंट हो गई। उनके पूछने पर शापभय से उर्वशी ने सारा वृतांत कह दिया। इस पर नारद ने परामर्श दिया कि उर्वशी पुरूरवा: के साथ निम्न लिखित पांच शर्तों पर ही रहे। उर्वशी ने पहले जिस मेष-द्वय को अपना पुत्र बनाया था वे दोनों नित्य उर्वशी के शयनकक्ष में रहेंगे। वह भोजन में घृतमात्र ग्रहण करेगी। उर्वशी की इच्छा होने पर ही उससे पुरूरवा: समागम करेगा। उर्वशी पुरूरवा: को कभी नग्न न देखे। इनमें से किसी एक भी शर्त के टूटने पर भी यदि उर्वशी पुरूरवा: के पास रहेगी तो वह शिला हो जाएगी।

उर्वशी ने नारद की बात मान ली और वह रंभा के साथ प्रतिष्ठानपुर पहुंची। वे दोनों राजा के क्रीडावन में गईं। सूर्यास्त के पश्चात् चंद्रोदय होने पर, पुरूरवा: अपने मित्र के साथ वहां आया। दोनों मित्रों की बातें उर्वशी और रंभा ने सुनीं। उससे पता चला कि पुरूरवा: भी उर्वशी पर आसक्त था और उसके वियोग में अस्वस्थ था। यह जानकर दोनों को बहुत हर्ष हुआ। रंभा ने पुरूरवा: को नारायण की सुता उर्वशी का परिचय देतेहुए, नारद की कहीहुई शर्तों को भी बता दिया। राजा ने वे सब शर्तें मान लीं। रंभा अपने पति, नलकूबर के पास लंका चली गई और उर्वशी पुरूरवा: के साथ आनंदपूर्वक सहवास करने लगी। दोनों के संयोग से पांच पुत्र हुए। उनमें से ज्येष्ठ पुत्र का नाम आयु था और अन्य पुत्र क्रमश: धीमान्, अनामय, अच्युतायु और तायु नाम से जाने गए।

उर्वशी के चले जाने से, उधर स्वर्ग में, गंधर्व व्याकुल हो गए। उन्होंने उसे पुन: लाने के लिए कोई उपाय खोजना आरंभ कर दिया। उग्रसेन नामक गंधर्व ने कहा कि शर्त टूटने पर उर्वशी राजा को अवश्य छोड़ देगी। अत: मैं अवश्य इस कार्य में सफल होऊंगा। राजप्रासाद में जाकर उग्रसेन ने पहले एक, फिर दूसरा मेष चुरा लिया। उर्वशी ने जब यह बात राजा को बताई, तो वह सहसा नग्न ही उठ खड़ाहुआ और मेषों को खोजने लगा। उर्वशी ने उसे नग्न देखा, तो उसे शर्त के अनुसार स्वर्ग को लौटना पड़ा। इधर राजा मेष-युगल को नहीं पा सका। अपने शयनगृह में आकर, खोजने पर भी उसे कहीं भी उर्वशी दिखाई न दी। तब उसे पता चला कि शर्त टूटने से उर्वशी उसे छोड़कर चली गई थी। अब, स्वर्ग में उर्वशी राजा के विरह में संतप्त थी और इधर राजा उर्वशी के विरह में अत्यंत

व्याकुल रहने लगा।

उर्वशी ने एक दिन अपनी सारी व्यथा नारद से कही। नारद ने उसे परामर्श दिया कि वह जाकर एक रात पुरूरवा: के साथ रहे क्यों कि वह भी अत्यंत व्याकुल है। नारद के कहने पर, उर्वशी सखियों सहित, पुष्करिणी में स्नान करने गई। 'आज मैं राजा के दर्शन करूंगी', यह सोचकर वह बहुत प्रसन्न होरही थी। उन्हें ज्ञात नहीं था कि वहां राजा विलाप करते करते सो गया था। जब नींद टूटी तो वह फिर उर्वशी के लिए विलाप करने लगा जिसे उर्वशी और उसकी सखियों ने सुना। तब उर्वशी राजा के सामने प्रकट हो गई और नारद के वचन उसे बताए। रात-भर उसके साथ रहने के पश्चात् अंत में उसने पुरूरवा: से कहा कि वह मोह छोड़कर अपनी आराधना द्वारा गंधर्वों को प्रसन्न करके उसे पुन: प्राप्त कर ले।

यह सुनकर राजा तुरंत स्वर्ग को चला गया और वहां जाकर मनोयोगपूर्वक घोर तप में लग गया। एक वर्ष बीतने पर, सूर्योदय के समय नारद को आगे करके गंधर्वों ने पुरूरवा: को दर्शन दिए और उससे वर मांगने को कहा। राजा ने उनसे उर्वशी को मांगा, तो गंधर्वों ने उसे अग्नि से पूर्ण एक स्थाली दी और उस अग्नि को त्रिविध करके वेदोक्त रीति से अग्नि पर यजन करने की सलाह दी। त्रेताग्नि में यज्ञ करके वह उसी मन्वंतर में गंधर्वत्व को प्राप्त करके उर्वशी को प्राप्त कर लेता और पूरे मन्वंतर-भर उसके साथ रमण करने के पश्चात् सोम में प्रवेश करता। अग्नि-स्थाली देकर गंधर्व तो चले गए पर उर्वशी एक बच्चे को लेकर उसके पास आ गई और बोली, 'हे सौम्य! तुम्हारे उस समागम से ही यह बच्चा उत्पन्न हुआ है। गंधर्वों ने इसका नाम विश्वायु रखा है। इसे लेकर आप तुरंत प्रतिष्ठानपुर चले जाएं।'

राजा से यह कहकर उर्वशी तो चली गई। राजा द्विविधा में पड़ गया। वह, पहले, बच्चे को ले जाए या अग्नि-स्थाली को। अग्नि-स्थाली को वहीं छोड़ने में तो कोई हानि की संभावना नहीं थी पर बच्चे को अकेला छोड़ने में वन्य पशुओं से उसे भय हो सकता था। अत: वह बच्चे को लेकर प्रतिष्ठानपुर चला गया। वहां से वह सेना के साथ लौटा तो उसने स्थाली को रिक्त पाया। वह बहुत दु:खी होकर बेहोश हो गया। गंधर्वों ने त्रि-दिव से आकर उसे उठाया और उससे कहा, 'अग्नि शमी वृक्ष में प्रविष्ट हो गया है। तुम शमी की अरणि-द्वय बनाकर अग्नि को उत्पन्न करो और उसे त्रिविध करके यजन करो। ऐसा करने से तुम निश्चय ही गंधर्वत्व को प्राप्त करोगे। हे नरेंद्र! तुम्हारे उस त्रेताग्नि में द्विज लोग सतत यज्ञ

करेंगे। वे भी सात वर्षों में हमारे लोक को प्राप्त कर लेंगे। तीन अग्नियों में से, 'आहवनीय' अग्नि तो स्वयं वासुदेव है और 'दक्षिण' अग्नि सं-कर्षण है और 'गार्हपत्य' अग्नि प्र-द्युम्न है। और 'उपसद' अनिरुद्ध है। इस प्रकार यह अग्नि चतुर्-आत्मा विष्णु है, जो अग्निहोत्र करनेवाले को गंधर्वत्व प्रदान करता है।'

शमीगर्भ से अरणि-द्वय लेकर राजा अपने घर चला गया। वहां जाकर, वह गंधर्वों द्वारा उपदिष्ट अग्नि की उपासना में लग गया। उसने धर्मपूर्वक प्रजापालन करतेहुए अनेक अश्वमेध यज्ञ और वाजपेय यज्ञ किए। अग्निहोत्र, अतिरात्र और द्वादशाह यज्ञ तो वह बार बार करता था। इसके फलस्वरूप वह सप्तद्वीपा पृथिवी का एकमात्र राजा *(एकराट्)* हो गया। एक बार उसने द्विजों से आग्रह किया कि वे उसे उर्वशी के दर्शन करा दें। द्विजों का कहना था कि वह स्वयं ही उर्वशी के दर्शन करे। इस पर राजा ने उन्हें धन का लोभ दिया तो द्विजों ने धन तो ले लिया पर उसे शाप देकर मार डाला। जब दूसरे विप्रों ने उसे पुन: जीवित किया तो उसने अपने पुत्र विश्वायु को राज्य दे दिया और वह स्वयम् अग्निहोत्र सहित, नारायण के आश्रम में जाकर तप करने लगा। तप करतेहुए जब तीन वर्ष हो गए तो नारायण ने राजा से कहा, 'तुम जिसके लिए तप करते हो वह तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो जाएगी और तुम स-शरीर त्रि-दिव में पहुंच जाओगे।' यह कहना था कि एक विमान दिखाई पड़ा। उससे अनेक गंधर्वों और अप्सराओं के साथ उर्वशी उतरी। उन सबने नारायण की वंदना की। नारायण की आज्ञा से राजा अग्निहोत्र को आत्मस्थ करके विमान में जा बैठा और नारायण की प्रदक्षिणा करके स-शरीर स्वर्ग पहुंचकर और इंद्र द्वारा संमानित होकर उर्वशी के साथ स्थायी रूप से रहने लगा। संभवत: इसी स्थिति की ओर संकेत *ऋग्वेद* की उर्वशी निम्न लिखित ऋक् में कररही है,

इति त्वा देवा इम आहुर् ऐळ!, यथेम् एतद् भवसि मृत्यु-बंधुः ।
प्र-जा ते देवान् हविषा यजाति, स्वर्-ग उ त्वम् अपि मादयासे । १८

'जिस प्रकार तुम इस ईं रूप में मृत्यु-बंधु होते हो उस कारण ये देव तुम्हें 'ऐळ!' कहते हैं। तेरी प्र-जा हवि द्वारा देवयजन करती है। तुम भी स्वर्-ग में ऊँ का आनंद लेते हो।'

ऐड पुरूरवा: के पूर्वजन्म : यह तो पुरूरवा: के उस जीवन की चरम अवस्था है जिसे वह बुध और इडा का पुत्र होकर सिद्ध करता है। इससे पूर्व की कथा के लिए *विष्णुधर्मोत्तर* पुराण में पुरूरवा: के दो अन्य जन्मों की कल्पना की गई है। सर्वप्रथम, वह पुरूरवा: नामक ब्राह्मण होता है और उसके पश्चात् दूसरे जन्म में मद्र

देश का राजा पुरूरवा:।[२६३] ब्राह्मण पुरूरवा: एक द्विजग्राम में रहता था। वह द्वादशी-व्रत में उपवास करताहुआ जनार्दन की पूजा किया करता था। उपवास के साथ वह स्नान से पूर्व अभ्यंग भी करता था। उपवास के फलस्वरूप वह चाक्षुष मन्वंतर में मद्र देश का राजा हुआ, पर नृपसुलभ अन्य सब गुणों से युक्त होकर भी, अभ्यंग-रूप पाप के कारण वह कुरूप था। इस कारण, उसके अन्य सब गुणों पर पानी फिर गया। रूपहीन होने से जनसाधार्रण का प्रेम और संमान उसे दुर्लभ हो गया। रूपप्राप्ति की कामना से, उसने मंत्री को राज्य सौंपकर तप करने का निश्चय किया। व्यवसाय बदल जाने से, उसने सारे राजसी ठाठ-बाट त्याग दिए और वह पैदल ही हिमालय की ओर चल पड़ा। उसने एक ऊर्ध्व नद को पार करके दूसरे देश में अपनी ही इरावती नदी को अत्यंत मनोहर रूप में देखा। नाना प्रकार के खग-मृग, लता-वृक्ष, आदि से मंडित हिमालय की शोभा को देखताहुआ वह अत्रि ऋषि के आश्रम में पहुंचा। वहां उसने जनार्दन को अपने तरह तरह के तप से प्रसन्न किया। देवदेव जनार्दन के प्रसन्न होने से अत्रि मुनि ने प्रकट होकर उसको रूप-सत्र का उपदेश किया।

रूप-सत्र में विभिन्न प्रकार के नक्षत्रों की यथोचित साधना करके राजा ने अपना मनोरथ सिद्ध किया। अत्रि को गुरु रूप में ग्रहण करके, उनके द्वारा निर्दिष्ट रूप-सत्र करके पुरूरवा: ने अपने पूर्व पाप से मुक्ति पाई और देहत्याग के पश्चात् अगले जन्म में सोम के सुत बुध और इडा का पुत्र होकर अनुपम रूप, बल, मेधा, आदि से युक्त हुआ। यही ऐड पुरूरवा: नाम से उसका तीसरा जन्म है जिसका उल्लेख पहले हो चुका है।

: २ : *ब्राह्मणों* में पुरूरवा:

मैत्रायणी संहिता में, पुरूरवा: को प्राण और उर्वशी को वाक् माना गया है।[२६४] *काण्व शतपथ ब्राह्मण* में, पुरूरवा: को उत्तर अरणि का और उर्वशी को अधर अरणि का प्रतीक स्वीकार किया गया है।[२६५] *माध्यंदिन शतपथ ब्राह्मण* में पुराण-गत कथा का ही बीज रूप में उल्लेख करतेहुए, पूर्वोक्त ऋग्वेदीय सूक्त के अंशों को उद्धृत किया गया है।[२६६] साथ ही गंधर्वों के कथनानुसार, उत्तर और अधर अरणियों का प्रयोग करके पुरूरवा: उस अग्नि को उत्पन्न करता है जिसमें संवत्सर पर्यन्त यजन करके वह स्वयं एक गंधर्व हो जाता है और उर्वशी का स्थायी पति होने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। यद्यपि यह बात किसी अंश में पुराण-गत आख्यान में भी संमिलित है, पर *माध्यंदिन शतपथ ब्राह्मण* में, इन दोनों

अरणियों के परोक्ष (प्रतीक) रूप का उल्लेख दो प्रकार से किया गया है। प्रथम उल्लेख में तो उत्तर अरणि अश्वत्थ वृक्ष की है और अधर अरणि शमी वृक्ष की है। और दूसरे उल्लेख में दोनों अरणियां अश्वत्थ वृक्ष की बताई गई हैं।[२४७] साथ ही, वहां यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि पुरूरवा: ने दूसरी विधि को अपनाकर ही गंधर्वत्व को प्राप्त किया और इसी विधि को अपनाने वाला गंधर्व हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि अश्वत्थ-शमी भेद से दो भिन्न प्रकार के वृक्षों की अरणियों द्वारा उत्पन्न किया जानेवाला अग्नि गंधर्वत्व-प्राप्ति द्वारा उर्वशी-प्राप्ति का साधकतम साधन न होकर गौण साधन है जब कि दोनों आश्वत्थी अरणियों से उत्पन्न अग्नि गंधर्वत्व और उर्वशी की स्थायी प्राप्ति में साधकतम है।

यदि *मैत्रायणी संहिता* के अनुसार पुरूरवा: को प्राण माना जाए, तो उसे गंधर्व होने की क्या आवश्यकता है क्यों कि *जैमिनीया उपनिषद्* के अनुसार गंधर्व तो है ही प्राण?[२४८] इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि प्राण गंधर्व तो है पर ऐसा गंधर्व नहीं है जो उर्वशी पर आधिपत्य प्राप्त कर सके। जैसा कि पुराण-गत कथा में बताया गया है, उर्वशी तो नारायण की सुता है जो नर (व्यष्टिगत आत्मा) को मोहित करनेवाली मौनेय अप्सराओं से नितांत भिन्न है। वैदिक वाङ्मय में, गंधर्व और अप्सराएं* क्रमश: भद्र और अ-भद्र, उभयविध आंतरिक शक्तियां हैं जो मूलत: दैवी मेधा के मनुष्य-ज रूपांतर होकर क्रमश: मन और मेधा रूप में अनेकविध सुरभि हो जाती हैं।

अप्सरासु च या मेधा, गन्धर्वेषु च यन् मन:।
दैवी मेधा मनुष्य-जा, सा मां मेधा सुरभिर् जुषताम्। तैआ. १०.४१

यह अनेकविध, *सुरभि* नामक, मनुष्य-जा हुई, दैवी मेधा विश्वरूपा, हिरण्यवर्णा, ऊर्जस्वती, सुप्रतीका, और पय: (आनंद) से समृद्धा है,

आ मां मेधा सुरभि विश्व-रूपा, हिरण्य-वर्णा जगती जगम्या।
*ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना, सा मां मेधा सु-प्रतीका जुषताम्।*तैआ. १०.४२.१

यह मेधा अपने दैवी रूप में ब्राह्मी है। यह देवगणों और पितरों के लिए निरंतर उपास्य है। इसी का वितरण वरुण, प्रजापति, इंद्र, वायु और धाता करते हैं।[२४९] वे सब देव गंधर्व हैं। यही वह उत्तमा श्री: है जिसे देव (गंधर्व) मनुष्य को देते हैं।[२५०] तब यह सुरभि *मनुष्य-जा मेधा* होती है। अत: पुरूरवा: के प्रसंग में, यही संभवत: *मैत्रायणी संहिता* द्वारा उक्त वह उर्वशी (या ब्राह्मी वाक्) है जो मनुष्य को स्थायी

* देखिए, आगे *गन्धर्वाप्सरस:* शीर्षक अध्याय।

रूप में तभी मिलती है जब वह उसके योग्य (गंधर्व) हो जाता है। इस योग्यता को अर्जित करने का उपाय वह अग्नि-पूजा है जिसे कथा में त्रिविध अग्नि और उपसद के प्रतीकों द्वारा बताया गया है।

अस्तु। अभी उर्वशी की प्राप्ति के लिए पुरूरवा: द्वारा गंधवत्व-प्राप्ति की अनिवार्यता की ओर संकेत किया गया। इसका क्या अभिप्राय है? क्या इससे पुरूरवा: का कोई रूपांतर या विकास होता है? पुराणों ने उसके तीन जन्म कल्पित करके क्या उसका रूपांतरण अथ वा विकास बताया है? यदि ऐसा है तो पुरूरवा: के तीन जन्मों की संगति ऐड पुरूरवा:, आदि से किस प्रकार बैठेगी? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए, *बृहद्देवता* और *शतपथ ब्राह्मण* का साक्ष्य उपयोगी होगा।

***शतपथ ब्राह्मण* और *बृहद्देवता* में पुरूरवा: :** पुराणों में आख्यान को अनेक तरह से विस्तार देतेहुए, उसमें काव्य-कौशल और कथा-शिल्प का सम्यक् प्रदर्शन किया गया है। पर *शतपथ ब्राह्मण* और *बृहद्देवता* में संक्षिप्त कथानक ही दिया गया है। *बृहद्देवता* में *शतपथ ब्राह्मण* की प्राय: सब प्रमुख बातें आ गई हैं। साथ ही उसमें कुछ अन्य भी बातें हैं जो संभवत: पुराण-गत परंपरा से आई हैं। अत: यहां *बृहद्देवता* के आधार पर कथा दी जाती है और प्रमुख विशिष्टताएं *शतपथ ब्राह्मण* की भी ले ली गई हैं।

तदनुसार, जब मित्र और वरुण यज्ञ के लिए दीक्षित हुए तो उन्हें उर्वशी अप्सरा: दिखाई पड़ी। उसे देखकर वे दोनों कामातुर हो गए और उनका वीर्य स्खलित हो गया। वीर्य को उन्होंने कुंभ में डाल दिया। साथ ही उन्होंने उर्वशी को शाप दिया कि वह मनुष्य की भोग्या होगी और तदर्थ उसे स्वर्ग से मृत्युलोक में जाना पड़ेगा।

इसी बीच इळ राजा अश्वारूढ़ होकर आखेट को निकला। उसका नाम सु-द्युम्न भी बताया जाता है। उसके साथ मनु के पुत्र भी थे। वन में घूमते-घूमते वह एक ऐसे स्थान पर पहुंच गया जहां पार्वती शिव के साथ क्रीडा कररही थीं। वे सर्वभावेन अपने पति को तुष्टि प्रदान कररही थीं। उस वन में एक ही पुरुष था; वह स्वयं शिव थे। यदि कोई अन्य पुरुष वहां भूल से भी पहुंच जाता था तो वह तुरंत स्त्री हो जाता था। यही इळ के साथ हुआ; वह स्त्री (इळा) बन गया।

स्त्री हो जाने पर वह अत्यंत लज्जित था। वह अपना दु:ख लेकर शिव के पास गया और प्रार्थना की कि वह पुन: पुरुष हो जाए। शिव ने इस विषय में अपनी असमर्थता व्यक्त की और उसे पार्वती के पास जाने की सलाह दी। इळ पार्वती के पास गया और अपनी दीनता-भरी कहानी उनसे कही। उसे सुनकर वे

द्रवित हो गईं और उसे आशी: दिया कि वह वर्ष में छह महिने पुरुष और छह महिने स्त्री रहा करेगा। एक बार, जिन दिनों वह स्त्री था, उसकी भेंट सोम के पुत्र बुध से हो गई। बुध उस पर आसक्त हो गया और उससे सहवास का प्रस्ताव किया। सहवास के फलस्वरूप पुरूरवा: (ऐळ) का जन्म हुआ जो आगे चलकर प्रतिष्ठानपुर का राजा हुआ और उसने उर्वशी की पूर्वोक्त शर्तें स्वीकार करके, उसे अपनी रानी बनाया। वे चार वर्ष सुख से रहे।

आगे *बृहद्देवता* में संक्षेप में लगभग वे ही बातें हैं जो पुराण-गत आख्यान में सविस्तर विद्यमान हैं। केवल निम्न लिखित बातें भिन्न हैं,

१. उर्वशी को मनुष्य की भोग्या होने का शाप मित्र और वरुण देते हैं।
२. पुराण में उर्वशी के जिस प्रिय मेष-द्वय का उल्लेख है उसे यहां 'उरण' कहा गया है। इसकी तुलना उक्त ऋग्वेदीय सूक्त के 'उर' (*उरा*, ऋक् ३) से की ज सकती है।
३. पुराण में पुरूरवा: और उर्वशी का पुनर्मिलन कुरुक्षेत्र के सरोवर पर होता है जब कि यहां उनके पुनर्मिलन का स्थान मानसरोवर बताया गया है।
४. पुनर्मिलन के समय केवल पुरूरवा: को अश्रुपूरित नेत्रों के साथ उर्वशी से प्रार्थना करतेहुए दिखाया गया है। उर्वशी का उत्तर है, 'तुम चले जाओ।' पुराणों का विस्तार यहां नहीं है। *शतपथ ब्राह्मण* में उर्वशी की उक्ति है कि वह *वैतस* से दिन में तीन बार स्नथित हुई। यह *वैतस* उक्त ऋग्वेदीय सूक्त में भी है।

: ३ : ऋग्वेदीय संवाद-सूक्त

पुरूरवा:-आख्यान के उक्त सब विवरणों में कई अद्भुत और अलौकिक बातें अवश्य हैं पर वहां सर्वत्र पुरूरवा: कोई मनुष्य-सा प्रतीत होता है। इन विवरणों में *ब्राह्मणों* के वे संकेत नहीं हैं कि पुरूरवा: और उर्वशी क्रमश: प्राण और वाक् हैं अथ वा उत्तर और अधर अरणियां हैं। संभवत: ऐसा इसलिए हुआ कि प्रतीकों की व्याख्या करने से कथा की रोचकता समाप्त हो जाती है। यह भी माना जा सकता है कि *शतपथ ब्राह्मण* और *बृहद्देवता* के समय आख्यान के प्रतीकार्थ सर्वविदित रहे होंगे। आगे चलकर संभवत: इस प्रकार के आख्यानों को नीति-शिक्षा का भी माध्यम बनाया गया, जैसा कि *महाभारत,*[२५१] पुराणों[२५२] और बाद में द्याद्विवेद की *नीतिमंजरी* से स्पष्ट है। पर ऐसा करने से, निस्संदेह, आख्यान का उद्देश्य पूरा नहीं होता है।

वसिष्ठ पुरूरवा: : सर्वप्रथम तो यह देखना है कि पुरूरवा: और उर्वशी को क्रमश:

प्राण और वाक् मानने से ऋ १०.९५ की व्याख्या में कोई सहायता मिलती है या नहीं। इस प्रसंग में सर्वप्रथम विचारणीय है पुरूरवा: द्वारा अपने लिए *वसिष्ठ* शब्द का प्रयोग। इस शब्द के प्रयोग का औचित्य यह है कि *ब्राह्मणों* में, पुरूरवा: के समान, वसिष्ठ* भी एक प्राण है। 'वस्तृ-तम' होकर वसने से वह वसिष्ठ कहा जाता है। यहां प्राण से तात्पर्य आत्मा से है। वसिष्ठ आत्मा को कहा जाता है।[२५३] आत्मा जिस शक्ति द्वारा अपने को व्यक्त करता है उसका नाम वाक् है। आत्मा शक्तिमान् है, तो वाक् उसकी शक्ति है। जहां जहां शक्ति है वहां वहां शक्तिमान् भी है, इस न्याय से आत्मा वसिष्ठ है, तो वाक् को *वसिष्ठा* कहा जाता है।[२५४] दूसरे शब्दों में, आत्मा और आत्मशक्ति मनुष्य के व्यक्तित्व में सर्वत्र रहते हैं। पर यदि उर्वशी को आत्म-शक्ति माना जाए तो उसका पुरूरवा: या आत्मा से वियोग क्यों?

उर्वशी : इसका उत्तर यह है कि उर्वशी वस्तुत: ब्राह्मी वाक् है। अत: वह तो स्वर्ग की अप्सरा मानी गई है। उसका सु-रूप तो स्वर्ग (हिरण्यय कोश) में है जहां आत्मा से युक्त ब्रह्म निरंतर विराजमान है।[२५५] वहां से वह, अन्य अप्सराओं की तरह, शुद्ध प्राणों *(हिरण्य-वर्णा आप:)* का प्रसारण करती है,[२५६] इसलिए उसे *अप्सरा:*** कहा जाता है। हिरण्यय कोश से ब्राह्मी वाक् विज्ञानमय कोश में जाती है। यहां उसके दो रूप हो जाते हैं, एक उन्-मनी अथ वा सु-रूपा और, दूसरा, स-मनी अथ वा वि-रूपा। अपने प्रथम रूप में वह हिरण्यय कोश से जुड़ी रहती है और दूसरे रूप में वह विज्ञानमय, आदि चार कोशों में शुद्ध प्राणों *(आप:)* को ले आती है। इस प्रकार ये चार कोश वे चार वर्ष हैं जिनमें उर्वशी पुरूरवा: के साथ मनुष्यलोक में रहती है। पर अहंकार-रूप वृत्र और शंबर के दुष्प्रभाव से, वे आप: जड़ता-रूप हिम में परिवर्तित होकर चारों कोशों को ठंडी रातों में बदल देते हैं। अत: अपने वि-रूपा रूप में उर्वशी पुन: स्वर्ग को लौटना नहीं चाहती। कहां वृत्र का शीत और दीर्घ तम और कहां स्वर्गिम दिन का धर्म-रूप घृत जिसका एक बार का ही थोड़ा-सा आस्वादन उसे तृप्त किए रहता है। यह बात उर्वशी के इस कथन से स्पष्ट है,

यद् वि-रूपाचरं मर्त्येष्व् अवसं, रात्री: शरदश् चतस्र:।

घृतस्य स्तोकं सकृद् अह्न आश्नां, ताद् एवेदं तातृपाणा चरामि। १६

जब पुरूरवा: मनोमय, आदि मर्त्य लोक में पुन: लौटने का उर्वशी से आग्रह करता

* वसु+इष्ठ=वस्तृ-तम। शब्रा. ८.१.१.६

** अप्+'सृ' धातु से व्युत्पन्न।

है तो उसके मन में उस अप्सरा का एक दूसरा ही रूप है। तब वह विज्ञानमय-कोश-रूप उरु अंतरिक्ष को पूरित करनेवाली और रज: नामक गुण का विविध पार्थिव रूपों में निर्माण करनेवाली[२५७] उर्वशी है। इस कार्य के लिए, वह चाहता है कि उर्वशी के पास वह सुकृत की राति* भी बनी रहे जो उसने हिरण्यय कोश में प्राप्त की थी। यह बात वसिष्ठ पुरूरवा: के इस वचन से सुस्पष्ट है,

अन्तरिक्ष-प्रां रजसो वि-मानीम्, उप शिक्षाम्य् उर्वशीं वसिष्ठ:।

उप त्वा राति: सु-कृतस्य तिष्ठान्, नि वर्तस्व, हृदयं तप्यते मे।१७

इसका निष्कर्ष यह है कि उर्वशी हिरण्यय कोश की शोभा बढ़ाने के लिए ही नहीं है अपि तु उसे स्वर्ग से सु-कृत की राति लाकर विज्ञानमय, आदि अन्य कोशों के लिए उपयोगी भी बनना है। इसी लिए वसिष्ठ पुरूरवा: उससे वापस आने का आग्रह कररहा है।

ऐड पुरूरवा: : पुरूरवा: के इस आग्रह पर उर्वशी की जो प्रतिक्रिया होती है वह इस प्रकार है। 'पुरूरवा:! तुम तो अपने को मृत्यु-बंधु ही समझते मालूम होते हो। इसी लिए मृत्युलोक में मेरे आने को बार बार कहते हो। तुम केवल यह ई ही तो नहीं हो जो मृत्यु-बंधु है। तुम्हारा एक ऐळ रूप भी तो है; स्वर्ग के देव लोग तुम्हें ऐळ भी तो कहते हैं। इस अवस्था से, मृत्युलोक में ई रूप से उत्पन्न तुम्हारी प्र-जा देवयजन करती है और तुम ऐळ रूप से स्वर्ग में ऊँ का आनंद लेते हो, ऋक् १८।

इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि आत्मा अपने जिस रूप में ब्रह्म का आनंद लेता है उसको ऐळ कहते हैं। इसकी उत्पत्ति, जैसा कि पूर्वोक्त सब आख्यानों में कहा गया है, उस इळा नामक शक्ति से होती है जिसका उद्भव आत्मा के ईडन से है।[२५८] ऐड को जन्म देने के लिए इडा का संयोग उस बोध से होना आवश्यक है जिसको देवशास्त्र में 'बुध' नाम दिया गया है। बुध सोम (ब्रह्मानंद) के आस्वादन से उपजता है। अत: बुध को सोम का पुत्र माना गया है, जो इडा के साथ समागम से ऐड को जन्म देता है।

इस प्रसंग के साथ रहस्य की एक बात और जुड़ीहुई है कि इळ एक राजा है जो छह महिने पुरुष और छह महिने स्त्री रहता है। इस रहस्य को हृदयंगम करने के लिए, दो छह मासों के जोड़, अर्थात्, बारह मासों के संवत्सर का प्रतीकत्व समझना होगा। सं-वत्स-र उस काल का भी नाम हो सकता है जब ब्रह्म अपने वत्स (आत्मा) से युक्त होता है। इस काल

* 'सु-कृत की राति' के हिरण्यय कोश से संबंधित होने के बारे में देखें, आगे, 'मनु पुरूरवा:' शीर्षक का लेखन।

में आत्मा आनंद की वृष्टि का अनुभव करता है। अत: उस काल को *वर्ष* भी कहते हैं। इस वृष्टि का आनंद लेने के लिए जीव को आत्मा (इड) और उसकी शक्ति (इडा), इस द्वैत में विभक्त होना आवश्यक है। क्यों कि किसी भी भोग के लिए आत्मा स्वयं को ही द्वे-धा (स्त्री-पुरुष) करता है,[२५९] और अपने को ही *अन्यद्-इव* भोगता है।[२६०] अत: आत्मा और शक्ति में से प्रत्येक को ब्रह्मानंद की भोगावस्था (*संवत्सर* अथ वा *वर्ष*) का अर्द्धांश (छह मास तक रहनेवाला) माना गया। जब ब्रह्मानंद के बोध से आत्म-शक्ति संपर्क करती है तो उक्त वसिष्ठ पुरूरवा: रूपांतरित होकर ऐड पुरूरवा: बन जाता है अथ वा यों कहें कि सोम के पुत्र बुध के साथ इडा के समागम से ऐड पुरूरवा: का जन्म हो जाता है।

ऐड पुरूरवा: जिस प्रतिष्ठानपुर का महाप्रतापी राजा है वह विज्ञानमय कोश है। यह राजा मनो-गत देवासुर-संग्राम में इंद्र की सहायता करता है। उर्वशी ऋ १०.९५.७ में इस संग्राम को *महान् रण* कहती है जिसमें दस्यु (वृत्र) की हत्या करने के लिए देवों ने पुरूरवा: का शनै: शनै: वर्धन किया था। उससे भी पूर्व, जब पुरूरवा: जायमान अवस्था में *'ई'* कहलाता था तो ब्राह्मी उषाओं *(ग्ना:)* ने उसे घेर रखा था और उसकी स्वोद्भूत प्राण-सरिताओं ने उसका वर्धन किया था।

मनु पुरूरवा: : इसका तात्पर्य है कि ऐड पुरूरवा: ई का विकसित रूप है। इसकी विकास-प्रक्रिया का नाम 'पाक-यज्ञ' है जिसकी प्रतीक पूर्वोक्त आत्म-ईडन-जन्य इडा है।[२६१] इसी लिए इडा को *पाक-यज्ञिया* कहा जाता है।[२६२] इडा को *मानवी* भी कहते हैं क्यों कि इसे वस्तुत: हिरण्यय कोश का मनु ही देश-काल से परे (अग्रे) पैदा करता है;[२६३] यह पाकयज्ञिया मनु के यज्ञ से उत्पन्न होती है।[२६४]

मनु से तात्पर्य मनु पुरूरवा: से है। वह स्वयं 'सु-कृत्' है। उसके लिए, हिरण्यय कोश (द्यौ) को *सु+कृत्-तर* ब्रह्म (अग्नि) अनाहत नाद से शब्दायमान करता है। इसके फलस्वरूप, जीव ने पहले जिस सूक्ष्म और स्थूल देह को ही अपना माता-पिता समझ रखा था उनसे और उनके अंधकार से मुक्त होकर वह अपनी पूर्व स्थिति (ब्रह्मात्म-सायुज्य) को प्राप्त कर लेता है। फिर वह दूसरी स्थिति (मर्त्य स्तर) को पुन: प्राप्त नहीं करता है।

त्वम् अग्ने! मनवे द्याम् अवाशय:, पुरूरवसे सु-कृते सु+कृत्-तर: ।
श्वात्रेण यत् पित्रोर् मुच्यसे पर्य् आ, त्वा पूर्वम् अनयन् नापरं पुन: ।
ऋ. १.३१.४

दूसरे शब्दों में, मनु पुरूरवा: व्यक्तित्व के विकास की चरम अवस्था है। जो जीव पहले आहत नाद के कारण स्थूल, अन्नमय 'पुरूरवा:' (बहु-शब्द वाला) था वह

अब, हिरण्यय कोश के स्तर पर, अनाहत नाद के कारण *मनु* पुरूरवा: है। अनाहत नाद के साथ व्यक्ति की जो अव-बोधन प्रक्रिया आरंभ होती है वह परिपक्व होकर पुरूरवा: को *मनु* नाम प्रदान करती है।[२६५] परिपक्वता का अभिप्राय है व्यक्ति के सूक्ष्म और स्थूल, सब प्राणों का मनुत्वमय *(मनुष्य)* हो जाना और, फलत: न्यूनाधिक रूप में, सब कोशों के स्तर पर उस मनु की प्राप्ति होना जिसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति अथ वा रव (शब्द) को *भेषज* कहा जाता है।[२६६] पुरूरवा: व्यक्तित्व जब एक बार मनु हो जाता है तो वह अपने भीतर हिरण्ययकोशीय ब्रह्म की दिव्यता को पैदा कर लेता है।[१५१] इसलिए वह अपने प्रत्येक प्राण को 'मनुष्य' रूप पाता है और उसका मनु-बोध (मनुत्व) स्थायी हो जाता है।[२६७] तब हिरण्यय कोश का आनंदमय आत्मा ही मनुत्व को ग्रहण नहीं करता है अपि तु अन्य कोशों के स्तर पर भी वह मनु कहा जा सकता है और उसके सब प्राण 'मनुष्य' कहे जा सकते हैं। इसी लिए वैदिक वाङ्मय में अनेक मनुओं की कल्पना मिलती है[२६८] और कभी कभी मनुत्व को प्राप्त विद्वानों को *मनव:* कहा जाता है।[२६९]

आयु, विश्वायु : वास्तव में, हिरण्यय कोश के स्तर पर ब्रह्मात्म-सायुज्य के कारण आत्मा सदा ही मनु है पर अहंकार-रूप वृत्र के कारण वह अपने मनुत्व से विस्मृत रहता है। पूर्वोक्त अव-बोधन प्रक्रिया के परिपाक द्वारा जब साधक को अपने मनु रूप की पुन: स्मृति हो आती है तो उसका स्थूलतम अन्नमय कोश भी अपने में, सर्वत्र, उस बोध से संयोग अथ वा वियोग करने में समर्थ होता है। इसलिए उसे *आयु** नाम दिया गया। व्यक्ति की यह 'आयु' अवस्था वस्तुत: उक्त मनुत्व का ही परिणाम है। इसी लिए पूर्वोक्त *आयुर् वै मनु:* उक्ति[२३७] चल पड़ी। एक अन्य दृष्टि से, आयु का सर्वोत्कृष्ट रूप होने से, हिरण्यय कोश के मनु को *विश्वायु* कहा जाता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व को 'आयु' रूप देना ऐड पुरूरवा: की उपलब्धि है क्यों कि वह जब ब्राह्मी वाक् (उर्वशी) की खोज करताहुआ हिरण्यय कोश (स्वर्ग) में पहुंचता है तभी, उर्वशी के संपर्क से, उसे आयु मिलता है जिसे लेकर वह मर्त्य स्तर (मृत्युलोक) पर वापस आता है। आयु के साथ वह वे तीन अग्नि (*आहवनीय, गार्हपत्य* और *दक्षिण*) भी लाता है जिनको निरंतर प्रज्वलित रखना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म माना गया है।

तीन अग्नि : कर्मकांड की दृष्टि से ये तीन अग्नि तीन स्थानों पर जलाए जानेवाले

* 'यु' (=मिश्रण-अमिश्रण) धातु से व्युत्पन्न।

अग्नि हैं। पर वास्तव में वे हमारे तीन आध्यात्मिक अग्नियों के प्रतीक हैं। इनमें से, 'आहवनीय' अग्नि मनोमय यज्ञ में शीर्षस्थानीय है।[२७०] *उद् बुध्यस्वाग्ने!* कहकर उसका मनोमय कोश में आह्वान करने का विधान है। 'गार्हपत्य' अग्नि वह अग्नि है जो व्यक्तित्व-रूप गृह का पालन करने के लिए मनोमय कोश से ऊर्ध्व गति करके हिरण्यय कोश तक पहुंचता है और पुन: संपूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्त होने के लिए चक्कर लगाता है। ऊर्ध्व गति के कारण इसको *उदान* कहा गया है,[२७१] तो चक्कर लगाने के कारण इसे मण्डलाकार माना गया है। व्यक्तित्व-गत संपूर्ण कर्म का मूलाधार यही है। अत: गार्हपत्य को *कर्म* कहा जाता है।[२७३] कर्म की दक्षता के परिप्रेक्ष्य में यही अग्नि *दक्षिणा विश्व-कर्मा*[२७४] अथ वा 'दक्षिण' है जिसे क्रिया-परक यजुर्वेद से प्रसूत माना जाता है।[२७५] इस प्रकार, अग्नि की यह त्रिविधता वस्तुत: क्रिया, भावना और ज्ञान की दृष्टि से कल्पित है। अन्यथा गार्हपत्य ही एकमात्र अग्नि है और अन्य दो का कोई भी पृथक् अस्तित्व नहीं है।[२७६] भावना अथ वा इच्छाशक्ति की दृष्टि से जहां गार्हपत्य को सामवेद-जन्य *आहवनीय* माना जा सकता है, वहां कर्मदक्षता की आधारभूत ज्ञानशक्ति की दृष्टि से इसे ऋग्वेद (ज्ञानकांड) से उत्पन्न माना जा सकता है।[२७७]

अग्नि और तप : इस गार्हपत्य नामक आध्यात्मिक अग्नि को *तप* कहा जाता है। *तप* शब्द उसी धातु से व्युत्पन्न है जिससे *ताप* शब्द की व्युत्पत्ति है। ताप से कच्ची वस्तु पकती है। उसी प्रकार, तप मनुष्य के व्यक्तित्व का आध्यात्मिक परिपाक करता है। परिपाक[२७८] का अभिप्राय है व्यक्ति द्वारा ज्योति *(स्व:)* की प्राप्ति, और असुरों के लिए अनाधृष्य होकर, अन्ततोगत्वा, उसकी देवशक्तियों का 'अध्वर' नामक अतिमानसिक यज्ञ में पहुंचना। जिस व्यक्तित्व की देवशक्तियां अध्वर में पहुंच जाती हैं उसे अंहस् और दुरित तो नहीं ही व्यापते हैं, साथ ही उसे फिर तप की भी आवश्यकता नहीं रह जाती है। आंतरिक शत्रु को तपानेवाली प्रक्रिया ही तप है।[२७९] इसका परिणाम *शं* होता है।[२८०] शं 'ऋत का साम' *(ऋतस्य सामन्)* है। इसमें अग्नि की सब देवशक्तियां आनंदित होती हैं।[२८१] यही वह मानसरोवर है जहां पुरूरवा: की उर्वशी से भेंट होती है। यह वस्तुत: कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होता है। अत: इसे कुरुक्षेत्र की पुष्करिणी कहा गया है।

पुरूरवा: का तप : इस तरह, तप, वस्तुत:, संताप या ताप से भिन्न है।* पुरूरवा:

* संभवत:, इसी दृष्टि से, पाणिनि ने 'तप' (=संताप, १.७११, और, =दाह, १०.२४२) धातु-द्वय के अतिरिक्त भी एक 'तप' (=ऐश्वर्य, ४.४८) धातु मानी है जो आत्मनेपदी है।

का तप ऐश्वर्य-प्राप्ति का साधन है। पुराणों के अनुसार पुरूरवा: अपने प्रथम जन्म में ब्रह्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील ब्राह्मण होकर जिस राज्य के लिए उपवास करता है उसे दूसरे जन्म में प्राप्त करके भी उसका तप 'सु-रूप' के लिए जारी रहता है और तीसरे जन्म में ब्राह्मी वाक् की प्राप्ति के लिए चलता है। क्या इसे आध्यात्मिक ऐवर्श्य-प्राप्ति का वह तप नहीं कहा जा सकता है जिसे ऊपर शं में या ऋत के साम में परिणत होताहुआ देखा गया है? जब पुरूरवा: उर्वशी से *हृदयं तप्यते मे* (ऋक् १७) की गुहार करता है तो, वस्तुत:, वह अपने हृदय को आध्यात्मिक ऐश्वर्य से संपन्न होताहुआ बताता है।

तप या संताप : निस्संदेह, यहां, 'हृदय के तपने' से किसी कामपीड़ित हृदय का वियोगजन्य संताप नहीं अपि तु पूर्वोक्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य वाला तप अभिप्रेत है क्यों कि उर्वशी कोई शरीरवती स्त्री नहीं है। वह तो ब्राह्मी वाक् है जिसके द्वारा प्रजापति प्रजा की सृष्टि करता है।[२८२] इस प्रजनन के कारण, उर्वशी को 'गार्हपत्य' अग्नि रूप *जाया* कहा जाता है[२८३] और देवों को वहन करनेवाली होने से वह *हया* (ऋक् १) भी है।[२८४] उसकी कामना होना स्त्री-भोग की वासना नहीं है। वह तो उस दैव्य जन[२१७] या *सु-कृत्* (ब्रह्म)[२८५] का साक्षात्कार करानेवाली कामना है जो वैदिक साधना का चरम लक्ष्य है। इस सु-कृत् के संपर्क से ही उर्वशी को 'सु-कृत की राति' से युक्त होताहुआ चाहा गया है। यही नहीं, वह अंतरिक्ष को परिपूर्ण करनेवाली और रजस् का पार्थिव विमानन करनेवाली है।[२५७] उसकी प्राप्ति के लिए साधक का हृदय तप से युक्त होना ही चाहिए। इसलिए *हृदयं तप्यते मे* कहकर जीव अपनी पात्रता सिद्ध कररहा है। अग्नि के ईडन के आधार पर इडा-पुत्र कहलाने वाला पुरूरवा: *सु-देव* तपस्वी है।[२८६] इसलिए, वह परावत और परम अवस्था के ॐ को प्राप्त करने के योग्य है। पर यदि उर्वशी उसे नहीं मिलती है तो, सु-देव होतेहुए भी, उसके लिए घोर पतन का ही एक विकल्प है और इसका अर्थ है निर्ऋति (पाप देवता) की गोद में शयन करना अथ वा भेड़ियों (छह रिपुओं) का भोजन बन जाना।

सु-देवो अद्य प्र-पदेद् अनावृत्, परा-वतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्-ऋतेर् उप-स्थे,थैनं वृका रभासासो अद्यु: ।१४

ऐड, सु-देव कहलाने वाला पुरूरवा: पतन के योग्य कदापि नहीं हो सकता है और न वह निर्ऋति की गोद में जाकर भेड़ियों का भोजन बनने योग्य है। जब वह अपनी जाया के रूप में उर्वशी को मन के साथ रखना (ऋक् १) चाहता है तो इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा ब्राह्मी वाक् को मन द्वारा अन्नमय कोश तक

उतार ले जाना चाहता है। इस कार्य को वह *विस्तारपरक सख्य* मानता प्रतीत होता है। पर उर्वशी नहीं चाहती कि पुरूरवा: निर्ऋति (मनोमय कोश से लेकर अन्नमय कोश तक के नानात्व) की गोद में पड़ा रहे या वहां रहनेवाले भेड़ियों का भोजन बने। उसके विचार में, वे सब 'विस्तार-परक सख्य' नहीं हैं अपि तु वे तो 'शाला* (साला) में रहनेवाले भेड़ियों के हृदय' के सदृश दुरितपूर्ण कृत्य होंगे।

पुरूरवो! मा मृथा मा प्र पप्तो, मा त्वा वृकासो अ-शिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्य् एता। १५

रूपकापेक्ष अर्थ : यहां *स्त्रैण* शब्द का, 'स्तृ' धातु के आधार पर 'विस्तार' अर्थ किया गया है। वह अर्थ उन विद्वानों को स्वीकार नहीं होगा जो इस मंत्र में स्त्रियों की मैत्री की निंदा मानते हैं। वास्तव में, यदि पुरूरवा: को आत्मा, और उर्वशी को वाक् मानकर विचार किया जाए तो प्रसंगोपात्त सूक्त का संवाद एक रूपक बन जाता है जिसमें आत्मा ब्राह्मी वाक् को अपनी जाया मानकर, उससे पुन: लौटने के लिए अनुनय-विनय करता है। अत: पूरे सूक्त का प्रमुख तात्पर्य आत्म-ब्रह्मवाक्परक है; गौण रूप में वह वियोगी पति-पत्नीपरक भले ही हो। गौण को प्रमुख बनाकर सूक्त का जो अर्थ अब तक किया जाता रहा है उसमें कई शब्दों की संगति नहीं बिठाई जा सकी है। वास्तव में, संवाद-गत रूपक को मानकर,
कई शब्दों का श्लिष्टार्थ स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस बात का संकेत स्वयं *ब्राह्मण* ग्रंथ देरहे हैं।

उदाहरण के लिए, प्रथमा ऋक् में *हये! जाये!* का अर्थ प्राय: हे पत्नि!' किया गया है। पर उर्वशी को ब्राह्मी वाक् मानने पर यह स्वीकार करना होगा कि मनुष्य के व्यक्तित्व में यह वाक् पूर्वोक्त गार्हपत्य अग्नि बनकर कर्म और दक्षता (दक्षिणा) का भी रूप ग्रहण करती है। अत: *जाया* को गार्हपत्य[२८३] अथ वा प्रतिष्ठा[२८७] अर्थ में ग्रहण करके, वाक् को मनुष्य के व्यक्तित्व के समस्त प्रजनन, संरक्षण और संचालन का मूलाधार माना गया है। इस दृष्टि से, आइए, पूरी ऋक् पर विचार करें।

हये! जाये! मनसा तिष्ठ घोरे!, वचांसि मिश्रा कृणावावहै नु।
न नौ मन्त्रा अन्-उद्-इतास एते, मयस् करन् पर-तरे चनाहन्। १

आध्यात्मिक दृष्टि से, *जाया* को *हया* और *घोरा* कहना अधिक सार्थक हो

* 'शल' और 'सल', दोनों धातुएं गत्य्-अर्थक हैं। अत: 'शाला' और साला', दोनों शब्दों का अर्थ 'गृह' है, जहां से व्यक्ति गमनागमन करता है। 'साला के भेड़िए', अर्थात्, आस्तीन के सांप।

जाता है। 'हया' देववाहक 'हय' का स्त्री-रूप है।[२८४] अत: *हया* का अर्थ होगा देवशक्तियों को वहन करनेवाली। *घोरा* शब्द को 'घुर' धातु (=भीम) से व्युत्पन्न किया जाता है।[२८८] सामान्यत: 'भयंकर' अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है। पर आध्यात्मिक दृष्टि से, 'घोरा' को अनाहत नाद करनेवाली मानने से, उर्वशी को पुरूरवा: के उस मनु रूप से भी जुड़ने योग्य माना जा सकता है जिसके लिए अग्नि द्यौ को शब्दायमान करता है। हया, जाया और घोरा को 'मन के साथ स्थिर' होने को कहने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मी वाक् मन के साथ प्राणमय और अन्नमय कोशों तक रहकर, 'हया' रूप में दिव्य शक्तियों को वहन करे, 'जाया' रूप में दिव्य इच्छाओं, आदि का प्रजनन करे और 'घोरा' रूप में अपने अनाहत नाद की तरंगों को सर्वत्र पहुंचाए। इस प्रकार ब्राह्मी वाक् की अभिव्यक्तियों के साथ मिश्रित करके, जीव अपनी अभिव्यक्तियों को दैव्यता देना चाहता है। *वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु* का यही तात्पर्य है।

प्रश्न हो सकता है कि पुरूरवा: अभी जहां से उर्वशी से बातें कररहा है, क्या वहां से उसका उक्त अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता है? इस शंका को दूर करने के लिए ऋक् का शेष भाग है। दोनों जहां मिलरहे हैं उसे *मयस् करन् पर-तरे चनाहन्* कहा गया है। *अह:* का सामान्य अर्थ 'दिन' होता है। पर वाक् भी छह अहों में विभक्त होती है।[२८९] प्रत्येक अह: ब्रह्म का रूप माना गया है।[२९०] अह: सदैव शुक्ल (ज्योतिर्मय) होता है।[२९१] ब्राह्मी वाक् के छह अहों में से तीन तो दैवी त्रिलोकी की शुक्लता के सूचक हैं और तीन मानुषी त्रिलोकी से संबंध रखते हैं। मनोमय आत्मा जब विज्ञानमय और आनंदमय स्तरों से जुड़ता है तो दैवी त्रिलोकी बनती है, और वह जब प्राणमय और अन्नमय स्तरों से जुड़ता है तो मानुषी त्रिलोकी होती है। दैवी त्रिलोकी में आनंदमय कोश का अह: आनंद ('मय:') को देनेवाला और उच्च-तर ('पर-तर') होता है। इसमें ब्राह्मी वाक् और आत्मा के मंत्रों का उदयन नहीं हो पाता है। उदयन के बिना वे अस्पष्ट और अव्यक्त अवस्था में ही रहते हैं। मंत्रों के स्पष्ट और व्यक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि मानुषी त्रिलोकी में भी ब्राह्मी वाक् का अवतरण हो। इसी लिए पुरूरवा: उर्वशी से कहता है कि वह मन के साथ, अर्थात्, मानुषी त्रिलोकी में स्थिर रहे। मानुषी त्रिलोकी पुरूरवा: का मानाहुआ घर है। इस घर को वापस जाने के लिए प्रेरित करतीहुई उर्वशी पुरूरवा: से स्पष्ट कहती है कि वह (उर्वशी) स्वयं उस पुरूरवा: के लिए दुष्प्राप्य है।

किम् एता वाचा कृणवा तवाहं, प्राक्रमिषम् उषसाम् अग्रियेव।
पुरूरव:! पुनर् अस्तम् परेहि, दुर्-आपना वात-इवाहम् अस्मि। २

इस ऋक् में उर्वशी अपने को उषाओं में प्रथमा बतारही है। यह वही उषा है जो शाश्वत उषाओं में प्रथमा होतीहुई भी किसी मृत (जीव) को प्रेरणा और बोध प्रदान करने की क्षमता रखती है।[२९२] प्रथमा उषा हिरण्यय कोश की ज्योति है और अन्य कोशों की नाना ज्योतियों का स्रोत है। हिरण्यय कोश वह *अंति-गृह* है जिससे संबंधित उर्वशी को 'उषा' कहकर संबोधित किया जाता है।

सा वसु दधती श्वशुराय वय, उषो! यदि वष्ट्य् अन्ति-गृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिन् चाकन्, दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन। ४

इस ऋक् का *श्नथिता वैतसेन* अगली ऋक् में भी पुनर् उक्त है। *शतपथ ब्राह्मण* के पुरूरवा:-आख्यान में, *वैतस* के साथ *दंड* शब्द का प्रयोग, निस्संदेह, उस *हिरण्यय वेतस* की याद दिलाता है जो हिरण्यय कोश रूप हृद्य-समुद्र से प्रवाहित घृत की धाराओं के मध्य में स्थित बताया गया है।[२९३] वस्तुत:, *हिरण्यय वेतस*[२९४] उक्त कोश की स्वर्णिम ज्योति:शिखा है और वह उस कोश के घृत (आनंद) की धाराओं के मध्य स्थिर रहती है। अत: प्रथमा उषा को उससे व्याप्त, आक्रांत या आहत *(श्नथिता)*[२९५] कहा जाना सर्वथा सुसंगत है। वेतस' अथ वा 'वैतस' की 'वी' धातु का एक अर्थ 'गर्भवती होना' भी है। तदनुसार, पुरूरवा: के कथन, *दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन* का अर्थ 'रात दिन गर्भ से व्याप्त' (उर्वशी) भी हो सकता है, जब कि उर्वशी की उक्ति, *त्रि: स्म माह्न: श्नथयो वैतसेन* का अर्थ होगा, 'पुरूरवा:! तुमने मुझे दिन में तीन बार गर्भाधान द्वारा आक्रांत किया'। आध्यात्मिक दृष्टि से, रात दिन *हिरण्यय वैतस* से व्याप्त उर्वशी हिरण्यय कोश की उषा होगी, जब कि पुरूरवा: द्वारा दिन में तीन बार वैतस से आक्रांत होनेवाली उर्वशी वह उषा होगी जो मानुषी त्रिलोकी के तीन कोशों में पृथक् पृथक् तीन प्रकार के ज्योति:प्रवाह से व्याप्त होती है।

इस प्रसंग में, *श्वशुर* शब्द भी रोचक है। ऐड पुरूरवा: मानुषी त्रिलोकी के प्राण (आत्मा) का एक रूपांतर है। अत: ऐड पुरूरवा: का जनक होने से मानुषी त्रिलोकी का आत्मा उर्वशी (मानुषी त्रिलोकी की उषा) का 'श्वशुर' है। ब्राह्मी वाक् हिरण्यय कोश से ही अपने श्वशुर को गति या बल *(वय:)* देती रहती है। साथ ही, श्वास-नि:श्वास के लिए उत्तरदायी होने के कारण भी उस प्राण को 'श्वशुर' कहा जा सकता है। यह श्वशुर जिस गृह (मानुषी त्रिलोकी) में रहता है उसी में जाने के लिए उर्वशी पुरूरवा: से आग्रह करती है (ऋक् २), पर स्वयं हिरण्यय कोश रूप अंति-गृह से उसके साथ जाना नहीं चाहती। इस पर, पुरूरवा: का कथन है, 'यदि वह वसु को धारण करतीहुई, अपने अंति-गृह से ही श्वशुर के लिए वय: की कामना

करती है तो क्या मैं उसी गृह में जाऊं जहां मैं उर्वशी की चाह करता रहूं, पर वह स्वयं तो वैतस (हिरण्यय कोश के हिरण्यय गर्भ) से व्याप्त रहे?' ऋक् ४।

'श्वशुर' शब्द बहुवचन में भी प्रयुक्त होता है क्यों कि उक्त प्राण मानुषी त्रिलोकी में अनेक रूप धारण करता है। बहुवचनांत 'श्वशुर' शब्द के साथ पुत्र के जन्म का रोचक प्रसंग भी जुड़ाहुआ है।

कदा सूनु: पितरं जात इच्छाच्, चक्रन् नाश्रु वर्तयद् वि-जानन्।

*को दं-पती स-मनसा वि यूयोद्, अध यद् अग्नि: श्वशुरेषु दीदयत्।*१२

पुत्र के जन्म की अभिलाषा व्यक्त करतेहुए, पुरूरवा: उस दिन की कल्पना करता है जब जन्माहुआ बच्चा अपने पिता को चाहेगा। उसे संदेह है कि वह दिन आएगा कि नहीं। वह प्रश्न करता है कि 'जब अग्नि श्वशुरों में दीप्त होता है तो स-मनस हुए दंपती को विशेष रूप से कौन जोड़ देता है।' ऋक् में प्रयुक्त *वि यूयोत्* क्रिया से संकेत मिलता है कि दं-पती को जोड़नेवाला पुरूरवा: का वह पुत्र है जिसका 'आयु' नाम इतिहास, पुराण और वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र मिलता है। जीव और ब्राह्मी वाक् के पूर्णतया जुड़ने का तात्पर्य है ब्राह्मी वाक् का मनोमय कोश तक आकर जीव के साथ स-मनस् होना। इसकी पहचान है ध्यान की वह अवस्था जब शरीरगत सब प्राणों (श्वशुरों) में अग्नि दीप्त प्रतीत होता है। यही पुत्र का जन्म है। संभवत: इसी दृष्टि से, अग्नि को 'आयु' नाम मिला है।[२९६] एक दृष्टि से, प्राणों में दीप्त अग्नि (आयु) स्वयं प्राण ही है। अत: प्राण को 'आयु' कहा गया है,[२९७] अथ वा आयु के लिए आयु को पवमान बताया गया है।[२९८]

वास्तव में, अदीप्त अथ वा सुदीप्त प्राण (अग्नि, आयु, आदि) आत्मा, प्राण या जीव के ही रूपांतर हैं। वे ब्राह्मी वाक् के संपर्क से अस्तित्व में आने के कारण, उसके पुत्र कहे जाते हैं। 'आयु' वह रूपांतर है जो ब्राह्मी वाक् को शरीर और स्थूल प्राण से जोड़ता है। इसका सर्वश्रेष्ठ रूपांतर विश्वायु है। वह विश्व के मन को पूर्णतया जोड़नेवाला 'मख' (=यज्ञ) कहा जाता है।[२९९] इसी को अन्यथा *अनुत्तम्.... क्षत्रं वि वायु,*[३००] *राधो वि वायु*[३०१] और *राधो वि वायु सौभगम्*[३०२] कहकर याद किया जाता है। पुराणों में विश्वायु को पुरूरवा: का एक अन्य पुत्र माना गया है। ब्राह्मी वाक् द्वारा प्रसूत होने के कारण इसे 'विश्व अमृतों' को अपनानेवाला, इंद्र का विश्वायु रूप माना जाता है।[३०३] यही विश्वायु 'विश्व-वेदा: अग्नि' है।[३०४] वास्तव में, वैदिक साधना की यही सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। अत: पवमान सोम से इसकी याचना की जाती है।[३०५] इस आयु की वृद्धि से ही 'आयुस्' (उम्र) का वास्तविक विस्तार होता है।

इसका आरंभ तब होता है जब जीव तप से तपना आरंभ करता है और

उस तपने के फलस्वरूप ब्राह्मी वाक् निज का अवतरण करतीहुई, हिरण्यय कोश से नीचे की ओर कौंधती है और जीव में दिव्य कर्म की कामनाएं पैदा करती है। तभी ब्रह्मोद्भव मारुत कर्म *(नर्य)* उत्पन्न होता है। ब्राह्मी वाक् इसी को बढ़ाकर आयु का वास्तविक विस्तार करती है।

वि-द्युन् न या पतन्ती दविद्योद्, भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सु-जातः, प्रोर्वशी तिरत दीर्घम् आयुः।१०

आयु के विस्तार का यह कार्य तभी संभव है जब जीव ब्राह्मी वाक् की प्रेरणा पर ध्यान देकर उसके द्वारा परोक्षतः प्रदत्त ओज को धारण करे। पर जीव प्रायः ब्राह्मी वाक् पर ध्यान न देकर ऐसे बोलता है, मानो, उसने उस ओज को भोगा ही न हो।

जज्ञिषे इत्था गो-पीथ्याय हि, दधाथ तत् पुरूरव! म ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन् अहन्, न म आश्रृणोः किम् अभुग् वदासि।११

यदि उस ओज को जीव *(ईं)* व्यर्थ न गंवाए और निरंतर उसे धारण करता रहे तो उससे वह सत्य *(इत्था)* आविर्भूत होता है जो उसे ज्ञान-गौ के दुग्धपान का अधिकार *(गो-पीथ्य)* प्रदान करता है।[३०६] इस तथ्य की जानकार स्वयं ब्राह्मी वाक् है। आत्मा को यह सच्चाई उस एकीभूत *अहः* में ज्ञात होती है जो वस्तुतः सभी छह अहों को अपने में समाहित करनेवाला समाधिकाल का प्रकाश है। *इत्था* निश्चयात्मक सत्य है। सूक्त का उपसंहार करतेहुए उर्वशी ऐड पुरूरवाः को इसी सत्य की ओर संकेत करतीहुई कहती है कि तुम जिस प्रकार अपने ईं रूप में मृत्यु-बंधु होते हो उस प्रकार तुम अपने ऊं रूप में स्वर्ग-सुख को भी भोगते हो।

स्वर्ग-सुख को भोगने का अवसर तब आता है जब *ऊँ* की *ऊति* नामक शक्ति के निरंतर अवतरण से जीव *(ईं)* उसको ग्रहण करताहुआ अंततोगत्वा ॐ का साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। वेद की भाषा में इस योग्यता का नाम *पाक* है। ईं अपरिपक्व है। उसका निरंतर 'ऊति' की ओर अग्रसर होनेवाला रूप *इत-ऊति* कहलाता है। इसके विषय में विचित्र बात यह है कि इसे महान् सेचक *(उक्षा)* अग्नि भी कहा गया है[३०७] और आपः (शुद्ध प्राणों) का नेता सोम भी।[३०८] इस महान् 'वर्प' 'इत-ऊति' को मित्र-वरुण[३०९] अथ वा अश्विनौ[३१०] प्रदान करते हैं। 'इत-ऊति' रेतस् है। उसको सेचन करनेवाला कोई 'गूर्तवचस्तम क्षोद' है।[३११] अतः क्या यही मित्र-वरुण का वह रेतस् है जिसका सेचन मनुष्य के व्यक्तित्व *(कुंभ)* में होने से वसिष्ठ पुरूरवाः की अथ वा वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि की उत्पत्ति होती है? आइए, इस विषय की मीमांसा करें।

: ४ : मैत्रावरुणि की उत्पत्ति

बृहद्देवता द्वारा सुरक्षित, पुरूरवा: के आख्यान में, उर्वशी को देखने से जब मित्र-वरुण के वीर्य का स्खलन हुआ तो उन्होंने उसे कुंभ में डाल दिया और उर्वशी को मनुष्य की भोग्या होने का शाप दे दिया। इसके परिणामस्वरूप वह ऐड पुरूरवा: की पत्नी बनी। मित्र-वरुण द्वारा कुंभ में रेत:सेचन करके वसिष्ठ को जन्म देने का प्रसंग ऋग्वेद में इस प्रकार उल्लिखित हुआ है,

सत्रे ह जाताव् इषिता नमो-भि:, कुम्भे रेत: सिषिचतु: समानम्।
ततो ह मान उद् इयाय मध्यात्, ततो जातम् ऋषिम् आहुर् वसिष्ठम्।
ऋ. ७.३३.१३

मनुष्य का व्यक्तित्व एक कुंभ है। उसमें रेत: का सेचन, उसके मध्य से एक 'मान' (निर्मिति) का खड़ा होना और उसके परिणामस्वरूप वसिष्ठ ऋषि का जन्म यहां स्पष्ट वर्णित हैं। जिन मित्र-वरुण का रेत: यहां अभीष्ट है उन्हें मनुष्य के व्यक्तित्व के निचले स्तर पर प्राण-अपान[३१२] और उच्चतर स्तर पर प्राण-उदान[३१३] कहा जाता है। इच्छाओं, भावनाओं, आदि प्रजाओं को शांत रखनेवाला 'मित्र' है और उन्हें वि-धृत रखनेवाला 'वरुण' है।[३१४] 'वि-धृत रखने' का कार्य निचले स्तर की प्रजाओं को विविध रूप देकर अपान (वरुण) करता है, तो उच्चतर स्तर पर प्रजाओं को स-मान रूप देकर उदान (वरुण) 'वि-धृत (विशेषरूपेण धारण) करता है। यही 'स-मान रेत:' है जिसे मित्र-वरुण जब मनुष्य के व्यक्तित्व में सिंचित करते हैं तो एक ऊर्ध्वमुखी निर्मिति मध्यस्थानीय मनोमय स्तर में से खड़ी हो जाती है। इस निर्मिति से वसिष्ठ ऋषि का जन्म अतिमानसिक स्तर पर होता है। यह समाधिजन्य दर्शन है। इसके विपरीत, व्युत्थान अवस्था में वही निर्मिति *अ-ग* से *अग-स्त्य* होतीहुई, 'अग' वसिष्ठ को आंतरिक विश्व की शक्तियों-'विश:'[३१५] (मरुतों, विश्व देवों, आदित्यों, रुद्रों और वसुओं) के लिए उपलब्ध कराता है।

वि-द्युतो ज्योति: परि सं-जिहानं, मित्रावरुणा यद् अपश्यतां त्वा।
तत् ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत् त्वा विश आ-जभार। ऋ. ७.३३.१०

इस प्रकार, अतिमानसिक वसिष्ठ एक से 'बहु (पुरु) अभिव्यक्ति (रव) वाला' हो जाता है। क्या इस बहुरूपता को लक्ष्य करके ही वसिष्ठ पुरूरवा: की कल्पना की गई थी? क्या वसिष्ठ और पुरूरवा: नाम से दो भिन्न आख्यान मूलत: प्राण-दृष्टि की ही उपज हैं? इन प्रश्नों के लिए वसिष्ठ ऋषि का विस्तार से विचार करना होगा। इस प्रसंग में दृष्टिगत होगा कि वसिष्ठ के संबंध से भी पुराणों में वेद का किस प्रकार समुपबृंहण हुआ है।

५ वेद-व्याख्या में आख्यानों का उपयोग

पूर्वोक्त पुरूरवा:-उर्वशी आख्यान जैसे अनेक आख्यानों का प्रयोग वैदिक मंत्रों की व्याख्या में होता आया है। ऐसे अनेक आख्यानों का उल्लेख *ब्राह्मणो* में पाया जाता है। *बृहद्देवता* में वे सब संगृहीत हैं। दुर्भाग्यवश कालांतर में इन आख्यानों को ऐतिहासिक मान लिया गया, यद्यपि *ब्राह्मणों* में इनके प्रतीकार्थों की ओर प्राय: संकेत कर दिया गया था। पर इन संकेतों का उपयोग करना सुगम नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक आख्यान अन्य अनेक आख्यानों अथ वा प्रतीकों से उलझाहुआ पाया जाता है। इसलिए यदि किसी एक आख्यान की व्याख्या की जाती है तो उससे उलझेहुए अन्य प्रतीक भी व्याख्या के लिए उपस्थित हो जाते हैं।

पुरूरवा:-उर्वशी आख्यान का उलझाव : उदाहरण के लिए पूर्वोक्त पुरूरवा:-उर्वशी प्रसंग को ही ले लेते हैं। ऋग्वेदीय सूक्त १०.९५ में इन दोनों का संवाद मिलता है। वहां पुरूरवा: नाम पांच बार और उर्वशी नाम दो बार आया है। सत्रहवीं ऋक् में पुरूरवा: अपने को वसिष्ठ कहता है। उधर ऋ १.३१.४ में पुरूरवा: को मनु कहा गया है। अत: यह आवश्यक है कि पुरूरवा: को समझने के लिए इन दोनों समीकरणों की संगति बिठाई जाए। उधर, उर्वशी एक ऋक् ५.४१.१९ में *बृहद्दिवा* उर्वशी के साथ देखी जाती है और उसे *प्र-भृथ आयु* का आच्छादन करनेवाली कहा गया है। इससे उर्वशी की द्विविधता का संकेत मिलता है और आयु की भी एक विशिष्ट अवस्था यहां अभिप्रेत प्रतीत होती है। अन्यत्र आयु को पुरूरवा: का उर्वशी से प्रसूत पुत्र माना गया है।

उर्वशी के लिए प्रयुक्त 'बृहद्दिवा' विशेषण सरस्वती के लिए भी प्रयुक्त है।[३१६] उर्वशी[३१७] और सरस्वती,[३१८] दोनों अलग अलग वसिष्ठ से भी संबद्ध हैं। तो क्या उर्वशी और सरस्वती का कोई संबंध हो सकता है? *निघंटु* में सरस्वती और उर्वशी का उल्लेख साथ साथ एक ही पदनाम-सूची (५.५) में आता है। सरस्वती वेद में *नदी-तमा* कही जाती है[३१९] तो उर्वशी की घनिष्ठता भी नदियों से स्पष्ट कही गई है।[३२०] साथ ही, परंपरा से उर्वशी को एक अप्सरा: (आप: में सरणशीला) माना गया है। *आपोप्सरस:* उक्ति अप्सराओं को आप: ही सिद्ध करती है।[३२१]

प्रतीकत्व की संभावना : 'आप:' शब्द के समान, 'उर्वशी' शब्द का भी बहुवचनांत रूप मिलता है। *मर्त्यानाम् उर्वशी:* कहने के साथ *उपरस्य आयो:* उल्लेख[३२२] उसी उर्वशी अप्सरा: की ओर संकेत करता है जो आयु की जननी कही जाती है। इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि उर्वशी और सरस्वती के लिए एकवचन में प्रयुक्त

'बृहद्दिवा' विशेषण बहुवचन में 'विश्व' देवों के लिए प्रयुक्त है।[३२३] उधर, 'विश्व' देवों का समीकरण आप: से किया गया है।[३२४] तो क्या अप्सराएं या उर्वशियां भी तत्त्वत: 'विश्व' देव मानी जा सकती हैं? यदि यह बात है तो *उर्वशी* को व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं माना जा सकता है और न उर्वशी-पुरूरवा: के प्रसंग को सामान्य लौकिक प्रेम समझना उपयुक्त प्रतीत होता है।

ऐसी स्थिति में, दृष्टि किसी प्रतीकार्थ की खोज करती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, *मैत्रायणी संहिता* उर्वशी को वाक् और पुरूरवा: को प्राण मानती है।[२४८] पुरूरवा: स्वयं अपने को वसिष्ठ कहता ही है। उधर प्राण को न केवल वसिष्ठ[३२५] अपि तु *वसिष्ठ ऋषि*[३२६] भी कहा गया है। अत: संकेत मिलता है कि पुरूरवा: और वसिष्ठ, दोनों प्राण के प्रतीक हैं। पुरूरवा: को मनु भी कहा ही गया है। *कौषीतकि ब्राह्मण* में भी मनु का समीकरण आयु से किया गया है[२९६] और आयु अन्यत्र प्राण है।[२९७] इस प्रकार, मनु और वसिष्ठ से समीकरण होने पर भी पुरूरवा: का प्राण रूप अक्षुण्ण रहता है और *मैत्रायणी संहिता* द्वारा संकेतित प्रतीक की पुष्टि होती है।

ऐतिहासिकता के संकेत : फिर भी, इन दो समीकरणों के आधार पर, यदि आख्यान का प्रतीकार्थ समझने का यत्न करते हैं तो सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि समस्त प्राचीन वाङ्मय में वसिष्ठ और मनु की ऐतिहासिकता छाईहुई है। उदाहरण के लिए, *वसिष्ठ-सूत्र, वसिष्ठ-स्मृति, योग-वासिष्ठ* और *वसिष्ठ-सिद्धान्त* की ऐतिहासिकता से सुसंबद्ध होने के साथ साथ, *ऋग्वेद* के सप्तम मंडल में और अन्यत्र भी वसिष्ठ नाम अनेक वेदमंत्रों से जुड़ाहुआ है। *रामायण, महाभारत* और पुराणों में वसिष्ठ सूर्यवंशियों का पुरोहित है, तो वेद में वह तृत्सुओं की पुरोहिति करते हैं।[३२७] वैदिक साहित्य में वसिष्ठ और विश्वामित्र को परस्पर स्पर्द्धा करनेवाला कहा जाता है।[३२८] वेदोत्तर साहित्य में भी वसिष्ठ युद्धरत होते हैं। *महाभारत* में, भीष्म, युधिष्ठिर को उपदेश करतेहुए, कराल (जनक) के साथ होनेवाले वसिष्ठ के संवाद को एक 'पुरातन इतिहास' की संज्ञा देते हैं।[३२९] इसके अतिरिक्त, आज भी भारत में ऐसे अनेक लोग हैं जिनका गोत्र 'वासिष्ठ' है और जो अपने को इसी आधार पर, वसिष्ठ का वंशज मानते हैं। *ऋग्वेद* के संपूर्ण सप्तम मंडल को वसिष्ठ और वसिष्ठ-परिवार द्वारा दृष्ट माना जाता है। यहां 'वसिष्ठ' नाम के अतिरिक्त, बहुवचनांत 'वसिष्ठा:' शब्द भी प्रयुक्त है जिसका अर्थ प्राय: 'वसिष्ठ के पुत्र' किया गया है। मंडल के विभिन्न सूक्तों के ऋषियों में वसिष्ठ के ये बारह पुत्र परिगणित हैं, इंद्र-प्रमति, उप-मन्यु, कर्ण-श्रुत, चित्र-मह, द्युम्नीक, प्रथ, मन्यु, मृडीक, वसुक्र,

वृषगण, व्याघ्र-पात्, शक्ति। वसिष्ठ के पौत्रों में गौरवीति (शाक्त्य), पराशर (शाक्त्य), वसु-कर्ण (वासुक्र) और वसु-कृत् (वासुक्र) उल्लिखित हैं।

मनु की भी ऐतिहासिकता प्राचीन वाङ्मय में सुप्रसिद्ध है। धर्मशास्त्र के प्रणेता, स्मृति के कर्ता, सूर्यवंश के आदि पुरुष, मनुष्यजाति के पूर्वज, भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् और जलप्लावन से विध्वस्त हुई सृष्टि का पुनरुद्धार करनेवाले प्रजापति के रूप में मनु को *महाभारत, रामायण* और पुराणों की परंपरा में एक ऐतिहासिक महापुरुष के तुल्य माना जाता है। मनु अनेक वेद-मंत्रों के ऋषि हैं और मनु सांवरण, मनु आप्सव और मनु वैवस्वत के अतिरिक्त, *ऋग्वेद* में सावर्णि अथ वा सावर्ण्य मनु का भी उल्लेख है।[३३०] अन्यत्र चक्षु, नहुष, नाभानेदिष्ठ और शार्यात, ये मनु के पुत्र *(मानव)* कुछ सूक्तों के ऋषि हैं। संभवतः इन चार को लक्ष्य करके *श्रीमद्भगवद्गीता* में चार मनुओं की चर्चा है।[३३१] पुराणों में मनु चौदह हैं, स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, रौच्यदेव सावर्णि और इंद्र सावर्णि।

ऐतिहासिकता पर प्रश्नचिह्न : इस प्रकार, वसिष्ठ और मनु की ऐतिहासिकता के पक्ष में व्यापक मान्यता का आभास होतेहुए भी, प्राचीन परंपरा में कुछ ऐसी बातें इन दोनों के विषय में मिलती हैं जो ऐतिहासिकता को नकारतीहुई प्रतीत होती हैं। जहां तक मनु का संबंध है, आदि पुरुष के रूप में वह निस्संदेह एक प्रतीक है।[३६२] ज्ञानार्थक 'मन्' अथ वा अवबोधार्थक 'मन्' धातु से व्युत्पन्न यह शब्द मनुष्य के ज्ञानात्मक या अव-बोधात्मक पक्ष का द्योतक है। *तैत्तिरीया संहिता* के अनुसार, मनु उत्तर और अधर भेद से द्विविध है। उत्तर मनु देवों के लिए अग्नि को समिद्ध करता है।[३३३] जिसमें मनु हो वह *मनस्वी* होता है और मनुष्यों के मनुष्यत्व का ज्ञाता होता है।[३३४] मनु आयु है और आयु स्वयं प्राण है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनु भी, वसिष्ठ और पुरूरवाः के समान, एक प्राण है। 'मनु' शब्द के धात्वर्थ को देखतेहुए, मनु अवश्य ही ज्ञानपरक अथ वा बोधपरक प्राण कहा जाएगा।

इसी प्रकार, वसिष्ठ ऋषि को जहां *ब्राह्मणों* में प्राण माना गया है वहां *महाभारत* में वसिष्ठ उन चार ऋषियों में से एक है जो मूल गोत्रों के प्रवर्तक हैं,

मूल-गोत्राणि चत्वारि, सम्-उत्-पन्नानि पार्थिव!
अङ्गिराः कश्यपश् चैव, वसिष्ठो भृगुर् एव च ।।
कर्मतोन्यानि गोत्राणि, सम्-उत्-पन्नानि पार्थिव!
नाम-धेयानि तपसा, तानि च ग्रहणं सताम् ।। शांति-पर्व २९६.१७-१८

जो लोग *गोत्र* शब्द को वंशपरंपरा का सूचक मानते हैं उन्हें, निस्संदेह, यहां वसिष्ठ

की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती दिखाई पड़ेगी। पर ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाएगा कि यहां यह शब्द वंशपरंपरा का वाचक नहीं है क्यों कि यहां अन्य गोत्रों को कर्मजन्य माना है, पर उक्त चार गोत्रों को तपोजन्य। वेदों में प्रयुक्त *गोत्र* शब्द के अध्ययन से भी ऐसा ही कुछ निष्कर्ष प्राप्त होता है।

वेद में *गोत्र* शब्द, निस्संदेह, गौ की कल्पना से जुड़ाहुआ है।[३३५] गौ भी ऐसी जिसकी गवेषणा अन्तर्दृष्टि द्वारा ही संभव है।[३३६] *गवेषण रथ* योग-रूप रथ है। उसमें हरि-द्वय का योजन[३३७] उस *हरियोग* की ओर संकेत करता है जिसको *हिरण्यय* रथ कहा जाता है।[३३८] साधक के भीतर एक *हरि-श्री: गोत्र* स्थित है।[३३९] यह हरि-श्री: 'लोक-कृत्नु' है और आयु और मनु, दोनों के लिए ज्योतियों को जुटानेवाला साधन है।[३४०] यही वह परम व्योम अथ वा परम पद है[३४१] जिसकी सहस्राक्षरा वाक्, नीचे के नौ पदों में पृषती, पिशंगी, सारंगी, कल्माषी, पृश्नि, श्वेता, आदि रूपों को धारण करनेवाली ज्योति कहलाती है।[३४२] इनमें से प्रत्येक पद को एक 'गोत्र' कहा जा सकता है। इसी लिए बहुवचनांत 'गोत्राणि' शब्द का प्रयोग होता है। इंद्र अपने सखाओं के सामूहिक बल ('सह:') द्वारा इन सब गोत्रों का भेदन करता है; इसी दृष्टि से वह *गोत्र-भिद्* कहलाता है।[३४३] गोत्र-भेदन का अभिप्राय है गोत्रों पर से अंधकार के आवरण को हटाना और गौ (वाक्) की ज्योति को अंगिरसों, वसुओं, रुद्रों, आदित्यों, आदि के लिए मुक्त करना।[३४४] उक्त 'हरि-श्री: गोत्र' (परम पद) में सब प्राण आत्मा से संयुक्त 'रश्मि' होते हैं।[३४५]

पूर्वोक्त परम व्योम की वाक् सब प्राणों की सर्वोत्तम ज्योति है[३४६] जिसे मरुत उद्घाटित करते हैं।[३४२] यही वह ऋक् है जो उस 'अक्षर परम व्योम' में विद्यमान है जहां सब प्राण 'विश्व' देव होकर समासीन होते हैं।[३४७] मनुष्य के व्यक्तित्व का समस्त नानात्व (नव पदों की चेतना) इस परम व्योम में एकीभूत होता है। और यही वह ज्योतिर्मंडित स्वर्ग या हिरण्यय कोश है जिसमें आत्मा से युक्त ब्रह्म विद्यमान है।[१५८] उक्त नव (नौ) पदों का प्रकृष्ट रूप होने से इस वाक् को 'प्र-णव' कहा जाता है जिसका वाचक पूर्वोक्त 'ऊं' *लोक-कृत्नु हरि-श्री:* है। यहां सब प्राण आत्मा में लीन होते हैं। अत: इस एकीभूत प्राण को आत्मा अथ वा प्राण-समिद्ध पुरुष भी कहा जाता है।[३४८] यही वसिष्ठ का, ज्योति बिखेरताहुआ, वह रूप है जिसे उसका प्रथम जन्म कहा जाता है[३४९] अथ वा जिसे ब्रह्म का वह स्खलित वीर्य-बिंदु कहा जाता है जिसे 'विश्व' देव पुष्कर में ग्रहण करते हैं।[३१७] संबंधित ऋक् में वसिष्ठ को ब्रह्मा भी कहा गया है। यहां ब्रह्मा के साथ पुष्कर का उल्लेख देखकर यह अनुमान स्वाभाविक है कि इस मंत्र में पुष्कर तीर्थ के पौराणिक ब्रह्मा की कथा

का बीज है। *गोपथ ब्राह्मण* के अनुसार ब्रह्म ने पुष्कर में ब्रह्मा का सर्जन किया था।[३५०] 'विश्व' देवों द्वारा ब्रह्म के वीर्य-बिंदु का आदान उसी सर्जन का पूर्वाभ्यास है। *पुष्कर* शब्द की व्युत्पत्ति पुः+कृ से करतेहुए, *शतपथ ब्राह्मण* कहता है कि प्राण-रूप आपः का जो ऊर्ध्वीकृत रस था उसे, इंद्र (आत्मा) के लिए, एक सुरक्षित पुर् में परिणत किया गया जो परोक्ष दृष्टि से 'पुष्कर' कहा जाने लगा।[३५१] इसी दृष्टि से *आपो वै पुष्करम्* उक्ति भी चल पड़ी।[३५२] ये आपः, निस्संदेह, हिरण्यय कोश की हिरण्यवर्ण आपः होंगी।[३५३]

यह पुष्कर नामक सुरक्षित पुर् वह हिरण्यय कोश नामक ज्योतिर्मंडित स्वर्ग है जिसमें आत्मा से युक्त ब्रह्म विराजता है और जहां ब्रह्मसायुज्य से जीव ब्रह्मा बनता है। इसी बात को प्रकारांतर से यों कहा जाता है कि ब्रह्मा ने 'अपराजिता हिरण्ययी' पुरी या कोश में प्रवेश किया।[३५४] प्राणायामपूर्वक ऊर्ध्वगामी ध्यान से उत्पन्न हिरण्य-ज्योति इस कोश (पुरी) का वह ऊर्ध्वीकृत रस है जिसने इसे पुष्कर नाम दिया है। यह ऊर्ध्वीकरण विज्ञानमय कोश की उन्मनी शक्ति द्वारा होता है। उन्मनी शक्ति से युक्त हो जाने पर उदान प्राण वह 'मित्र' देव हो जाता है जिसको प्राप्त करने के लिए पांच ज्ञानेंद्रियों का संयम आवश्यक होता है और जो फिर 'विश्व' देवों का भरण-पोषण करता है।[३५५] अतः मित्र को उस वसिष्ठ का जन्मदाता[३५६] कहा जा सकता है जिसे 'विश्व' देव ब्रह्मबिंदु रूप में ग्रहण करते हैं।

अवरोहण-क्रम में, विज्ञानमय कोश की स-मनी शक्ति से युक्त होकर 'मित्र' देव बनाहुआ उदान-प्राण मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों को हिरण्ययकोशीय आपः रूप में स्वयं आवृत करता है। अतः वह वरण (आ-वरण) होते होते *वरुण* नाम ग्रहण करता है।[३५७] इस प्रकार, उन्मनी-युक्त मित्र और समनी-युक्त वरुण की मित्रा-वरुण नामक एक संयुक्त इकाई से प्रसूत, वसिष्ठ प्रजापति का उद्भव विज्ञानमय कोश में होता है। वरुण रूप में वह हिरण्यय कोश के ज्योतिः-प्रवाह रूप पुष्कर को नीचे लाता है और मित्र-रूप में उसी को पुनः हिरण्यय कोश को वापस ले जाता है। इस तरह वे दोनों *देवौ पुष्कर-स्रजौ* (अश्विनौ) हो जाते हैं।[३५८] साथ ही, मित्र इच्छा, क्रिया, आदि प्रजाओं को शांत करनेवाला है और वरुण उन्हें विविधरूपेण धारण करनेवाला कहा जाता है।[३१४] 'मित्र' देव मनोमय कोश के सृष्टि-यज्ञ के स्विष्ट को ग्रहण करता है, जब कि 'वरुण' देव उसके दुरिष्ट को ग्रहण करनेवाला, अतः क्रूर है[३५९] क्यों कि वह मित्र द्वारा लाएगए हिरण्ययकोशीय आपः का प्रयोग मनोमयकोशीय, दुष्प्रवृत्तियों को क्रूरतापूर्वक नष्ट करने में करता है। इस प्रसंग में, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और

क्रियाशक्ति के संदर्भ से मानसिक स्तर पर वरुण के तीन रूपांतर हो जाते हैं जिन्हें क्रमशः भृगु, कश्यप और अंगिराः कहा जा सकता है। ये ही, पूर्वोक्त चार में से, वे तीन गोत्रप्रवर्तक अथ वा प्रजापति हैं जिन्हें वारुण कहा है।[३६०]

ब्रह्मा के चार मानस पुत्र : मन के आरोह-अवरोह से जनित होने की दृष्टि से, पूर्वोक्त चार गोत्रप्रवर्तकों को ब्रह्मा के मानस पुत्रों के रूप में भी समझा जा सकता है। पुराणों में इनकी गणना ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में होती है। *महाभारत* में ये चार मनु कहे गए हैं। ये ब्रह्मा-सहित इक्कीस प्रजापतियों में भी गिने जाते हैं।[३६१] चार मानस पुत्रों में से, वसिष्ठ की उत्पत्ति तो साधक के ऊर्ध्वमनाः होने का परिणाम है, जब कि भृगु, कश्यप और अंगिराः का जन्म स-मनी शक्ति के मानसिक स्तर पर अवतरण का परिणाम है। प्रथम अवस्था में, मित्र और वरुण, दोनों साथ साथ पुष्कर (हिरण्यय कोश) के ब्रह्मा के वीर्य (ज्योति) को वसिष्ठ (विज्ञानमयकोशीय मैत्रावरुण) के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वेद इस वीर्य को *समानं रेतः* कहता है।[३६२] पुराणों ने इस वीर्य को ब्रह्मा का *समान प्राण*[३६३] अथ वा *प्राण* कहा है[३६४] और उससे वसिष्ठ की उत्पत्ति मानी है जब कि अन्यत्र वह मित्र-वरुण का वीर्य है जो कुंभ में सिंचित होकर वसिष्ठ को जन्म देता है। इस आख्यान के मूलाधार में, *समानं रेतः* का सेचन करनेवालों को सत्र में उत्पन्न बताया गया है।[३६२] 'सत्र' मूलतः उस अनवरत ध्यान-यज्ञ में बैठने का बोधक है जिसमें 'मित्र' प्राण विज्ञानमय कोश से हिरण्यय कोश (पुष्कर) में जाता है और वहां से 'वरुण' प्राण होकर लौटता है। यह क्रिया पुष्कर के ब्रह्मा का रेतः-सेचन कुंभ में करके, एक निर्माण (*मान**) खड़ा करती है और उससे होनेवाले वसिष्ठ-जन्म का कारण मानी जा सकती है। *रामायण* के अनुसार कुंभ में मित्र और उर्वशी के तेजस् का आधान होता है जिसमें वारुण तेजस् भी संभूत होता है। तब वसिष्ठ की उत्पत्ति होती है।

> *तद्द् हि तेजस् तु मित्रस्य, उर्वश्याः पूर्वम् आ-हितम्।*
> *तस्मिन् सम्-अभवत् कुंभे, तत् तेजो यत्र वारुणम्॥* ७.५७.६

वसिष्ठ का वस्तृ-तम और श्रेष्ठ रूप : इस ज्योतिः-श्रृंखला के संदर्भ में वसिष्ठ के वस्तृ-तम रूप की कल्पना उभरी। सर्वप्रथम, वसिष्ठ विद्युज्-ज्योति को चतुर्दिक बिखेरताहुआ दिखाई पड़ता है। यह वसिष्ठ का प्रथम जन्म है। इसको ब्रह्म का स्खलित हुआ वीर्य-बिंदु कहा गया है। यह हिरण्यय कोश का ज्योतिः-रूप *ब्रह्मा* है।

* यह 'मान' ध्यान-यज्ञ का मूलतः यूप माना गया प्रतीत होता है। तु., *मीयते अमुष्मै यूपः*, काठ. २५.१०, में 'मा' धातु का प्रयोग।

इसके बाद, *मैत्रावरुण* वसिष्ठ है। यह विज्ञानमय कोश की ज्योति है। आगे वाले मनोमय यज्ञ का यह ब्रह्मा है। यह वहां मनोमय सृष्टि के *अनेक वसिष्ठों* के रूप में प्रकट होता है। ये वसिष्ठ मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों के विविध प्राणों के रूप में माने जा सकते हैं। इस प्रकार, वसिष्ठ को हिरण्यय कोश से लेकर अन्नमय कोश तक मानव के व्यक्तित्व में सर्वत्र बसताहुआ कह सकते हैं।[३२६] अत: *शतपथ ब्राह्मण 'यद् वै नु श्रेष्ठस् तेन वसिष्ठ:'* भी कहता है। यहां वसिष्ठ के साथ 'श्रेष्ठ' शब्द का प्रयोग यह संकेत देता है कि वसिष्ठ में वस्तृतमत्व के अतिरिक्त कुछ अन्य उत्कर्ष भी है। *ऐतरेय आरण्यक* इस ओर संकेत करने के लिए, 'वसिष्ठ' शब्द की व्याख्या में इंद्रिय-देवों के बीच हुए एक विवाद का उल्लेख करता है। तदनुसार, इन देवों में से प्रत्येक अपने को श्रेष्ठ समझता था। अत: यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक देव अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करे। चक्षु, श्रोत्र, आदि में से प्रत्येक ने अपना अपना कार्य बंद किया तो भी अन्य सब अपना अपना काम करते रहे। पर जब प्राण ने अपना कार्य बंद करना चाहा तो अन्य सब निश्चेष्ट होने लगे। यह देखकर सब बोल पड़े,
अयं (प्राणो)
वै सर्वेषां वसिष्ठ:।[३२५] यहां प्राण से तात्पर्य उस ऊँ से है जो सब देवताओं के भीतर विचरण करता है और सर्वत्र होताहुआ भी पुन: पुन: होता रहता है।

अन्तर् गर्भश् चरति देवतास्व्, आ-भूतो भूत: स उ जायते पुन:। अ. ११.४.२०

यह ऊँ प्राण वह ओंकार है जो ब्रह्म का ज्येष्ठ पुत्र कहा गया है।[७३] यही वह ज्येष्ठ है जिसे *अथर्ववेद* 'ज्येष्ठ ब्रह्म' कहकर नमन करता है।[३६५] वह 'एक', मन की अनेकता में प्रविष्ट होता है। वह *प्रथम जात ऊँ* कारण-शरीर रूप गर्भ के भीतर भी है,

एको ह देवो मनसि प्र-विष्ट:, प्रथमो जात: स उ गर्भे अन्त:। अ. १०.८.२८

इसलिए, केवल निवासार्थक 'वस्' धातु से व्युत्पन्न, 'वसिष्ठ' नाम देकर उसकी सब विशेषताओं का बोध कराना संभव प्रतीत नहीं हुआ। सायण ने, इस कारण, पूर्वाचार्यों का अनुसरण करतेहुए, इस शब्द के अर्थ *सर्वस्य वासयितृतम:,*[३६६] *वासयितृतम: वसुमत्तमो वा,*[३६७] आदि किए हैं। *महाभारत* ने, 'वस्' धातु से निष्पन्न करने के अतिरिक्त,[३६८] इस शब्द को 'वृ'-धातु-मूलक 'वरिष्ठ' शब्द का और 'वश्' धातु से व्युत्पन्न 'वशिष्ठ' शब्द का रूपांतर भी माना है।[३६९] अत: वसिष्ठ मूलत: वह वरेण्यतम तत्त्व है जिसे चेतन आत्मा कहा जाता है और जो अपने प्रकृत रूप से हिरण्यय कोश के ब्रह्मसायुज्य में रहता है। वही मनोमय कोश में अनेक वसिष्ठ होकर विविधता ग्रहण करता है। संभवत: वेद में 'वस्' धातु केवल वसने या निवास

करने अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता था, अपि तु उसमें अन्य अनेक अर्थों का भी समावेश था। इसलिए वसिष्ठ की सब विशेषताएं 'वस्' धातु में समाविष्ट हुई प्रतीत होती हैं। अत: जिस सप्तम मंडल का ऋषि वसिष्ठ है उसमें 'वस्' धातु अथ वा उससे व्युत्पन्न शब्दों की भरमार है। इस मंडल के एक सौ चार में से कम से कम सत्तर सूक्तों में 'वस्' धातु और उससे व्युत्पन्न *वसु, वसिष्ठ, वस्वी, वसुत्वनम्, वसाना:, वसव्य, वसुधिति, वासस्, वासव,* आदि अनेक शब्दों का बार बार प्रयोग हुआ है। जिन चौंतीस सूक्तों में ऐसा नहीं है वहां ऋषि द्वारा अपने लिए प्रयुक्त *मम, मे, न:, अस्माकम्* जैसे उत्तम पुरुष के सर्वनामों के प्रयोग से उक्त श्रेष्ठ वसिष्ठ की अप्रत्यक्ष उपस्थिति मानी जा सकती है। इस प्रकार, मनुष्य के व्यक्तित्व में *वसिष्ठ (ॐ)* की व्याप्ति का वहां चित्रण हुआ है।

वसिष्ठ का जन्म : जो वस्तु मनुष्य के व्यक्तित्व में सर्वत्र व्याप्त है उसके जन्म की बात अटपटी लगती है। पर वेद की शैली को समझ लेने पर उसमें कुछ भी अटपटापन नहीं रहता है। व्यक्तित्व-रूप 'पुर्' में शयन करनेवाला पुरुष (आत्मा) 'अ-जात' होकर आनंदमय कोश में बैठाहुआ है[३७०] पर वह विज्ञानमय कोश में 'जायमान' और मनोमय कोश में 'जात' कहा जाता है। आत्मा को प्रजा-पति[३७१] अथ वा वसिष्ठ प्रजा-पति[३७२] भी कहा जाता है क्यों कि वही, मानो, विज्ञानमय कोश में *बहु स्याम्*[३७३] कहकर अहंबुद्धि, मन और दस इंद्रियों की 'द्वादशाह'[३७४] यज्ञसृष्टि द्वारा इच्छाओं, क्रियाओं, आदि प्र-जाओं को जन्म देता है और इस प्रकार 'वसिष्ठ:' से 'वसिष्ठा:' हो जाता है। *वसिष्ठा:* 'जा:' से भिन्न हैं; अत: वे 'प्र-जा:' हैं क्यों कि उनमें आनंदमयकोशीय ॐ प्राण (आत्मा) का अवतरण हुआ है। यह अवतरण ही वस्तुत: वह जन्म है जिससे *जा:* 'प्र-जा:' (प्रकृष्ट जा:) बन जाती हैं।

वसिष्ठ के जन्म के प्रसंग में, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वसिष्ठ/वसिष्ठों के जन्म का उद्देश्य यम (यम-नियम-संयम) द्वारा प्रसारित परिधि को बुनना है,

स प्र-केत उभयस्य प्र विद्वान्त्, सहस्र-दान उत वा स-दान: ।
यमेन ततं परि-धिं वयिष्यन्न्, अप्सरस: परि जज्ञे वसिष्ठ: । ऋ. ७.३३.१२
त इन् निण्यं हृदयस्य प्र-केतै:, सहस्र-वल्शम् अभि सं चरन्ति ।
यमेन ततं परि-धिं वयन्तो,प्सरस उप सेदुर् वसिष्ठा: । ऋ. ७.३३.९

यहां प्रथम मंत्र में एक वसिष्ठ का उल्लेख है, तो दूसरे में बहु वसिष्ठों का। एक वसिष्ठ यम-नियम-संयम द्वारा विस्तारित परिधि को बुनने का इच्छुक होताहुआ अप्सरा: के परित: उपजता है। तभी आनंदमय स्तर का गुह्य ॐ हृदय की अनेक

ज्ञानरश्मियों द्वारा सहस्रविध होकर वसिष्ठों के रूप में उक्त परिधि को बुनताहुआ अभिसंचरण करने लगता है। वसिष्ठ के लिए 'वयिष्यन्' का और वसिष्ठों के लिए 'वयन्तः' का प्रयोग करके यहां यह भी संकेत कर दिया गया है कि प्रथम परिधि तो विज्ञानमय कोश की 'जायमान' अवस्था में ब्रह्म-रेतस् का दान है जब कि दूसरी परिधि मनोमय कोश की 'जात' अवस्था है जिसमें वह 'सहस्र-दान' हो गया है। पूर्व-मंत्र में इन दो अवस्थाओं को क्रमशः 'स-दान' और 'सहस्र-दान' कहा गया है।

इन दोनों का जानकार एक तीसरा (आनंदमय आत्मा) है। इसी को एक अन्य मंत्र में विद्युज्ज्योति बिखेरनेवाले, प्रथम वसिष्ठ के जन्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है; उसे विज्ञानमयकोशीय मित्र-वरुण देखते हैं। वसिष्ठ का यह *अ-ग* (गतिहीन) रूप है। इसके अतिरिक्त, इसका अन्य रूप तब प्रादूर्भूत होता है जब उसे प्र-जाएं सर्वत्र ले जाती हैं। 'अ-ग' का विस्तार *(स्त्यान)* करने के कारण, यह वसिष्ठ का *अगस्त्य* नामक दूसरा रूप है। यही प्रसारात्मक अग-स्त्य, प्रकारांतर से, वसिष्ठों के बहुत्व में प्रकट है।

पुरूरवाः वसिष्ठ : वसिष्ठ के उक्त स-दान और सहस्र-दान रूप एक अप्सराः से जुड़ेहुए हैं। यह अप्सराः वही उर्वशी है जिसकी चर्चा पहले पुरूरवाः के संबंध में हो चुकी है। पुरूरवाः अपने निम्नतम रूप में प्राणमय स्तर का वह जीव है जो अनेक इच्छाओं, भावनाओं, वासनाओं, आदि के शब्द बोलनेवाला (=बहु-प्रलापी) है। उसे अपनी साधना द्वारा 'वसिष्ठ पुरूरवाः' होना है। इसके लिए पहले उसे इडा का पुत्र *(ऐड)* बनना होगा। इडा का आरंभ 'पुरोहित' (आज्ञाचक्र में स्थित) अग्नि (आत्मा) के 'ईडन' (ध्यान) से होता है।[३७५] यह ईडन, पराक् और अर्वाक् गति के भेद से, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश तक, प्रत्येक कोश में द्विविध होता है। एक रूप में वह *इड* है और दूसरे रूप में *इडा* है। इस दृष्टि से, उक्त चारों कोशों में इडा अष्टा-विधा होती है।[३७६] 'ईडन' का एक अन्य नाम *मनन* है। मनन द्वारा जीव 'मनु' बनता है। अतः इडा को 'मानवी' (मनु की पुत्री) भी कहा जाता है।[२६३] निरंतर गतिशील होने से वह 'गौ' कहलाती है।[३६७] आनंदमय कोश में पहुंचकर अपनी द्विविध गति को छोड़ देनेवाली वह गौ सोम (आनंद) को प्राप्त करने की साधन *(सोमक्रयणी)* कही जाती है।[३७८] पांच कोशों के संदर्भ से, यह इडा का *पंचावत्त* रूप है।[३७९] यही इडा का ज्ञातव्य *धेनु* रूप है।[३८०] इस रूप में इडा स्त्री है जो, सोम के पुत्र, बुध (सोमजन्य बोध) के समागम से, जीव का *ऐड पुरूरवाः* रूपांतर (जन्म) प्रस्तुत करती है।

ऐड पुरूरवाः उर्वशी (ब्राह्मी वाक्) को प्राप्त करने का अधिकारी होता

है। इस प्रकार पुरूरवा: अन्तत: इडा और उर्वशी, दोनों से संयुक्त हो जाता है। इस तथ्य की झलक ऋग्वेद के निम्न लिखित प्रकरण से भली भांति मिलती है,

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्, नदीभिर् उर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्र-भृथस्यायो:।
सिषक्तु न उर्जव्यस्य पुष्टे। ऋ. ५.४१.१९-२०

मनुष्य के परिपूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करनेवाली को 'यूथ की माता' इडा कहा जाए अथ वा नदियों से युक्त उर्वशी? या बृहद्दिवा उर्वशी को *ऊर्जव्य* व्यक्तित्व की पुष्टि के लिए उत्तरदायी माना जाए? ये प्रश्न इस मंत्र में उठाए गए हैं। बात यह है कि एक ओर तो मननशील जीव (मनु) अपने मनन अथ वा ईडन रूप पाकयज्ञ* द्वारा क्रमश: इडा का पोषण करताहुआ उक्त 'ऐड पुरूरवा:' *(प्र-भृथ आयु)* व्यक्तित्व को विकसित करके इडा को *पाकयज्ञिया*[२६२] अथ वा पाकयज्ञ[२६१] बनारहा है। दूसरी ओर ब्राह्मी वाक् भी अवतरित होतीहुई 'ऐड पुरूरवा:' की ओर आकर्षित होती है। इडा की गति ऊर्ध्वमुखी है और उर्वशी की अधोमुखी। इडा पुरूरवा: को अन्नमय कोश से क्रमश: उठातीहुई, आनंदमय कोश में सोम के संपर्क से उसे 'ऐड' रूप देती है। साथ ही, पुराणों में 'नारायण की सुता' कहलानेवाली उर्वशी पर ब्रह्म से अवतीर्ण होतीहुई ऐड पुरूरवा: पर आसक्त होकर उसके साथ मनुष्य के व्यक्तित्व के मर्त्य स्तर (मनोमय, आदि कोश-त्रय) पर आती है। इस घटना के परिणामस्वरूप मानव के व्यक्तित्व का जो रूपांतर होता है उसे *आयु* (उर्वशी-पुरूरवा: का पुत्र) कहा गया है। मनु पुरूरवा: अथ वा ऐड पुरूरवा: व्यक्तित्व ईडन-मनन के उत्तरोत्तर ऊर्ध्व विकास का परिणाम है, जब कि 'आयु' उस व्यक्तित्व द्वारा उर्वशी से संयोग का अर्जित फल है। प्रथम आध्यात्मिक विकास के आरोह-क्रम का प्रतीक है, तो द्वितीय, उसकी आरोह-प्रक्रिया से प्रेरित, अवरोहण करनेवाली चेतना-समृद्धि का सूचक है। यही वसिष्ठ का अपने 'स-दान' (वसिष्ठ) और 'सहस्र-दान' (वसिष्ठों) रूपों में सर्वत्र निवास करनेवाला ऋषित्व है।

इस तरह, इडा और उर्वशी मिलकर मनुष्य के व्यक्तित्व के उस वैदिक आदर्श रूप को प्रस्तुत करती हैं जिसे ऊपर *प्र-भृथ आयु* कहा गया है। 'आयु' का 'प्र-भरण' दोनों ओर से होता है। जीव को प्राप्त अंगिरसों, वसुओं, रुद्रों, आदित्यों, आदि को 'विश्व' देवों के गण[३८१] में परिणत करके, इडा अपने आरोह-अवरोह क्रम

* वेद की दृष्टि से मनुष्य के व्यक्तित्व-रूप गृह को मेधा-संपन्न करना गृह-मेध है। उसे ही पाक-यज्ञ कहा जाता है।

से मनुष्य के व्यक्तित्व को उत्तरोत्तर 'प्र-भृथ आयु' बनाती चलती है। मनन-जन्य इस गण के संदर्भ से इडा को 'यूथ की माता' कहा गया है। इडा के इस ईडन–मनन के उत्तर में, मानो, उर्वशी पुरूरवा: की ओर अधिकाधिक अवतीर्ण होती जाती है। उर्वशी आप: या नदियों (शुद्ध प्राणों) के साथ आती है। उसके इस रूप को *बृहद्दिवा उर्वशी, बृहद्दिवा माता, बृहद्दिवा सरस्वती* और *बृहद्दिवा रोदसी* कहा जाता है।[३८२] इन रूपों से संबंधित 'विश्व' देवों के लिए भी *बृहद्दिवा:* विशेषण प्रयुक्त होता है। वे *धृत-व्रत क्षत्रिय, यज्ञ-निष्कृत* और *अध्वरों के अभि-श्री:* हैं। इनके द्वारा होनेवाली आप:-सृष्टि अहंकार-रूप वृत्र के वध के लिए आवश्यक है,

धृत-व्रता: क्षत्रिया यज्ञ-निष्कृतो, बृहद्-दिवा अध्वराणाम् अभि-श्रिय:।
अग्नि-होतार ऋत-सापो अ-द्रुहो,पो असृजन्न् अनु वृत्र-तूर्ये। ऋ. १०.६६.८

वसिष्ठ और बृहद्दिवा: : इस मंत्र में उक्त 'आप:' से तात्पर्य *दिव्य आप:* से है। उन्हें आद्या सृष्टि माना गया है।[३८३] दिव्य आप: दिव्य प्राण हैं। अथर्ववेदीय प्राणसूक्त (११.४) के अनुसार ये व्यक्ति में जहां, एक दृष्टि से गर्भ-वत् युक्त रह सकते हैं वहां वर्षणशील होकर आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानुषी भेषजों के रूप में भी प्रकट हो सकते हैं। प्रथम रूप में वे बृहत् *ऊँ वाक्* हैं जो एक रूप में सरस्वती है और दूसरे रूप में असुर्या नदी है। पर वसिष्ठ से आशा की जाती है कि वह उसके सरस्वती रूप को महत्त्व दे।

बृहद् उ गायिषे वचोसुर्या नदीनाम्।
सरस्वतीम् इन् महया सु-वृक्तिभि: स्तोमैर् वसिष्ठ! रोदसी। ऋ. ७.९६.१

पर-ब्रह्म-रूप *बृहद् ऊँ* से प्रादुर्भूत सरस्वती पूर्वोक्त *बृहद्दिवा माता* अथ वा *बृहद्दिवा सरस्वती* है। वही अपने असुर्या रूप से युक्त होने पर द्विवचनांत 'रोदसी' नाम ग्रहण करती है। सरस्वती का कृपापात्र वसिष्ठ लघु ऊँ (आत्मा) है जो ऋत के दो द्वारों को व्याप्त करता है।[३१८] ऋत के ये दो द्वार हैं (१) शं और स्विष्ट वाला आरोहण, और (२) दुरिष्ट अथ वा असुर का विनाशक अवरोहण। इनके अधिपति क्रमश: मित्र और वरुण बताए गए हैं।* अत: वसिष्ठ को मित्र-वरुण के 'समानं रेत:' से उत्पन्न *(मैत्रावरुणि)* माना गया है।

अपने असुर्या रूप में सरस्वती को एक लौह नगरी *(आयसी: पू:)* कल्पित किया गया है। वह एक *सिन्धु* है जो अंतर्मुखी प्राणों को बाधित करतीहुई चलती है[३८४] जब कि अपने अन्य *(बृहद्दिवा)* रूप में सरस्वती आध्यात्मिक धनों का बोध

* इस विषय की चर्चा इसी अध्याय में ऊपर आ चुकी है।

करातीहुई मनुष्य के व्यक्तित्व *(नाहुष)* के लिए आनंद *(घृतं पयः)* का दोहन करती है।[३८४] वह, निस्संदेह, योग-युक्त व्यक्ति के हिरण्यय-कोश रूप समुद्र से प्रवाहित होनेवाली चेतना है। इसलिए उसे हिरण्ययी अथ वा *हिरण्य-वर्तनि सिंधु*[३८५] और *हिरण्य-वर्तनि सरस्वती* [३८६] कहा जाता है। चेतानामयी सरस्वती के साथ ही ऋत के दो द्वार सुसंगत हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, सप्त सिंधुओं द्वारा सिंधु-सरस्वती को पार करके इंद्र निन्यानवें* नदियों तक पहुंचता है।[३८७] यह सिंधु वस्तुतः उक्त समुद्र से उद्भूत, मनुष्य की महत् बुद्धि है। अहंकार, मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां सप्त सिंधु हैं। इनके माध्यम से आत्मा की पहुंच मनुष्य के व्यक्तित्व के निन्यानवें चेतना-प्रवाहों** तक होती है। सप्त सिंधुओं के दो संस्करण और हैं, (१) अहंकार, मन और पांच प्राण, और (२) अहंकार, मन और पांच कर्मेन्द्रियां। ये तीन सप्तक, क्रमशः सिंधुओं के अग्र, मध्य और बुध्न (तल) हैं जब कि पूर्वोक्त समुद्र को उनका अंत माना जा सकता है।[३८८] सप्त सिंधुओं के उक्त तीन सप्तकों को वेद में *त्रि-षप्ताः* अथ वा *सप्त-सप्त त्रेधा* प्रवाहित होनेवाले आपः के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[३८९] उनका स्रोत त्रि-सप्त गिरियों की सानु-संहिता है।[३९०] इसका तात्पर्य है कि मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोषों के उक्त तीनों चेतना-सप्तक विज्ञानमय-कोश रूप सानु से संहित होकर कार्यरत होते हैं। ध्यान के समय ये सब चेतना-प्रवाह ऊर्ध्वमुख होकर विज्ञानमय चेतना-सिंधु में एकत्र होते हैं और हिरण्यय कोश से *हिरण्ययी युवती सिंधु* भी उसी में आती-जाती है।[३९१] इस प्रकार, हिरण्यय कोश से लेकर अन्नमय कोश तक के चेतना-प्रवाह का अभेद हो जाता है। वैयक्तिक (अपर) और अतिवैयक्तिक (पर) स्तरों पर ये परस्पर सुसंबद्ध हो जाते हैं और तब एक ही वस्तृ-तम 'वसिष्ठ ऋषि' प्राण (आत्मा) 'मनु-पुरूरवाः सु-कृत्' बन जाता है जिसके लिए सुकृत्-तर अग्नि आंतरिक द्यौ को अनाहत नाद से शब्दायमान कर देता है।[३९२] यह संभव होता है, अंततोगत्वा, पूर्वोक्त आरोहण-अवरोहण की द्विविध प्रक्रिया द्वारा। ये ही ऋत के वे दो द्वार हैं जिनको वसिष्ठ व्याप्त करता है।

भेद और सिंधु : इस प्रक्रिया के अभाव में, अतिवैयक्तिक और वैयक्तिक स्तरों के बीच अंतर रहता है। यह अंतर भेद नामक असुर है। इसका वध किए बिना आत्म-कल्याण संभव नहीं है। जब तक भेद है तब तक आत्मा *(सु-दाः)* को दस

* इस विषय की चर्चा इसी अध्याय में ऊपर आ चुकी है।

** मेरुदण्ड के मूलाधार से लेकर शीर्षस्थानीय सहस्रार चक्र तक कुल ३३ केंद्र हैं। इनमें से प्रत्येक से इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति प्रवाहित होती हैं। इस प्रकार ९९ प्रवाह होते हैं।

शत्रु-राजाओं से युद्ध करना पड़ता है। इस युद्ध को प्रायः एक ऐतिहासिक घटना माना गया है। पर यदि ऐसा होता तो इस युद्ध के विषय में उन प्रश्नों का कोई प्रयोजन नहीं होता जो निम्न लिखित ऋक् में किए गए हैं।

एवेन् नु कं सिंधुम् एभिस् ततारेवेन् नु कं भेदम् एभिर् जघान।

एवेन् नु कं दाशराज्ञे सु-दासं, प्रावद् इंद्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः। ऋ. ७.३३.३

यहां *कं सिंधुं, कं भेदं* और *कं सु-दासं* पूछकर संकेत किया गया है कि दाशराज्ञ की घटनाओं के ये तीनों आधार रहस्यमय हैं। इनमें से, यदि इस तथाकथित ऐतिहासिक युद्ध के मुख्य नायक, सु-दाः को लें तो पता चलेगा कि वह कोई शरीरवान् मनुष्य नहीं था। अन्यत्र भी प्रश्न है 'किस सु-दाः के लिए इडाओं के साथ आपः की वृष्टियां हुईं'?[३९३] हम देख चुके हैं कि इडा ईडन-जन्य आरोहण से प्रवृद्ध चेतना है, और आपः हिरण्यय कोश से अवरोहण करनेवाले शुद्ध प्राण हैं। अतः जिस सु-दाः के लिए इडाओं सहित आपः की वृष्टियां होती हैं वह, निस्संदेह, साधनापरायण जीव होना चाहिए। आरोहण-अवरोहण के आधार पर जिन देवमिथुनों की कल्पना हुई है[३९४] उनके द्विविध प्रवाह से सु-दाः सुदास्-तर होता जाता है।[३९५] ऐसा ही एक मिथुन इंद्र-वरुण का है। यह पूर्वोक्त भेद को मिटाकर सु-दाः की रक्षा करनेवाला है।[३२७] सु-दाः वस्तुतः इंद्र (आत्मा) ही है।[३९६] पर इंद्र के सु-दाः होने के लिए यह आवश्यक है कि यमुना (यम-नियम-संयमधारा) और तृत्सु (शत्रुनाशक प्राण) इसकी रक्षा करें और भेद का विनाश करें।[३९७] इस सु-दाः के लिए परमेश्वर (इंद्र) शत्रुओं का संहार करता है।[३९८] परमेश्वर से प्रेरित तृत्सु, आपः के समान, नीचे को दौड़ते हैं और इंद्र सु-दाः के लिए 'विश्व भोजनों' को प्रदान करता है।[३९९]

ये अधोगामी शत्रुनाशक प्राण जब विस्तीर्ण जलप्लावनों का रूप धारण कर लेते हैं तो परमेश्वर (इंद्र) ही सु-दाः के लिए उन्हें सु-पार बनाता है और इस प्रकार जीव के संभावित शाप को साधक सिंधुओं की निंदाओं में परिणत कर देता है।[४००] ये प्राण ही वे पूर्वोक्त सिंधु हैं जिनके पार करने को एक रहस्यमयी घटना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी तुलना उस जलप्लावन से कर सकते हैं जिसे विष्णु ने अपने मत्स्य अवतार में मनु के लिए सु-पार बनाया था। अतः सु-दाः से सुदास्-तर होनेवाले जीव की तुलना उस मनु से की जा सकती है जिसके उत्तरोत्तर होनेवाले 'मन्व्-अन्तरों' (रूपांतरों) की संख्या पुराणों में चौदह बताई गई है। ये मन्व्-अन्तर 'सद्-धर्म',[४०१] सद्गुण अथ वा सद्बोध के विकासस्तर हैं, यद्यपि ज्योतिष में *मन्व्-अन्तर* श़ब्द का प्रयोग काल-गणना के लिए ही हुआ है। जैन दर्शन में मिथ्यात्व से जिनत्व तक पहुंचनेवाले चौदह गुणस्थान भी मनुष्य के

व्यक्तित्व के विकासस्तर कहे जा सकते हैं। पुराणों में, विष से लेकर अमृत तक परिगणित चौदह रत्न इन गुणस्थानों के परिचायक हैं।

अत: सु-दा: से सुदास्-तर होने का अभिप्राय है जिनत्व, अमृत अथ वा स्वर्ग की ओर अनवरत यात्रा। वास्तव में, यह जीव-रूप वीर सुदा: की एक विजय-यात्रा है। उसे चारों ओर से दस शत्रुओं ने घेर रखा है। इनसे उसकी रक्षा इंद्र-वरुण करते हैं।[४०२] ये दस शत्रु वस्तुत: मनुष्य के मन, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, हाथ, गुदा, शिश्न और पैर हैं। इन्हें दस नरक कहा जाता है।[४०३] ये *अ-यज्यु* जब सु-दा: से युद्ध करना छोड़ देते हैं तब *देवहूतियों* में उनकी *सत्या उप-स्तुति* कही जाती है।[४०४] तब वे दस स्वर्ग हो जाते हैं।[४०५] इन शत्रुओं पर सु-दा: के विजयी होने का अर्थ है वसिष्ठों की सफलता, क्यों कि इंद्र वसिष्ठों के ब्रह्म द्वारा ही दाशराज्ञ में सु-दा: की रक्षा करता है।[४०६]

वसिष्ठ:* और *वसिष्ठा: : अत: दाशराज्ञ में वसिष्ठों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये वसिष्ठ एक अतिमानसिक वसिष्ठ के वे अनेक रूपांतर हैं जो व्यक्ति के मानसिक स्तर पर प्रकट होते हैं। सु-दा: के शत्रु भी मानसिक स्तर से जुड़ेहुए हैं। अत: शत्रुविनाश का कार्य, निस्संदेह, वे ही करेंगे। पर वे इंद्र की सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकते। अतिमानसिक 'एक' वसिष्ठ ऋषि (आत्मा) ही इंद्र (परमेश्वर) का प्रत्यक्ष कर सकता है। पर *वसिष्ठा:* अन्न, प्राण, मन और विज्ञान रूप ब्रह्मों का उपार्जन क्रमश: अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय स्तरों पर ही कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप स्वयं इंद्र वसिष्ठों का वरण करके सु-दा: की रक्षा करता है।[४०७] पर इस प्रसंग में वसिष्ठ कहां आता है?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए आइए ऋ ७.३३ सूक्त पर एक सरसरी दृष्टि डालें। इसकी कुल चौदह ऋचें ऋषि और देवता की दृष्टि से इस प्रकार विभक्त हैं,

ऋचें	*ऋषि*	*देवता*
१-९	वसिष्ठ: (मैत्रावरुणि)	वसिष्ठा:/इंद्र:
१०-१४	वसिष्ठा:	वसिष्ठ:

इस सूक्त की आदिम दो ऋचों में वसिष्ठ, इंद्र और वसिष्ठों के उल्लेख हैं। प्रथमा ऋक् में वसिष्ठों के साथ, वसिष्ठ का आत्म-परिचय है, तो दूसरी ऋक् में इंद्र और वसिष्ठों के साथ, वसिष्ठ की चर्चा है। वसिष्ठों के वर्णन से सूक्त आरंभ होता है। वसिष्ठों के लिए *श्वित्यञ्चो दक्षिणतस्-कपर्दा धियं-जिन्वास:* शब्दों का प्रयोग है। इसकी तुलना *श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्त:*[४०२] से करने से स्पष्ट

हो जाता है कि वसिष्ठों की सबसे बड़ी विशेषता धी-संपन्न होना है और दूसरी विशेषता श्वेतिमा अथ वा धवलता है। तीसरी विशेषता उनका कपर्दी होना है। *दक्षिणतस्-कपर्दा:* का अर्थ प्राय: 'दाहिनी ओर चोटी अथ वा जटा धारण करनेवाले' किया जाता है। पर *कपर्दिन:* का अर्थ 'कौड़ी धारण करनेवाले' अधिक उपयुक्त है। प्राचीन काल में कौड़ी एक सिक्का थी। 'पैसेवाला' का अर्थ आज धनवान् होता है। वैसे ही कभी 'कौड़ीवाला' का अर्थ धनवान् होता होगा। *दक्षिणत:* दैव्य दक्षता की ओर संकेत करता है।[४०८] इसी दृष्टि से दक्षिण हस्त और दक्षिणा दिशा को कार्यदक्षता का द्योतक माना गया है। उक्त प्रसंग में, कौड़ी वह आध्यात्मिक दक्षता-धन हो सकती है जो वस्तुत: धी और धवलता समझी जाती है। दूसरे शब्दों में, बुद्धि और निर्मलता से उत्पन्न होनेवाली कार्यदक्षता वसिष्ठों की विशेषता है।

प्रश्न हो सकता है कि वसिष्ठों की अनेकता में 'एक' *वसिष्ठ:* की श्रेष्ठता का स्थान कहां है? इसका उत्तर ऋक् के अवशिष्ट अंश में दिया गया है। वसिष्ठ स्वयं कहता है, 'वसिष्ठ मुझसे दूर नहीं जा सकते', *न मे दूराद् अवितवे वसिष्ठा:।* 'दक्षता, आदि उपबृंहण (बर्हि) द्वारा ऊपर उठतेहुए मैं स्वयं ही तो बोलता हूं इन नरों से', *उत् तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नॄन्।* तात्पर्य यह है कि वसिष्ठों में उत्तरोत्तर बढ़तीहुई धवलता, दक्षता, आदि के रूप में 'एक' *वसिष्ठ:* की ही तो अभिव्यक्ति होरही है।

आगे फिर दूसरी ऋक् में वसिष्ठ स्वयं ही वसिष्ठों की कार्यदक्षता का वर्णन करतेहुए कहता है कि 'वे इंद्र (परमेश्वर) को, अभिषुत सोम द्वारा, बड़ी दूर से ले आए हैं,' *दूराद् इन्द्रम् अनयन्न् आ सुतेन।* अभिषुत सोम *पाश-द्युम्न वायत** साधक का वह भक्तिरस है जिसे वह अपनी साधना द्वारा प्रसूत करता है। इसी के हेतु तो इंद्र ने सुदूर हिरण्यय कोश—ज्योतिर्मंडित स्वर्ग से नीचे आकर वसिष्ठों (मनोमय कोश से अन्नमय कोश तक के प्राणों) का वरण किया है, *सोमात् सुताद् इन्द्रोवृणीता वसिष्ठान्।* तभी तो, वसिष्ठों ने जो अन्न, प्राण, मन: और विज्ञान रूप ब्रह्म उत्पन्न किए उनके द्वारा इंद्र ने सु-दा: की दाशराज्ञ में रक्षा की, ऋक् ३। वसिष्ठों (पितृ-प्राणों) का यह ब्रह्मरव ही था जिसके कारण एक ओर तो इंद्र (आत्मा) में बल का आधान हुआ और उसकी इंद्रियां *(अक्ष)* व्यय नहीं हुई, और दूसरी ओर वे (वसिष्ठ) स्वयं अहिंसित रहे, ऋक् ४। यह तभी संभव हो सका जब

* जो जीव समाधि और व्युत्थान के विकल्पों द्वारा क्रमश: योगयुक्त (यत) और योग-रहित (अ-यत) होताहुआ अपने पाशों को प्रदीप्त कर लेता है उसका व्यक्तित्व *वायत पाश-द्युम्न* होता है।

वसिष्ठ और वसिष्ठों के बीच भेद नष्ट हो गया और, एक ओर तो, दाशराज्ञ में घिरेहुए वसिष्ठों ने याचना करतेहुए ध्यान किया और, दूसरी ओर, वसिष्ठ ने अपने स्तर पर स्तवन किया। इंद्र ने उसे सुनकर शत्रुहन्ताओं *(तृत्सुओं)* को *उरु ऊँ लोक* प्रदान किया, ऋक् ५। अद्‌भुत परिवर्तन हो गया। पहले *भरत* (प्राण-विशेष) सीमित और अविकसित थे क्यों कि वे ऊर्ध्वगामिनी उन्मनी वाक् *(गौ)* के जन नहीं थे। पर अब, जब वसिष्ठ उनका अग्रगन्ता हुआ तब तो वे शत्रुनाशक *(तृत्सवः)* हो गए और उनकी *विशः* (वसुओं, रुद्रों आदित्यों, आदि) का सुविस्तार हो गया, ऋक् ६।

विशः के विस्तार का स्पष्टीकरण करतेहुए कहा गया है कि वे तीनों अब 'आर्य ज्योतिर्-अग्र प्र-जाः' बन गए हैं क्यों कि वे भुवनों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण देहों) में क्रमशः रेतः (कायाग्नि, दर्शनाग्नि और ज्ञानाग्नि) का आदान करने लगे हैं और इस प्रकार उनके त्रिविध तेज प्रथमा उषा (ब्राह्मी वाक्) का स्वागत करने लगे हैं। इन सबको वसिष्ठ जानते हैं, ऋक् ७। यह सब वसिष्ठों के उत्तरोत्तर विकास का परिणाम है। अतः कहा है कि हे वसिष्ठो! तुम लोग जब विकसित होते हो तो इन(प्रजाओं)की ज्योति सूर्य-समान, महिमा समुद्र-सदृश गहरी, और वेग वात-तुल्य होता है। तुम्हारे स्तोम का अनुसरण अन्य कोई नहीं कर सकता, ऋक् ८। स्तोम वीरजनन-प्रक्रिया का नाम है।[४०९] वसिष्ठों के स्तोम का प्रथम परिणाम तो यह हुआ कि अब हृदय (हिरण्यय कोश) में निहित तत्त्व को सहस्र शाखाओं वाला करके, प्रज्ञापकों द्वारा *(प्र-केतैः)* वे स्वयं ही सर्वत्र अभिसंचरण करने लगे हैं। और फिर यम-नियम-संयम द्वारा फैलाई गई परिधि (मर्यादा) को सुदृढ़ करतेहुए, अप्सराः से अपना द्वितीय जन्म या रूपान्तरण करके स्थित हो गए हैं, अर्थात्, उनमें समाधि की स्थिरता आ गई है। इसके फलस्वरूप, विज्ञानमयकोश-स्थ मित्र-वरुण ने चारों ओर ज्योति को बिखेरतेहुए हिरण्यय-कोशीय वसिष्ठ को देखा। यह वसिष्ठ का प्रथम जन्म है; *अ-ग* है। यह तब अग-स्त्य हो जाता है जब रूपांतरितहुए वसिष्ठ *(विशः)* पुनः सक्रिय होकर उस 'अ-ग' वसिष्ठ को चारों ओर ले जाते हैं। अतः अग-स्त्य को रूपांतरित और सक्रिय वसिष्ठों की समष्टि कहा जा सकता है।

'विशः' वसिष्ठ 'विश्व देव' कहे जाते हैं। अपने इस स्वरूप और परिवेश से पूर्व वे 'सर्व देव' कहे जाते थे। सर्व देवों को समेटकर साधक जब उन्हें अन्तर्मुख करता है तो वे विश्व 'देवासः' हो जाते हैं और आदित्य, रुद्र, वसु, अंगिराः, आदि गुणों में विभक्त किए जा सकते हैं। पर अन्ततः हिरण्यय कोश (पुष्कर) में पहुंचकर वे विश्व 'देवाः' हो जाते हैं। तब वे वहां उस ब्रह्मवीर्य-बिन्दु को ग्रहण करते हैं जिसे

पिता वसिष्ठ ऋषि (आत्मा) का प्रथम जन्म माना गया है। और इसी स्थिति में वे 'वसिष्ठा:' भी कहे जाते हैं।

वसिष्ठपुत्र और विश्वामित्र : वसिष्ठों के 'विश्व देव' होने का अभिप्राय है उनके पूर्व रूप का घात और नवीन रूप का उदय। पौराणिक आख्यान में उनका घात होता है। इस रहस्य को समझने के लिए 'वसिष्ठयज्ञ' को समझना होगा। इसका अन्य नाम 'दाक्षायण यज्ञ' है।[३७२] इस यज्ञ की रक्षा मध्य से वसिष्ठ, दक्षिण से वामदेव, उत्तर से भरद्वाज और सब दिशाओं से विश्वामित्र करता है।[४१०] *दाक्षायण* का अभिप्राय है मनुष्य के व्यक्तित्व को सर्वतोभावेन दक्षता से संपन्न करना। यदि व्यक्तित्व दक्षताहीन है तो समझना चाहिए कि उसके पूर्ववर्ती सह-ज प्राण अपनी जन्मजात दक्षता को खो चुके हैं। वसिष्ठ प्राणों को अपनी दक्षता मध्यवर्ती वसिष्ठ प्राण से मिली थी जिसके कि वे पुत्र (रूपांतर) थे। सब दिशाओं से रक्षा करनेवाला विश्वामित्र (प्राण-विशेष) उनकी दक्षताहीनता को क्षमा नहीं कर सकता। अत: वह उनका घात कर देता है। यह किन्हीं मनुष्यों का वध नहीं है अपि तु अ-दक्ष प्राणों का परिहार है। इसके द्वारा उन पूर्व वसिष्ठों के स्थान पर नव पुत्रों (प्राणों) को पैदा करने के लिए वसिष्ठ निम्न लिखित उपाय करता है।

१ *त्रिवृत् स्तोम*[४११] का प्रत्यक्षीकरण करके उसके द्वारा यजन। इच्छा, विचारणा और क्रिया का परिष्कार *त्रिवृत् स्तोम* है और उसे आचरण में व्यक्त करना यजन है।

२ जनित्र[४१२] नामक साम-द्वय का साक्षात्कार, अर्थात्, मानसिक और शारीरिक स्तर पर शक्ति-समन्वय।

३ इन्द्र-क्रतु,[४१३] अर्थात्, परमात्मा के आदेशानुसार आचरण।

इन उपायों से सब वसिष्ठ पुन: सर्वत्र फैल जाते हैं और मनुष्य का व्यक्तित्व पुन: 'वसिष्ठयज्ञ' अथ वा 'दाक्षायण यज्ञ' में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार, वसिष्ठ के पुत्रों की हत्या, वस्तुत: अ-दक्ष प्राणों के परिहार का प्रतीक है। दक्ष प्राण 'मरुत' बन जाते हैं जो वृत्र के वध में इंद्र के समर्थ सहायक माने गए हैं। *ऋग्वेद* के तृतीय मंडल में, विश्वामित्र वृत्रहन्ता, धनंजय इंद्र की निरंतर पुकार करताहुआ,[४१३] उन मरुतों[४१५] को याद करता है जिनके द्वारा इंद्र (परमेश्वर) ने अतीत में वृत्र के मर्मस्थल को जानकर उस पर प्रहार किया था। अपने सखाओं (मरुतों) से युक्त इंद्र को उस समय गंभीर सिंधु भी रोक नहीं सका था।[४१६] इस सिंधु की ओर लक्ष्य करके वसिष्ठ पूछता है, *एवेन् नु कं सिंधुम् एभिस् ततार,* ऋक् ३। निस्संदेह, यह वही विज्ञानमयकोशीय चेतना-सिंधु है जिसे

हिरण्ययकोशीय स्वर्ग से अवतीर्णहुआ परमेश्वर–इंद्र(प्राण) पार करता है। इस पर ही यह सिंधु पूर्वोक्त सात सिंधुओं के त्रिविध सप्तकों में उमड़ पड़ता है जिनके द्वारा इंद्र पूर्वोक्त निन्यानवें चेतना-प्रवाहों में पहुंचकर वृत्र–अहंकार का वध (व्यापक आवरण की समाप्ति) करता है।

यह सब होता है 'विश्वामित्र' प्राण के यत्न से। वह व्यक्तित्व के भरण-पोषण करनेवाले *भरतों* (प्राणों) को भयंकर बाढ़ वाली दो नदियों के पार ले जाता है। इन नदियों में से एक, *वि-पाशा* नदी व्यक्ति की अहंता है जो किसी भी पाश से बंधना नहीं चाहती। दूसरी *शुतुद्री* नदी आशुगामिनी और तोड़-फोड़ करतीहुई वह चेतना है जिसे मन कहते हैं। यदि भरत वृत्र का वध चाहते हैं तो उन्हें बाढ़ से उफनाती इन दोनों नदियों को पार करना ही पड़ेगा। *भरत,* वस्तुत:, मनुष्य के व्यक्तित्व की सहज शक्तियां *(इन्स्टिक्ट्स्)* हैं, अंतर्हित ईं नामक प्राणोदक के रूपांतर हैं। पालक होने से ये 'पिता' भी कहलाते हैं। ये भरत मूलत: मर्त, मर्य अथ वा मर्त्य हैं और मरुत, विभ्वा, वाज, ऋभु, आदि कहलानेवाले प्राण होते हैं। उक्त दो उफनाती नदियों को पार करके इन्हें सुमतियुक्त अ-मृत होना है।*

अंततोगत्वा विश्वामित्र भरतों को नदी-पार कराने, अर्थात्, सुमति प्राप्त कराने में सफल होता है।[४१७] इस प्रसंग में, वह न केवल विपाश-शुतुद्री से निष्पाप और अदुष्कृत रूप में गतिशील होने के लिए निवेदन करता है, अपि तु दुष्कृत हुए समस्त आप: (वसिष्ठों) से आसुरी दासता के जुओं से मुक्त होने को कहता है। प्रकारांतर से, प्राणों का यह रूपांतर होना वसिष्ठ के पुत्रों का वध कहलाता है। इसके फलस्वरूप ही इंद्र (जीव) अपने शत्रुओं का दमन करताहुआ ब्रह्मबल-सम्पन्न *(ब्रह्म-जूत:)* और परिवृद्ध होता है,[४१८] और मनुष्य के व्यक्तित्व के अमर्त्य और मर्त्य स्तरों की क्रमश: दैवी और मानुषी शक्तियों का नेतृत्व ग्रहण करता है।[४१९] इस मनु (मननशील जीव) के लिए बृहत् रण में प्रकाश देने हेतु इंद्र (परमेश्वर) से एक ज्योति प्राप्त होती है।[४२०] तभी पूर्वोक्त मर्त, मर्य और मर्त्य प्राण इंद्र (जीव) के गण अथ वा सत्त्वसंपन्न सखा कहलानेवाले 'मरुत' बनते हैं।[४२१] इनकी सहायता से वह अंधकार में छिपे सत्यसूर्य को प्राप्त करता है।[४२२] यह अतिमानसिक सत्त्वसंपन्नता वह दक्षता है जिससे रहित होने पर, वसिष्ठ के पुत्रों का परिहार अथ वा रूपांतरण हैं। स्वस्ति के लिए इन्हें ऋषिवत्, पितृवत् (वसिष्ठ-वत्) देवार्चन करने की अर्हता

* यही विश्वामित्र-नदी-संवाद का विषय है।

आवश्यक हो जाता है। दक्षता-रहित होने पर, वे 'वसिष्ठा:' से 'वसिष्ठास:' हो जाते को प्राप्त करना आवश्यक है।[४२३] ये *वसिष्ठास:* वे ही प्राण हैं जिन्हें अन्यत्र *दक्षास: ऋभव:* कहा जाता है। अर्हता प्राप्त करके ऋभु मरुत हो जाते हैं।[४२४]

अभीम् अवन्वन्त् स्व्-अभिष्टिम् ऊतयो,न्तरिक्ष-प्रां तविषीभिर् आ-वृतम्।

इंद्रं दक्षास ऋभवो मद-च्युतं, शत-क्रतुं जवनी सूनृतारुहत्। ऋ. १.५१.२

ये वास्तव में मूलत: वे ही ई नामक उदञ्चनवती आप: अथ वा उदक हैं जो अपने ऊर्ध्व गमन में अंतरिक्ष को परिपूरित करनेवाले बलों से युक्त हैं। ये 'जवनी' वाक् होकर 'सु-अभिष्टि' रूप इंद्र-प्राण तक आरोहण करते हैं। यह तब संभव होता है जब इंद्र(परमेश्वर)–ऊँ की ऊतियां ई का स्वागत करती हैं। तभी इंद्र-प्राण (जीव) अहंकाररहित और शत-क्रतु होता है और उक्त उदक प्राण, 'दक्ष ऋभु' होकर उसे प्राप्त होते हैं। ये प्राण अन्त में पूर्वोक्त 'जवनी सूनृता' वाक् का रूप ग्रहण करते हैं।

इंद्र (जीव) की यह स्थिति ऐसी है जिसमें विश्व देव भी उसे छोड़ देते हैं, पर उसे मरुतों का सख्य प्राप्त हो जाता है।[४२५] और वास्तव में मरुत स्वयं ही वृत्र से लाभान्वित हो जाते हैं क्यों कि अब उनकी संख्या उनंचास से बढ़कर सात-सात के नौ गणों में त्रेसठ हो जाती है।[४२६] आंतरिक विश्व के वे लड़ाकू प्राण *(विश्वा: पृतना:)* एक साथ मिलकर इंद्र को प्रकाशार्थ जनते हैं, उसे एक 'नर' बनाते हैं, वशिष्ठ (वसिष्ठ) बनाते हैं, ओजिष्ठ करते हैं।[४२७] क्यों कि व्रत को धारण करनेवाले वे मरुत जब इंद्र (परमेश्वर) और ई के वर्धन के लिए ओज और ऊतियों द्वारा समाहित हो जाते हैं तो वे वस्तुत: ई और इंद्र को सोम के पान के लिए समस्वरित करते हैं।[४२८]

यहां एक बार फिर ऊँ की ऊतियों के साथ ई का संयोग अथ वा सायुज्य अभिप्रेत है। इसके फलस्वरूप मरुत सुदीप्ति और बल से युक्त होकर और द्वेषरहित होतेहुए, साधक के कान में अनाहतनादीय मंत्र फूंक देते हैं। इस प्रकार साधक स्वयं ही उस परमेश्वर-प्राण को आंतरिक चक्षु से नमन करने लगते हैं। पहिये की नेमि के समान वह उनके चारों ओर परिवेष्टित होता है और निमेषोन्मेष के द्वंद्व से परे होने के कारण *मेष* मात्र कहलाता है।[४२९]

ऊं की ऊतियां और उर्वशियां : परमेश्वर प्राण ही वह ऊं है जिसकी ऊतियों का उल्लेख ऊपर कई बार हो चुका है! ऊतियों को उर्वशियों के रूप में भी कल्पित किया गया है। अतिमानसिक स्तर को ऊति अथ वा उर्वशी एक है। यह एकवचनांत 'उर्वशो' ब्राह्मी वाक् है। अत: पुराणों में उसे 'नारायण की सुता' कहा गया है। पर

वह मानसिक स्तर पर अनेक (उर्वशियां) हो जाती है। पहला स्तर अमर्त्य और 'उपर' आयु का है, तो दूसरा स्तर मर्त्य और 'अपर' आयु का। अमर्त्य और मर्त्य स्तरों के देवों (प्राणों) का आंतरिक जन्म इन दोनों स्तरों से परे परम व्योम (हिरण्यय कोश) में होता है। इस जन्म को अन्यत्र 'गर्भ' कहा गया है। *उपर आयु* (अमर्त्य) का स्वामी 'अर्य' (परमेश्वर) है। मर्त्य प्राणों की उर्वशियों सहित देवों के आंतरिक जन्म के वर्धन में वह समर्थ होता है। इस आंतरिक जन्म को साधक उस प्रकार स्पष्ट रूप से देख लेता है जिस प्रकार शब्दायमान पशुसमूह में से कोई अपने पशुओं को पहचान ले।[४३०]

उर्वशी शब्द की व्युत्पत्ति ऊरू *उशती* से मानी गई है।[४३१] तदनुसार 'उर्वशी' का अर्थ है दो ऊरुओं की कामना करनेवाली। ये ऊरु-द्वय मनुष्य के व्यक्तित्व के 'कारण' देह और 'स्थूल' देह हैं। इन दो देहों के बीच में 'सूक्ष्म' देह है। स्थूल देह को *पेश* कहा जाता है। स्थूल देह का विपरीत होने से, सूक्ष्म देह को, वर्ण-विपर्यय द्वारा *शेप* नाम दिया गया। 'मनुष्य' प्राण, 'शेप' (सूक्ष्म देह) द्वारा, दो ऊरुओं को चाहनेवाली ब्राह्मी वाक् *(उर्वशी)* पर बीज-वपन करते हैं।[४३१]

उर्वशी *शिवतमा सूर्या* है जिस पर शेप के प्रहार से पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म प्राणों का सूक्ष्मतम रूपांतर होता है। वे उसके दस पुत्र हैं। इस स्थिति में, उर्वशी या सूर्या का पति स्वयं आत्मा हो जाता है।[४३२] आत्मा भी अपने दस पुत्रों के साथ ब्राह्मी वाक् में समाहित होनेवाला ग्यारहवां होता है।[४३३] उक्त सूक्ष्मतम रूप में, सारे प्राण विश्व देवों, आपः, मातरिश्वा और धाता में, और अंत में, अद्वैत शक्ति ऊँ देष्ट्री में अंतर्हित हो जाते हैं। तब सारे प्राण ब्राह्मी वाक् और आत्मा, दोनों की शक्तियों (हृदयों) को समन्वित कर सकते हैं।[४३४] उक्त अनेक शक्तियों के विभिन्न वर्गों को सूर्या के सास-ससुर, ननद-देवर, आदि रूपों में कल्पित करके सूर्या को उन सबकी सम्-राज्ञी बनने के लिए कहा गया है।[४३५] *सम्-राज्ञी* का अभिप्राय है इन सबके विविध रूपों में सम्यक् प्रकार से प्रकाशतेहुए, उन्हें समाहित करके, ऊं देष्ट्री में परिणत हो जाना।

६ प्रतीक-परिभाषण की कसौटी

वैदिक प्रतीकों अथ वा परिभाषाओं की व्याख्या का एक नमूना पुरूरवा: और उर्वशी को लेकर पीछे प्रस्तुत किया जा चुका है। इस व्याख्या के आधार पर पुरूरवा:-उर्वशी-सूक्त का जो अनुवाद इस अध्याय में दिया जारहा है वह उस व्याख्या की सार्थकता और उपयोगिता को प्रमाणित करेगा। अनुवाद के पूर्व, पुरूरवा: और उर्वशी के आध्यात्मिक स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। अत: संक्षेप में पहले उसी को प्रस्तुत किया जाता है।

पुरूरवा: और उर्वशी : पुरूरवा: प्राणमय आत्मा या जीव है। वह दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, आदि अनेक व्यापारों में स्वयं को व्यक्त करता है। व्यक्त करने की शक्ति का नाम वाक् है। वह वाक् *परा, पश्यन्ती, मध्यमा* और *वैखरी* नाम से चतुर्विध है। उस वाक् द्वारा आत्मा की जो अभिव्यक्तियां होती हैं उनको *रव* (शब्द) कहा जाता है। प्राणमय आत्मा के वे रव बहुत *(पुरु)* हैं। इसी लिए प्राणमय आत्मा का नाम *पुरूरवा:* (बहुत शब्द करनेवाला) है। उसकी नानारूपात्मक अभिव्यक्ति करनेवाली, उक्त बहिर्मुखी वाक् का लक्ष्य इंद्रिय-सुखों में रमण करना है। अत: उसकी इस वाक् को पुराणों में 'रंभा' नाम दिया गया है। रंभा जीव को बहिर्मुखी रमण करानेवाली है।

जीव के पास यह विकल्प भी है कि वह अंतर्मुखी रमण की कामना करे। बहिर्मुखी इंद्रियसुख के रमण में बहुत्व (पुरुत्व) है–अनेक इच्छाओं, भावनाओं, व्यापारों, अनुभवों, आदि के निरंतर प्रवाह और आवेग हैं। पर अंतर्मुखी रमण में विस्तार (उरुत्व) है, जो आंतरिक होता है। आंतरिक उरुत्व में एक-मात्र सहायक ब्राह्मी शक्ति ही हो सकती है। उसी को ब्राह्मी वाक् अथ वा, पुराणों की तरह, नारायण-सुता भी कह सकते हैं। उरुत्व की कामना करने अथ वा उरुत्व में व्याप्त होने से ब्राह्मी शक्ति को उर्वशी कहते हैं। उर्वशी की प्राप्ति सरल नहीं है। इसके लिए, पुरूरवा: को इंद्र (परमेश्वर) का सहयोगी होना पड़ेगा। इंद्र का प्रमुख काम है वृत्र, आदि असुरों का वध करना। अहंकार, काम, क्रोध, आदि असुरों के साथ युद्धरत इंद्र का सहयोग करते करते एक दिन पुरूरवा: (प्राणमय जीव) इंद्र (परमेश्वर) के दरबार में उर्वशी (ब्राह्मी शक्ति) को देखता है। आंखें चार होती हैं। एक-दूसरे पर आसक्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, नारायण-सुता को पाकर नर (जीव) नारायण से अनुगृहीत हो जाता है।

इस स्थिति में आने के लिए प्राणमय जीव (पुरूरवा:) को बहुत तपस्या

करनी पड़ती है। तपस्या का प्रथम स्तर स्थूल देह है। दूसरा स्तर है सूक्ष्म देह और तीसरा है कारण देह। इन्हीं तीनों स्तरों के संबंध में पुराणों में पुरूरवा: के तीन जन्मों की कल्पना की गई है। १) प्रथम जन्म में पुरूरवा:, ब्रह्म-साधना में रत होने से, ब्राह्मण कहलाता है। उसकी ब्रह्म-साधना का लक्ष्य है राजा होना। २) दूसरे जन्म में, पुरूरवा: मद्र देश का राजा हो जाता है। इसका अर्थ है सूक्ष्म देह का स्वामी होना। पूर्वजन्म (स्थूल देह) की तपस्या के फलस्वरूप वह सूक्ष्म देह (मद्र देश) का राजा तो बनता है पर वह कुरूप होता है। उसकी कुरूपता तप के साथ अभ्यंग (मालिश) करने का परिणाम है। *अभ्यंग* का यौगिक अर्थ है अंग अंग से युक्त रहना। स्थूल-स्तरीय साधना में अंग अंग से रगड़े खाते रहने के कारण साधक को वह दिव्य स्वरूप (सुरूप) नहीं मिल पाता है जो ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक है। अत: अपनी इस कुरूपता को मिटाने के लिए सूक्ष्म-स्तरीय साधना आवश्यक हो जाती है।

इस तपस्या के परिणामस्वरूप ३) पुरूरवा: का जो रूपांतर होता है वह *ऐड* कहलाता है। कारण देह वह प्रतिष्ठानपुर है जिसका राजा ऐड पुरूरवा: है। यही पुरूरवा: का तृतीय जन्म कहा जाता है। यही जीव द्वारा कारण देह की स्वामित्व-प्राप्ति है। इस स्थिति में आने पर ही पुरूरवा: (जीव) असुर-दमन की वह योग्यता अर्जित करता है जो उसे इंद्र-सखा होने, ब्रह्म-सायुज्य पाने, इंद्र के दरबार में उर्वशी का साक्षात्कार करने का गौरव प्रदान करती है। यह समाधि की अवस्था है जहां जीव ब्रह्मवीर्य अथ वा ब्राह्मी शक्ति को प्राप्त करता है। पर पुरूरवा: (जीव) के लिए जो गौरव है वही उर्वशी (ब्राह्मी वाक्) के लिए शाप का कारण बनता है। उर्वशी को पुरूरवा: के साथ नीचे स्थूल-देहरूप मर्त्य लोक में आना पड़ता है, क्यों कि ब्राह्मी शक्ति (उर्वशी) का उपयोग जब तक व्यक्ति के स्थूल-स्तरीय आचरण में नहीं होता तब तक वह अपने व्यक्तित्व को आयु अथ वा विश्वायु नहीं बना सकता है। उर्वशी (ब्राह्मी वाक्) और पुरूरवा: (बहिर्मुखी जीव) के संयोग से ही 'आयु' का जन्म होता है, अर्थात्, वह पूर्णतया *(आ-)* जुड़नेवाला *(-यु)* हो जाता है।

साथ ही उर्वशी (ब्राह्मी वाक्) को स्थूल स्तर पर बांधकर भी नहीं रखा जा सकता है। स्थूल शरीर से उसका संयोग तभी तक रहेगा जब तक साधक अपने ज्ञाननेत्र का उन्मेष और निमेष चलाता रहे। उन्मेष और निमेष वे दो मेष हैं जो उर्वशी के साथ सदा रहेंगे। इन्हीं को दो *उरण* भी कहा जाता है। जब तक ज्ञाननेत्र का निमेषोन्मेष चलता है तब तक अंत:-बाह्य उरुत्व भी चलता है। तब तक जीव का स्थूलदेह-केंद्रित अहंकार भी नहीं रहता है जो, वस्तुत:, उसका नग्न रूप है।

उर्वशी (ब्राह्मी वाक्) पुरूरवा: (स्थूलदेहस्तरीय जीव) के साथ तभी तक रहेगी जब तक उसके दोनों मेष उसके पास हैं और पुरूरवा: (जीव) अपने नग्न रूप में उसे नहीं दिखाई पड़ता है। यदि ये दोनों शर्तें टूटीं तो वह तुरंत जहां से आई थी वहीं चली जाएगी और पुरूरवा: (जीव) को उर्वशी (ब्राह्मी वाक्) का वियोग सहन करना पड़ेगा। इस वियोग के लिए साधक स्वयं उत्तरदायी है। यह उसकी असावधानी का फल है।

वियोग होने पर भी, यदि जीव पुन: साधनारत हो जाए और अपने ऊर्ध्व (देव) मन से ब्राह्मी वाक् की खोज करे तो मनोमय कोश से ऊपर उठकर विज्ञानमय कोश में होताहुआ वह हिरण्यय कोश तक पहुंचता है जिसे ज्योति से आ-वृत स्वर्ग कहा जाता है। यहीं पहुंचकर ब्राह्मी वाक् हिरण्ययी उषा बन जाती है। इसी अवस्था की ओर संकेत करतीहुई वह अपने को *उषाओं की अगुआ-सी* कह सकती है। इस अवस्था में पुन: पहुंचीहुई ब्राह्मी वाक् (उर्वशी) और अन्नमयकोश-वासी जीव (पुरूरवा:) में आकाश-पाताल का अंतर है। इसी को लक्ष्य करके वह *अग्रिया उषा,* अपने को दुष्प्राप्य बतातीहुई, जीव (पुरूरवा:) से अपने घर लौट जाने को कहती है। जीव (पुरूरवा:) यह सुनकर अपनी वियोग-जन्य व्यथा का वर्णन करता है। पर साथ ही वह यह भी कहता है कि यदि वह हिरण्ययकोश-रूप स्वर्ग के *वसु* (हिरण्य) को धारण करतीहुई अपने उसी *अंतर्-गृह* (हिरण्यय कोश) से स्थूलदेह-वासी प्राणमय आत्मा *(श्वशुर*)* को दिव्य अन्न *(वय:)* प्रदान करना चाहती है तो वह अपने उसी गृह (हिरण्यय कोश) को व्याप्त करे जहां वह हिरण्यय वैतस से रात-दिन हिंसित या ताड़ित होती रहती है, अर्थात्, हिरण्यय कोश की चकाचौंध से हर दम आक्रांत होती रहती है, जिससे रात-दिन का अंतर ही नहीं प्रतीत होता है।

यह सुनकर, ब्राह्मी वाक् (उर्वशी) जीव (पुरूरवा:) को, मानो, उस समय की याद दिलाती है जब वे दोनों, नीचे अवतीर्ण होने से पूर्व, हिरण्ययकोशीय स्वर्ग में ही थे। वह कहती है कि वहां तो उस समय एक-मात्र दिन ही था; मनोमय, विज्ञानमय और हिरण्यय कोशों की त्रिलोकी एक-समान आलोकित थी। अत: मैं कह सकती हूं कि उस काल में तुमने मुझे त्रिविध रूप में हिरण्यय वैतस से प्रताड़ित किया था। इस प्रकार मुझ विकल्पहीन *(अ-व्यती)* के लिए तुमने मुझे परिपूर्ण किया था, जिससे मैं तुम्हारे झंडे के नीचे आ गई थी, अर्थात्, तुम्हारी हो गई थी और तुम मेरे तनू (देह, विस्तार) के वीर राजा हो गए थे।

* *श्वस्* धातु से व्युत्पन्न शब्द।

: २ : संवाद-सूक्त [ऋग्वेद १०.९५(.१-१८)]

ऋग्वेदीय १०.९५ सूक्त में पुरूरवा: और उर्वशी का जो संवाद मिलता है उसकी पृष्ठभूमि में विरह-चिंतन है। पुरूरवा: उर्वशी के वियोग में व्यथित होकर अपनी प्रिया की खोज में जो यात्रा करता है वह वस्तुत: योगभ्रष्ट साधक द्वारा असावधानी-वश खोईहुई, ब्राह्मी वाक् को पुन: प्राप्त करने का प्रयास है। उर्वशी को खोजते-खोजते, *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार, पुरूरवा: जिस मानसरोवर-तट पर पहुंचता है वह साधक का अतिमानसिक स्तर का चेतना-सिंधु है। यहां से वह मानसरोवर के बीच तैरतीहुई अनेक हंसिनियों के समूह में एक हंसिनी के रूप में स्थित, उर्वशी को पहचान लेता है और पुकार उठता है, *हये! जाये! घोरे!*। इन तीन संबोधनों द्वारा ब्राह्मी वाक् *(उर्वशी)* के उन स्वरूपों की ओर संकेत किया गया है जो क्रमश: कारण, सूक्ष्म और स्थूल देह के स्तर पर व्यक्त होते हैं। देहवाहक घोड़े *(हय)* का बोध करानेवाले 'हय' शब्द का स्त्री-रूप *हया* है। अत: *हया* का अर्थ है कारण देह से देव-शक्तियों को वहन करके लानेवाली (ब्राह्मी वाक्)। *जाया* रूप में वह सूक्ष्म देह के स्तर पर इच्छाओं, भावनाओं, विचारों, आदि का प्रजनन करनेवाली *(जननी)* होती है। स्थूल देह के स्तर पर, वह स्थूल प्राणों की 'घुर-घुर'-आहट में व्यक्त होनेवाली *घोरा* कही जा सकती है। इस प्रकार, इन तीन संबोधनों द्वारा ब्राह्मी वाक् (उर्वशी) के उन तीन स्वरूपों की ओर संकेत है जिन्हें वह स्वर्ग से अवतीर्ण होतीहुई क्रमश: कारण, सूक्ष्म और स्थूल देह के स्तर पर ग्रहण करती है। ब्राह्मी वाक् की इस अवतारणा के फलस्वरूप जीव *(पुरूरवा:)* के जो विभिन्न रूपांतर होते हैं उनको पुराणों में पुरूरवा:-उर्वशी के आयु, विश्वायु, आदि पुत्रों के रूप में कल्पित किया गया है।

इस पृष्ठभूमि के साथ, इस सूक्त को समझने का यत्न करते समय यह याद रखना होगा कि यहां *यस्य वाक्यं स ऋषि:* का अभिप्राय यह है कि सूक्तकार ने सूक्तगत संवाद को जीव (पुरूरवा:) और ब्राह्मी वाक् (उर्वशी) के कल्पित मुखों में रख दिया है। अत: इस संवाद को किसी हाड़-मांस के विरही और प्रेयसी के प्रेमालाप-रूप में देखने से काम चलनेवाला नहीं है। साधक की अंतर्मुखी दृष्टि से ही सूक्त का प्रतिपाद्य प्राप्तव्य है, केवल शब्दानुवाद से नहीं। इसलिए पुरूरवा: और उर्वशी के पूर्वोक्त विवेचन को कसौटी पर परखने के लिए इस सूक्त का जो अनुवाद आगे दिया जारहा है उसके साथ व्याख्यात्मक विस्तार भी अपरिहार्य है। प्रत्येक ऋक् के अनुवाद के पश्चात् उसका अध्यात्मपरक अनुवाद भी दिया जारहा है। मूल ऋचें यहां संधि-विच्छेद के साथ (*वितृण्ण* रूप में) दी जारही हैं।

ऋक् १ (पुरूरवाः-वचन)

हये! जाये! मनसा तिष्ठ घोरे!, वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।

न नौ मन्त्राः अन्-उद्-इतासः एते, मयस् करन् पर-तरे चन अहन्।

अन्वय : हये! जाये! घोरे! मनसा तिष्ठ, वचांसि मिश्रा नु कृणवावहे। नौ एते मन्त्राः अन्-उत्-इतासः न। पर-तरे अहन् चन मयः करन्।

अर्थ : हे (मेरी) हया, जाया (और) घोरा (उर्वशी)! मन द्वारा तू ठहर जा (ताकि) (अपने) वचनों को मिश्रित तो हम दोनों कर लें। हम दोनों के ये मंत्र बिना अभिव्यक्ति के न (रह जाएं)। पर-तर प्रकाश में तो आनंद को करते हैं।

आध्यात्मिक रूपांतर : हे (मेरी) (देवशक्ति की) वाहिका, प्रजनयित्री (और) नादकर्त्री (ब्राह्मी वाक्)! मन (के माध्यम) से, (मेरे मर्त्य स्तर पर,) तू ठहर जा (ताकि) (एक दूसरे की) अभिव्यक्तियों को मिश्रित तो हम दोनों कर लें। हम दोनों के ये मंत्र बिना अभिव्यक्ति के न (रह जाएं)। अतिमानसिक प्रकाश में तो आनंद को करते हैं।

स्पष्टीकरण : जीव अतिमानसिक स्तर पर स्थित ब्राह्मी वाक् से कहता है, हे मेरे कारण देह की देवशक्तिवाहिका *हया,* हे सूक्ष्म देह में नानाविध प्रजनन करनेवाली *जाया* और हे स्थूल देह के प्राणों की 'घुर-घुर'-आहट में प्रकट होनेवाली *घोरा!* तू मन के माध्यम से मेरे मर्त्य (मनोमय, प्राणमय और अन्नमय) स्तर पर ठहर जा।

अतिमानसिक स्तर पर, आनंदकारी दिन के अवसर पर होनेवाले, हम दोनों के ये मंत्र अनुक्त न रहने पाएं, अर्थात्, ब्राह्मी वाक् के संयोग से जीव का जो मानस बना है उसकी अभिव्यक्ति आचार-विचार में हो जानी चाहिए।

हम दोनों एक दूसरे की अभिव्यक्तियों को मिश्रित कर लें।

ऋक् २ (उर्वशी-वचन)

किम् एता वाचा कृणव तव, अहं प्र अक्रमिषम् उषसाम् अग्रिया-इव।

पुरूरवः! पुनः अस्तम् परा इहि, दुर्-आपना वातः-इव अहम् अस्मि।

अन्वय : तव एता वाचा किम् कृणव? उषसाम् अग्रिया-इव अहम् प्र अक्रमिषम्। पुरूरवः! पुनः अस्तम् परा इहि। अहम् वातः-इव दुः-आपना अस्मि।

अर्थ : तुम्हारी इस बात का अपन दोनों क्या करें? उषाओं में अग्रिया-समान मैं प्र-क्रांत हो चुकी हूं। हे पुरूरवा:! पुनः घर को, परे, तुम चले जाओ। मैं वात-समान दुर्-आप्य हूं।

आध्यात्मिक रूपांतर : तुम्हारी इस अभिव्यक्ति का अपन दोनों क्या करें?

(अवरोहण क्रम में) ज्योतियों में (सर्वप्रथम अवरोहण करनेवाली) प्रथमा ज्योति-जैसी मैं (मर्त्य स्तर से) बहुत ऊपर उठ चुकी हूं। हे जीव! पुन: अपने अन्नमय कोश में तुम पहुंच जाओ। मैं वात-समान दुष्-प्राप्य हो चुकी हूं।

स्पष्टीकरण : ब्राह्मी वाक् जीव को उत्तर देती है, हे जीव! तुम्हारे इस वचन का अपन क्या करें, अर्थात्, अपन दोनों का ही अब इससे कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है।

क्यों कि मैं तो अब उसी प्रकार देश-काल का अतिक्रमण कर गई हूं जिस प्रकार उषाओं में से अग्रभूमि (देश-काल से परे) की ओर जानेवाली (अग्रिया) उषा।

हे अनेक अभिव्यक्तियों वाले जीव! तुम फिर परे, अपने उसी मर्त्यस्तरीय घर को लौट जाओ जहां से तुम ऊर्ध्वमुख होकर इधर आए हो।

क्यों कि मैं तो तुम्हारे लिए उसी तरह दुष्-प्राप्य हो चुकी हूं जैसे वह वायु जो *वात* कहा जाता है और जो अपनी इच्छानुसार जहां चाहता है वहीं चल देता है।

टिप्पणी : *अग्रिया* : यह शब्द *ऋग्वेद* में यहां के अतिरिक्त केवल एक जगह और (ऋ ४.३४.३ में) प्रयुक्त है। वहां कहा गया है कि अतिमानसिक प्र-दिव् से अवतीर्ण होनेवाले यज्ञ को मानसिक (मनुष्वत्) स्तर पर धारण करने पर, आंतरिक बल *(विश्व वाज)* अग्रिय हो जाते हैं। यहां, *अग्रिया* देश-काल से परे, अग्र भूमि पर प्रकट होनेवाली, वह आंतरिक ज्योति है जिसे *प्रथमा उषा* कहा जाता है, ऋ १.११३.८; ७.७८.१; १.१२४.२; १.१२३.२। आरोहण-क्रम में, यह अनेक ज्योतियों, बलों, आदि की परिणति है, जब कि अवरोहण-क्रम में, यही चेतना-ज्योति *प्रथमा* अथ वा *अग्रिया* उषा नाम से जानी जाती है।

ऋक् ३ (पुरूरवा:-वचन)

उर्वशी से वियुक्त होने की अवस्था में अपनी दुर्दशा को पुरूरवा: कहता है।

इषु: न श्रिये इषु-धे: असना, गो-सा: शत-सा: न रंहि:।

अ-वीरे क्रतौ वि दविद्युतत् न, उरा न मायुम् चितयन्त धुनय:।

अन्वय : इषु-धे: इषु: श्रिये असना न। रंहि: गो-सा:, शत-सा: न। अ-वीरे क्रतौ न वि दविद्युतत्। धुनय: उरा मायुम् न चितयन्त।

अर्थ : तरकस का तीर श्री के हेतु चलने के लिए नहीं (हो पारहा है)। गतिमान् गो-वितरक, शत-वितरक नहीं (रह गया है)। वीर-रहित क्रतु में वि-द्युति नहीं है। कंपनशील, विस्तृत में, शब्द को नहीं समझरहे हैं।

आध्यात्मिक रूपांतर : हृदय की इच्छा श्लील के हेतु चलने के लिए नहीं हो पारही (अ-श्लील हो गई) है। आचरणशील (मैं) ज्ञान-प्रद, सौ (देव-कर्मों) का पथ प्रशस्त करनेवाला नहीं (रह गया हूं)। अंगिरा प्राणों से रहित (मेरे) कर्तृत्व में विशेष द्युति नहीं रह गई है। (मेरे) स्पंदन, उन्मेष-निमेष के प्रसार में, अनाहत नाद को अनुभव नहीं कररहे हैं।

स्पष्टीकरण : जीव ब्राह्मी वाक् को प्रत्युत्तर देते हुए कहता है कि तुम्हारे अभाव में मेरी बड़ी दुर्दशा हो गई है। मेरे हृदय-रूप तरकस से चलनेवाला जो तीर तुम्हारे सान्निध्य में श्री के लिए चलता था वह अब श्री के लिए नहीं चलता, अर्थात्, वह अब अ-श्रीर (अ-श्लील) हो गया है। मेरी जो गति पहले ज्ञान-रूप गौ को देनेवाली और सौ देव-कर्मों को प्रदान करनेवाली थी वह अब तेरे अभाव में वैसी नहीं रही।

जब तू मेरे पास रहती थी तो मेरा कर्तृत्व अंगिरा प्राणों *(वीरों)* के तेज से विशेष रूप से द्युतिमान् था। पर अब, अंगिरा प्राणों से रहित होने से, मेरे कर्तृत्व में वह विशेष द्युति नहीं रह गई है।

जब मैं तुझसे युक्त था तब मेरे हृदय के स्पंदनों में उस अनाहत नाद की अनुभूति होती थी जो ज्ञाननेत्र के उन्मेष और निमेष रूप प्रसार *(उरु)* के साथ उत्पन्न होती है। पर अब मेरे हृदय-स्पंदनों में उस शब्द की अनुभूति का अभाव हो गया है।

टिप्पणियां : *गो-साः :* तु., *गौर् वाग्, गौर् वि-राड्, गौर् इडा,* मै. ४.२.३। *प्राणाद् गां निर्-अमिमीत प्रजा-पतिः,* शब्रा. ७.५.२.६। वि-भिन्न, सेन्द्रिय मन की अन्तर्मुखी वृत्ति से उत्पन्न अनुभव 'गौ' है।

शत-साः : तु. *यो यज्ञो विश्वतस् तत, एक-शतं देव-कर्मेभिर् आ-यतः,* ऋ. १०. १३०.१। व्यष्टिगत पुरुष ब्राह्मी शक्ति से युक्त होने पर मनुष्य के व्यक्तित्व में एक व्यापक यज्ञ को फैला देता है। मस्तिष्क से लेकर मूलाधार तक जो तेतीस केन्द्र माने गए हैं उनमें से प्रत्येक से इच्छा-ज्ञान-क्रियापरक त्रिविध तंतु फैलते हैं। इनके माध्यम से ब्राह्मी शक्ति देव-कर्मों का प्रसार करती है। इन निन्यानवें तन्तुओं में, इन सबके केंद्रीय स्रोत को सम्मिलित कर लेने से उक्त देव-कर्मों की संख्या सौ हो जाती है। इन सौ देव-कर्मों को देने के कारण जीव को *शत-साः* कहा गया है।

अ-वीर क्रतु : अंगिरा प्राणों को *वीर* कहा जाता है, जैब्रा. ३.२६४। दस प्राण भी वीर हैं, शब्रा. ९.४.२.१०; १२.८.१.३२। अंगिरा प्राण *अंगों का रस* कहाता है, *प्राणो वा अङ्गानाम् रसः,* शब्रा. १४.४.१.२१। वे प्रत्येक अंग में सुषुप्त रहते हैं। अंगों में ब्राह्मी वाक् के अवतरण से जागरित होकर वे जीव को *शत-दाय वीर,* मै. १.७.५,

बना देते हैं क्यों कि तब पूर्वोक्त सौ देव-कर्म प्रादुर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार, जीव का कर्तृत्व *(क्रतु) स-वीर* होता है। ब्राह्मी वाक् के अभाव में अंगिरा प्राण सुषुप्त रहते हैं और जीव का कर्तृत्व *अ-वीर* रहता है।

उरु : आंतरिक उरु प्रदेश में जब ब्राह्मी वाक् अवतीर्ण होती है तो वहां अनाहत नाद सुनाई पड़ता है। ब्राह्मी वाक् के अभाव में वह नाद बंद हो जाता है।

ऋक् ४ (पुरूरवा:-वचन)

अपने कथन को जारी रखतेहुए जीव ब्राह्मी वाक् को *उषा* कहकर संबोधित करता है क्यों कि वह वस्तुत: ब्रह्म-ज्योति है जो पहले अपने को *उषसाम् अग्रिया-इव* कह चुकी है।

सा वसु दधती श्वशुराय वय:, उष:! यदि वष्टि अन्ति-गृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिन् चाकन्, दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन।

अन्वय : उष:! यदि वसु दधती सा अन्ति-गृहात् श्वशुराय वय: वष्टि, अस्तं ननक्षे यस्मिन् चाकन्। दिवा नक्तं वैतसेन श्नथिता।

अर्थ : हे उषा! यदि वसु को धारण करतीहुई वह अन्त:-पुर से श्वास-प्रश्वासरत के लिए वय: को (देना) चाहती है (तो वह उस) गृह को व्यापती है जिसमें चाहती है। दिन रात बेंत से ताड़ित (होती थी)।

आध्यात्मिक रूपांतर : हे ब्राह्मी वाक्! यदि दिव्य धन को धारण करतीहुई वह (तुम) हिरण्यय कोश से, प्राणमय आत्मा के लिए दिव्य अन्न को (देना) चाहती है (तो वह अवश्य उसी) हिरण्यय कोश को व्याप्त करती है जिसमें चाहती है। दिन रात (का भेद न करतेहुए, समान रूप से), हिरण्ययी ज्योति से ताड़ित (होती है)।

स्पष्टीकरण : अपने को उषाओं में अग्रगण्या-सी कहनेवाली ब्राह्मी वाक् को जीव, व्यंग्य करताहुआ, उषा कहकर संबोधित करता है और कहता है कि यदि हिरण्ययकोश-वासिनी वह ब्राह्मी वाक् दिव्य वसु को धारण करतीहुई उसी अंत:-पुर से प्राणमय आत्मा को दिव्य अन्न देना चाहती है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है, कि वह उसी घर को व्याप्त करती रहे जिसमें वह, चाहतीहुई, रात-दिन समान रूप से, हिरण्ययी ज्योति के बेंत से प्रताड़ित हुआ करती है।

अभिप्राय यह है कि हिरण्यय कोश में रहतेहुए और वहां से नीचे न उतरतेहुए, यह संभव नहीं है कि ब्राह्मी वाक् स्थूल देह के प्राणमय आत्मा को शक्ति प्रदान कर सके। अत: उसे नीचे आना ही चाहिए।

ऋक् ५ (उर्वशी-वचन)

उर्वशी पुरूरवा: को उस समय की याद दिलाती है जब वे दोनों स्वर्ग में साथ थे।

त्रिः स्म मा अह्नः श्नथयः वैतसेन, उत स्म मे अ-व्यत्यै पृणासि।
पुरूरवः! अनु ते केतम् आयम्, राजा मे वीर! तन्वः तत् आसीः।

अन्वय : वैतसेन मा अह्नः त्रिः श्नथयः स्म। उत, अ-व्यत्यै मे पृणासि स्म। *पुरूरवः! ते केतम् अनु आयम्। वीर! मे तन्वः राजा आसीः।*

अर्थ : बेंत से मुझे दिवस के तीन बार तुमने ताड़ित किया था। और, विकल्प-रहिता मेरे लिए तुमने पूर्ति की थी। हे पुरूरवाः! तुम्हारे झंडे के पीछे मैं आई थी। हे वीर! मेरे तनू के राजा तुम हुए थे।

आध्यात्मिक रूपांतर : हिरण्यय ज्योति से मुझे दिवस(-रात) के (अभेद वाले दिन में) तीन बार तुमने फैलाया था। और, विकल्प-रहिता मुझे तुमने पूरित किया था। जीव! तुम्हारे झंडे का अनुसरण मैंने किया था। वीर! मेरे विस्तार के राजा तुम हो गए थे।

स्पष्टीकरण : जीव के व्यंग्य का विनोदात्मक उत्तर देतीहुई ब्राह्मी वाक् कहती है कि जब हम-तुम, दोनों हिरण्ययकोशीय स्वर्ग में थे तब वह समाधि की अवस्था थी। उसमें मनोमय, विज्ञानमय और हिरण्यय कोशों की त्रिलोकी स्वर्ग की हिरण्ययी ज्योति से एकाकार हुई, दिवस-मात्र को उपस्थित कररही थी। पर फिर भी, तीनों कोशों के संदर्भ से, हिरण्ययी ज्योति के बेंत से तुमने मुझे त्रिविध रूप में आक्रांत किया था।

मैं करती भी क्या? मैं त्रि-दिव् में फैलकर परिपूर्ण होना चाहती थी और मेरे पास कोई विकल्प नहीं था। अतः तुम्हीं ने मुझे परिपूर्ण किया था।

हे जीव! मैं उस समय तुम्हारे झंडे का अनुसरण कररही थी।

और तुम मेरे तनू (त्रि-दिव् में विस्तारित स्वरूप) के वीर राजा हो गए थे।

ऋक् ६ (पुरूरवाः-वचन)

या सु-जूर्णिः श्रेणिः सुम्ने-आपिः, ह्रदे-चक्षुः न ग्रन्थिनी चरण्युः।
ताः अञ्जयः अरुणयः न सस्रुः, श्रिये गावः न धेनवः अनवन्त।

अन्वय : या सुम्ने-आपिः, श्रेणिः, सु-जूर्णिः, ह्रदे-चक्षुः, चरण्युः, ग्रन्थिनी न, ताः अरुणयः अञ्जयः न सस्रुः, न धेनवः गावः श्रिये अनवन्त।

अर्थ : जो सौंदर्य-मयी, श्रेष्ठ, सु में लीन, ह्रद में चक्षु, विचरणशील, ग्रंथिनी जैसी (थी वह) उन अरुण अभिव्यक्तियों जैसी प्रवाहित हुई, जैसे दुधार गौएं श्री के लिए रंभाई हों।

आध्यात्मिक रूपांतर : जो सौंदर्य-मयी, श्रेष्ठ, ब्रह्म में लीन (होतीहुई), हिरण्यय

कोश में चक्षु (होकर) विचरणशील (होने की इच्छुक), अनेकता में एकता लाने वाली जैसी (थी वह अब अनेक-रूप होकर) उन अरुण अभिव्यक्तियों के रूप में अनेकविध प्रवाहित होने लगी थीं, (अथ वा) जैसे दुधार गौएं श्री के लिए रंभाई हों।

स्पष्टीकरण : ब्राह्मी वाक्, मूलतः ब्रह्म में लीन रहनेवाली, श्रेष्ठ *सुब्रह्मण्या* वाक् थी। वही सौमनस्य प्राप्त करनेवाली और हिरण्ययकोश-रूपी मानसरोवर की चक्षु-रूप होतीहुई, संपूर्ण अनेकता को एक सूत्र में ग्रथित करनेवाली होकर, गतिशील होने की इच्छुक थी।

वही फिर अनेक अरुण ज्योतिर्मय अभिव्यक्तियों के रूप में प्रवाहित हुई। अथ वा वह ज्ञानामृत का दोहन करनेवाली गायों के समान रंभाने लगी, अर्थात्, प्राणमय कोश की प्राणधाराएं बन गई।

इस कथन द्वारा जीव ब्राह्मी वाक् को याद दिलाता है कि तू अपने जिस दिव्य रूप को मेरी पहुंच के बाहर बतारही है वही तेरा सुब्रह्मण्य रूप पहले भी था पर फिर भी तू अचर से चर होकर, अनेकता को एकता में परिणत करनेवाली बनने की इच्छा करके प्राणमय आत्मा का श्वासोच्छ्वास बन गई थी, अर्थात्, स्थूल स्तर तक उतर आई थी। फिर तू अब क्यों नहीं लौटना चाहती है?

ऋक् ७ (उर्वशी-वचन)

उर्वशी पुरूरवाः को प्रत्युत्तर देतीहुई कहती है कि उस समय जो अनेक अरुण ज्योतिर्मय अभिव्यक्तियों अथ वा ज्ञानामृत का दोहन करनेवाली गायों की अनेकता प्राणमय आत्मा के स्थूल स्तर तक आ पहुंची थी उसका विशेष कारण था।

सम् अस्मिन् जायमाने आसत ग्नाः, उत ईम् अवर्धन् नद्यः स्व-गूर्ताः।
महे यत् त्वा पुरूरवः! रणाय, अवर्धयन् दस्यु-हत्याय देवाः।

अन्वय : पुरूरवः! यत् महे रणाय, दस्यु-हत्याय देवाः त्वा अवर्धयन्, अस्मिन् जायमाने, ग्नाः सम् आसत, उत स्व-गूर्ताः नद्यः ईम् अवर्धन्।

अर्थ : हे पुरूरवाः! जब महान् रण के लिए, दस्यु की हत्या के लिए देवों ने तुझे बड़ा किया (तब), इस परिस्थिति में, उषाएं सं-आसीन हो गईं, और स्व को व्यक्त करनेवाली धाराओं ने आपः को बढ़ाया।

आध्यात्मिक रूपांतर : जीव! जब महान् रण के लिए (और) दस्यु की हत्या के लिए देवों ने तुझे (बढ़ाकर) बड़ा किया (तब), इस परिस्थिति में, उषाएं संगत हुईं, और स्व को व्यक्त करनेवाली प्राणधाराओं ने ऊर्ध्वगामिनी प्राणप्रवाह को बढ़ाया।

स्पष्टीकरण : ब्राह्मी वाक् पर आरोप था कि वह एक से अनेक हुई थी और उसने

अरुण प्रकाश-धाराएं अथ वा प्राण-लहरियां होकर, नीचे स्थूल स्तर पर पदार्पण किया था। फिर अब क्यों वह पुन: उधर नहीं लौटना चाहती? इसके उत्तर में, ब्राह्मी वाक् का कहना है कि उस समय ऐसा करना ही ठीक था क्यों कि उस समय वृत्रवध के लिए और तन्निमित्त होनेवाले युद्ध के लिए देव लोग जीव को बढ़ाकर तैयार करना चाहते थे।

इसी लिए, उस जीव के साथ, मूलाधार से उठनेवाली उदञ्चनवती धारा (ईम्–कुंडलिनी) का प्रवाह भी उपज पड़ा था जिसे वृद्धि प्रदान करने के लिए अनेक उषाएं भी, और ज्योति को प्रकट करनेवाली प्राणधाराएं भी आवश्यक हो गई थीं। अर्थात्, अहंकार-रूप वृत्र के विनाश के लिए, साधक के व्यक्तित्व में जीव को एक दिव्य जन्म देने के लिए, मूलाधार से ऊर्ध्वगामिनी कुंडलिनी के उत्थान के लिए, ब्राह्मी वाक् का अनेकविध होकर मर्त्य स्तर पर उतरना अपरिहार्य है।

ऋक् ८ (पुरूरवा:-वचन)

उत्तर में पुरूरवा: का कथन है कि यह कैसे माना जाए कि मुझ मानुष को बढ़ाने के लिए वे दिव्य प्रकाशधाराएं अथ वा प्राण-लहरियां उत्पन्न हुई थीं। क्यों कि, जैसे ही, निज दिव्य रूप को त्यागतीहुई इन अमानुषियों में मनुष्य ने रूप-सेवन करना आरंभ किया वैसे ही वे ऐसे भाग पड़ीं जैसे रथ में जुतीहुई घोड़ियां भागती हैं।

सचा यत् आसु जहतीषु अत्कम्, अ-मानुषीषु मानुष: नि-सेवे।
अप स्म मत् तरसन्ती न भुज्यु:, ता: अत्रसन् रथ-स्पृश: न अश्वा:।

अन्वय : यत् आसु, सचा अत्कम् जहतीषु अ-मानुषीषु मानुष: नि-सेवे, मत् ता: अप अत्रसन् स्म, न भुज्यु: तरसन्ती, न रथ-स्पृश: अश्वा:।*

अर्थ : जब इन, एक साथ रूप को त्यागतीहुई अ-मानुषियों में (मैं) मानुष नि-सेवन करता हूं (तब) मेरे पास से वे अप-गमन कर गई थीं, जैसे भोगेच्छुक मृगी, जैसे रथ को स्पर्श करनेवाले घोड़े।

आध्यात्मिक रूपांतर : जब इन, एक साथ दिव्यता को त्यागतीहुई, अ-मानुषी अभिव्यक्तियों (की प्रतिनिधि–ब्राह्मी वाक्) को मैं जीव नितरां सेवन करता हूं (तब) मुझ जीव के पास से वे भाग गई थीं, जैसे (ब्राह्मी वाक् तू) भोगेच्छुक मृगी (होतीहुई भी), मानो, (वे) रथ को स्पर्श करनेवाले अश्व (हों)।

स्पष्टीकरण : इस ऋक् में जिन अनेक अ-मानुषियों का उल्लेख है वे, मन और

* वैदिकपदानुक्रमकोश, खण्ड १, पृष्ठ (७२. २७६, १४७०,) २३३८ की पाद टिप्पणी-गत सामग्री में एक भिन्न अन्वय का सुझाव मौजूद है।

इंद्रियों के स्तर पर ब्राह्मी वाक् के अवतीर्ण होने पर, उसी के अनेक रूप हैं। उन्हीं को लक्ष्य करके जीव ब्राह्मी वाक् से कह सकता है कि यह कहना ठीक नहीं कि इन सबने मानुष जीव के वर्धन अथ वा हित-संपादन के लिए अवतरण किया था।

क्यों कि वास्तविकता यह है कि ब्राह्मी वाक् के पलायन करने के साथ ही (उसी का रूपांतर होने से) वे भी तो पुरूरवा: से दूर हो गईं। वह (ब्राह्मी वाक्) तो भोगेच्छुक (भुज्यु) थी। जब वह भागी तो, उसी के समान, वे भी तो ऐसे भाग पड़ीं जैसे रथ में जुतेहुए घोड़े हों।

ऋक् ९

यत् आसु मर्त: अमृतासु नि-स्पृक्, सं क्षोणीभि: क्रतु-भि: न पृङ्क्ते।
ता: आतय: न तन्व: शुम्भत स्वा:, अश्वास: न क्रीळय: दन्दशाना:।

अन्वय : यत् मर्त: आसु अमृतासु नि-स्पृक्, क्षोणीभि: क्रतु-भि: न सं पृङ्क्ते। आतय: न, क्रीडय: अश्वास: न, ता: दन्दशाना: स्वा: तन्व: शुम्भत।

अर्थ : जब मर्त ने इन अमृताओं में नि:शेष स्पर्श किया (तब उसने) तीक्ष्ण क्रतुओं से संपर्क नहीं किया। सतत गमनशील सी, क्रीडाशील अश्वों जैसे, वे दांत पीसने वालियां स्व तनुओं को सजाती हैं।

आध्यात्मिक रूपांतर : जब जीव ने (समाधि में) इन अमृताओं में नि:शेष स्पर्श किया (तब उसने मर्त्य स्तर पर) तीक्ष्ण (प्रखर) क्रतुओं (कर्मों) से संपर्क नहीं किया। सततगमनशील सी, क्रीडाशील अश्वों जैसी, वे दांत पीसने वालियां स्व तनुओं को सजाती हैं (,अर्थात्, उनके प्रकाशात्मक तनू की ही श्रीवृद्धि होती रही)।

स्पष्टीकरण : मानुष जीव मरणशील ठहरा, और वे सब थीं अमृता ब्राह्मी वाक् की अमृत प्रतिकृतियां। अत: उसने उनका कितना भी पूर्ण संपर्क क्यों न किया हो पर वह उनकी भीतरी सतह तक नहीं पहुंच सका क्यों कि उसने जिन कर्तृत्वों द्वारा वह संपर्क किया था वे इतने पैने नहीं थे कि वे भीतरी तह तक पैठ कर पाते।

परिणाम यह हुआ कि भीतरी तह पर वे सततगामिनी, अमर प्राण-धाराएं अपना साज-शृंगार करती रहीं और उन अश्वों के समान अपने दांत पीसती रहीं जिन्हें क्रीड़ा का अवसर नहीं मिल पाता है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मी वाक् के जो अनेक सूक्ष्म रूपांतर हैं उनका उपयोग करना मर्त्यस्तरीय जीव के लिए संभव नहीं है, क्यों कि उसकी इंद्रियां इतनी पैनी नहीं होती हैं जो भीतरी तह तक प्रवेश कर सकें। अत: वह कितना ही सघन संपर्क क्यों न करे वह स्थूल स्तर तक ही सीमित रहता है।

टिप्पणी : *नि-स्पृक् : नि* पूर्वक *स्पृश् (संस्पर्शे* अथ वा *कंपने)* से निष्पन्न। *क्षोणीभिः : क्षणु (तिजने=तीक्ष्णीकरणे)* से निष्पन्न यौगिक शब्द। *दन्दशानाः : दशि (दंशने)* से निष्पन्न यौगिक शब्द। *आतयः : अत (सातत्यगमने)* से निष्पन्न यौगिक शब्द।

ऋक् १०

वि-द्युत् न या पतन्ती दविद्योत्, भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपः नर्यः सु-जातः, प्र उर्वशी तिरत दीर्घम् आयुः।

अन्वय : वि-द्युत् न पतन्ती, मे काम्यानि अप्या भरन्ती, या दविद्योत्, सु-जातः, नर्यः अपः जनिष्टो। उर्वशी आयुः दीर्घम् प्र तिरत।

अर्थ : वि-द्युत् समान गति करतीहुई, मेरे काम-परक कर्मों को भरतीहुई, जो कोंधी थी (वह) सु से प्रेरित, प्राणिक कर्म बनी। उर्वशी आयु को दीर्घ करती है।

आध्यात्मिक रूपांतर : (जीव के स्थूल स्तर पर) वि-द्युत् समान सहसा प्रकट होतीहुई, जीव के काम-परक कर्मों को संपन्न करतीहुई, जो कोंधी थी (वह) ब्रह्म से प्रेरित प्राणिक कर्म बनी। ब्राह्मी वाक् आयु को दीर्घ करती है।

स्पष्टीकरण : यद्यपि ब्राह्मी वाक् के अनेक रूपांतर भीतरी सूक्ष्म स्तर पर ही रह गए पर उसका जो भी रूप विद्युद्-गति से सहसा मानुष जीव के स्थूल स्तर पर क्षण-भर के लिए प्रकट हो सका उसने कम से कम सु(ब्रह्म)-प्रेरित प्राणिक कर्म का तो रूप ग्रहण किया। और अब ब्राह्मी वाक् आयु को अच्छी तरह लंबा करे।

अभिप्राय यह है कि चाहे ब्राह्मी वाक् की अनेक संभावित अभिव्यक्तियां ऊपर तक न आ पाएं, फिर भी यदि उसकी क्षणिक प्राणिक अभिव्यक्ति मनुष्य के आचरण को ब्रह्मकर्मसमाधि में ढालने का सूत्रपात ही नहीं करे अपि तु उसे नैरंतर्य भी प्रदान कर दे, तो भी स्वागत-योग्य है।

टिप्पणी : *अप्या : अपः* (कर्म) से संबंधित; कार्मिका। *सु-जात* : (ब्रह्म के) 'सु' पक्ष से उद्भूत; सुब्रह्मोद्भूत। *अपः : कर्म। नर्यः* : वेद में *नर* शब्द विशेष रूप से मरुतों के लिए प्रयुक्त है। और मरुत प्राण ही हैं, *प्राणो वै मरुतः*, ऐब्रा ३.१६। अतः *नर्य* का अर्थ 'प्राणिक' किया गया है।

ऋक् ११ (उर्वशी-वचन)

पुरूरवाः ने जब प्राणिक कर्मों *(नर्य अपः)* के जन्मने की बात कही तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उर्वशी बोली।

जज्ञिषे इत्था गो-पीथ्याय हि, दधाथ तत् पुरूरव:! मे ओज:।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन् अहन्, न मे आ अशृणोः किम् अ-भुक् वदासि?

अन्वय : गो-पीथ्याय इत्था जज्ञिषे, हि, पुरूरव:! मे तत् ओज: दधाथ, विदुषी त्वा सस्मिन् अहन् अशासम्, मे न आ अशृणोः। अ-भुक् किम् वदासि?

अर्थ : गौ को पीने के लिए सत्य प्रादुर्भूत हुआ, क्यों कि, हे पुरूरवा:! मेरे उस ओज को तूने धारण किया था, (यह) जानतीहुई तुझे उसी दिवस मैंने कहा था (पर) मेरी (बात) तूने ध्यान से नहीं सुनी। (अब) अ-भोक्ता तू क्यों बोलरहा है?

आध्यात्मिक रूपांतर : ज्ञान का पान करने के लिए सत्य प्रादुर्भूत हुआ, क्यों कि, हे जीव! मेरे उस ओज को तूने धारण किया था, (यह) जानतीहुई तुझे उसी दिवस मैंने कहा था (पर) मेरी (बात) तूने ध्यान से नहीं सुनी। (अब) (मेरे) अ-भोक्ता (समान) तू क्यों बोलरहा है?

स्पष्टीकरण : जीव जब ब्राह्मी वाक् के साथ निज समागम के फलस्वरूप स्वयं का कोई रूपांतर होने की आशा करता है तो, मानो, ब्राह्मी वाक् स्पष्ट कहरही हो कि हे जीव! आज तुम मेरे संपर्क से होनेवाले निज रूपांतर का विषय छेड़रहे हो, जब कि जिस दिन हमारा-तुम्हारा संपर्क हुआ था उसी दिन मैंने कह दिया था कि तुम अपने में सत्य का प्रादुर्भूत होते देखोगे क्यों कि तुमने मेरा ओज धारण कर लिया है। पर तुमने मेरी बात उस समय सुनी-अनसुनी कर दी। अब आज तुम ऐसे बोलरहे हो, मानो, तुमने मुझे कभी भोगा ही न हो, अर्थात्, मुझसे समागम ही न किया हो।

टिप्पणी : इत्था : *निघंटु* के *सत्य*-नामों में परिगणित। *गो-पीथ्य* : पूर्वोक्त ज्ञान-गौ के दुग्धामृत का पान। *ओज: दधाथ* : प्राणियों की प्रजनन-क्रिया में स्त्री पुरुष का ओज (वीर्य) धारण करती है पर यहां जीव ब्राह्मी वाक् के ओज को धारण करके जिस रूपांतर को जन्म देता है उसी को आख्यान में *आयु* कहा गया है, न कि किसी मानव को।

ऋक् १२ (पुरूरवा:-वचन)

उर्वशी के उपर्युक्त वचन से पुरूरवा: अपने भावी पुत्रजन्म (रूपांतर) के प्रति आश्वस्त हो गया।

कदा सूनु: पितरं जात: इच्छात्?, चक्रन् न अश्रु वर्तयत् वि-जानन्।
क: दम्-पती स-मनसा वि यूयोत्?, अध यत् अग्नि: श्वशुरेषु दीदयत्।

अन्वय : जात: सूनु: पितरम् कदा इच्छात्? वि-जानन्, अश्रु चक्रन् न, वर्तयत्? यत्

श्वशुरेषु अग्नि: दीदयत्, अथ स-मनसा दम्-पती क: वि यूयोत्?

अर्थ : प्रादुर्भूत पुत्र पिता को कब चाहेगा? वि-ज्ञानवान्, आंसू से रोताहुआ-सा, (कब) फिरने लगेगा? जब श्वशुरों में अग्नि दीप्त होगा तब स-मन दं-पतिद्वय को कौन वि-युक्त करेगा?

आध्यात्मिक रूपांतर : प्रादुर्भूत जीव-रूपांतर परमेश्वर को कब चाहेगा? (परमेश्वर को) विशेष रूप से जानताहुआ, आंसू से रोताहुआ-सा, वह (कब) डोलेगा? जब प्राणों में अग्नि दीप्त होगा तब समान-मन वाले गृहस्वामि-द्वय को कौन वि-युक्त करेगा?

स्पष्टीकरण : पूर्व-मंत्र में संकेतित स्थिति को जानकर जीव आश्वस्त हो जाता है कि ब्राह्मी वाक् से जो उसका संपर्क स्थूल आचरण के स्तर पर हुआ है वह भी अपना रंग लाएगा और ब्राह्मी वाक् के प्रभाव से उसका रूपांतर होगा और वह दीर्घ आयु को पा लेगा। अत: वह प्रसन्न होकर पूछ बैठता है कि अच्छा, तो वह जन्माहुआ पुत्र (रूपांतर) पिता (परमेश्वर) को कब चाहने लगेगा, अर्थात्, आचरण के स्तर पर हुआ रूपांतर कब भगवद्भक्त बनेगा? पिता (भगवान्) की विशेष जानकारी करने के लिए प्रयत्नशील वह भावविह्वल होकर अश्रुपात करताहुआ-सा कब डोलेगा?

जब साधना का परिपाक होने पर, उसके प्राण भी प्रदीप्त हो उठेंगे तब तो मनुष्य के व्यक्तित्व-रूप 'दम' (गृह) के स्वामि-द्वय (जीव और ब्राह्मी वाक्) एक ही मनवाले हो जाएंगे और तब उन्हें कोई भी अलग अलग नहीं कर सकेगा। तब उनका चिर मिलन हो जाएगा।

ऋक् १३ (उर्वशी-वचन)

पुरूरवा: के उपर्युक्त वचन से ध्वनि निकलती है कि वह समझने लगा है कि पुत्र के जन्म के पश्चात् उसका उर्वशी के साथ मिलन भी स्थायी हो जाएगा। उसके इस विश्वास का निराकरण करतीहुई, उर्वशी पुन: बोल पड़ी।

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु, चक्रन् न क्रन्दत् आ-ध्ये शिवायै।

प्र तत् ते हिनव यत् ते अस्मे, परा इहि अस्तं नहि मूर! मा आप:।

अन्वय : अश्रु चक्रन् वर्तयते। शिवायै आ-ध्ये न क्रन्दत्। यत् ते अस्मे तत् ते प्र हिनव। मूर! मा नहि आप:। अस्तम् '.रा इहि। प्रति ब्रवाणि।

अर्थ : आंसू बहातेहुए डोलेगा। शिवा ‍ के लिए, अनुभूति में नहीं चिल्लाएगा। जो तेरा हमारे लिए (है) उसे तेरे लिए प्र-दान करती हूं। हे मूढ! तू मुझे नहीं पाएगा। घर

को तू भाग जा। मेरा प्रत्य्-उत्तर है।

आध्यात्मिक रूपांतर : (प्रादुर्भूत जीव) आंसू बहातेहुए डोलेगा। (पर) कल्याणमयी के लिए, अनुभूति में नहीं चिल्लाएगा। जो तेरा हमारे लिए (है) उसे तेरे लिए प्रदान करती हूं। (पर) मूढ़! तू मुझे नहीं पाएगा। (अपने) घर को तू भाग जा। (यह तेरे लिए) मेरा प्रत्य्-उत्तर है।

स्पष्टीकरण : जीव को विश्वास हो गया कि स्थूल स्तर पर उसका रूपांतर हो जाएगा। तो ब्राह्मी वाक् के साथ उसका चिर मिलन भी हो जाएगा, इस भ्रम को दूर करतीहुई, मानो, ब्राह्मी वाक् यहां कहरही है कि तेरा रूपांतरित (भक्त-रूप) व्यक्तित्व अपने पिता (परमेश्वर) के लिए अश्रुपात करतेहुए तो डोलेगा क्यों कि वह उसके दर्शन के लिए व्याकुल रहेगा पर इस व्याकुल पीड़ा के कारण चिल्लाएगा नहीं क्यों कि यह पीड़ा कल्याणकारी है, मोक्ष-मार्ग पाने में यह सहायक हो सकती है।

हे जीव! मेरे तेरे संयोग से जो तेरा यह रूपांतर होनेवाला है वह तो मैं तुझे देती हूं लेकिन हे मूढ़! तेरा यह समझना भूल है कि इस रूपांतर के कारण स्वयं मैं तुझे सदा के लिए मिल जाऊंगी। इसलिए तू यहां से अपने घर को भाग जा। यह तेरे भ्रम का निवारण करनेवाला मेरा प्रत्युत्तर है।

ऋक् १४ (पुरूरवा:-वचन)

उर्वशी की स्पष्टोक्ति से आहत और हताश होकर पुरूरवा: अपने लिए विकल्पों को प्रस्तुत करता है।

सु-देव: अद्य प्र-पतेत् अन्-आ-वृत्? परा-वतं परमां गन्तवै ऊँ।
अध शयीत नि:-ऋते: उप-स्थे?, अध एनं वृका: रभसास: अद्यु:?

अन्वय : परा-वतम्, परमाम् ऊँ गन्तवै, अद्य सु-देव: अन्-आ-वृत् प्र-पतेत्? अध नि:-ऋते: उप-स्थे शयीत? अध एनम् रभसास: वृका: अद्यु:?

अर्थ : परा-वत तक, परमा ऊँ तक पहुंचने के लिए, आज (क्या) सु-देव, बिना आ-वर्त के प्र-पतन कर ले? अथ (वा) मृत्यु की गोद में सो जाए? अथ (वा) इसको उपक्रमशील भेड़िए खा जाएं?

अध्यात्मपरक रूपांतर : परात्पर (ऊँ) तक, (अथ वा) परमा (प्रकृति-रूप) ऊँ तक पहुंचने के लिए, आज (क्या यह) सु-देव (पुरूरवा:-जीव) बिना आ-वर्तन के प्र-पतन कर ले? अथ (वा) मृत्यु की गोद में (सदा के लिए) सो जाए? अथ (वा) इसको उपक्रमशील भेड़िए खा जाएं?

स्पष्टीकरण : साधक जब अपनी सिद्धि की झलक पाकर भी उसे तुरंत अपने हाथ से निकलाहुआ पाता है तो उसे अत्यंत व्याकुलता और निराशा होती है। उसी की अभिव्यक्ति करतेहुए, मानो, वह कहरहा है कि अब ब्राह्मी वाक् तो मिलेगी नहीं। तो क्या करूं? अभी तक मुझे विश्वास था कि मैं स्वयं सुब्रह्म (सु-देव) हूं, ऊँ हूं और परात्पर ऊँ अथ वा उसकी परमा प्रकृति (ब्राह्मी वाक्) रूप ऊँ को प्राप्त कर लूंगा।

पर यह तो कोरा भ्रम सिद्ध हुआ। तो क्या मैं उस मार्ग पर आवर्तन करना छोड़कर अपना घोर पतन कर लूं? अथ वा मृत्यु की गोद में सो जाऊं, अर्थात्, प्राणों को त्याग दूं? या फिर एक रास्ता यह है कि जो काम, क्रोध, आदि भेड़िए मुझे खाने के लिए निरंतर उपक्रमशील होते रहे हैं उनके हवाले हो जाऊं जिससे वे मेरा भक्षण कर लें।

टिप्पणी : वेद में ऊँ शब्द का प्रयोग पर ब्रह्म, उसकी परमा प्रकृति और जीव, इन तीनों अथ वा उनके दिव्य रूपांतरों के लिए हुआ है।

ऋक् १५ (उर्वशी-वचन)

पुरूरवा: ने उर्वशी से चिर वियोग होने की अवस्था में अपने लिए जिन तीन विकल्पों को गिनाया उन्हें उर्वशी अनुचित और अवांछनीय मानतीहुई कहती है।

पुरूरव:! मा मृथा: मा प्र पप्त:, मा त्वा वृकास: अ-शिवास: ऊँ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयानि एता।

अन्वय : पुरूरव:! मा मृथा:। मा प्र पप्त:। त्वा ऊँ अ-शिवास: वृका: मा क्षन्। वै, स्त्रैणानि सख्यानि न सन्ति। एता सालावृकाणाम् हृदयानि।

अर्थ : पुरूरवा:! तू मत मर। तू मत प्र-पतन कर। तुझ ऊँ को अ-शिव भेड़िए नष्ट न करें। वस्तुत:, विस्तार देनेवाले विकल्प नहीं हैं। ये, घर में घुसेहुए भेड़ियों के हृदय (हैं)।

आध्यात्मिक रूपांतर : हे जीव! तू मत मर। तू मत प्र-पतन कर। तुझ ऊँ को अ-शिव भेड़िए न नष्ट करें। वस्तुत: (ये बहिर्मुख भौतिक) विस्तार देनेवाले (उपक्रम ही एकमात्र वांछनीय) विकल्प नहीं हैं। ये, घर में घूसेहुए भेड़ियों के हृदय (हैं)।

स्पष्टीकरण : मानो, जीव द्वारा प्रस्तुत तीनों विकल्पों को नकारतीहुई ब्राह्मी वाक् इस मंत्र के माध्यम से कहरही है कि तेरे ये तीनों विकल्प बहिर्मुखी विस्तार देनेवाले हैं। भौतिक जगत् में तुझे पसारनेवाले ये उपक्रम ही तेरे वांछनीय विकल्प *(सख्य)* नहीं हैं। इसलिए हे पुरूरवा:! प्राणांत करके तू मर मत; न तू केवल परात्पर ब्रह्म

अथ वा परमा प्रकृति की प्राप्ति में अपने ऊँ *(सु-देव)* स्वरूप का प्र-पतन कर। और न काम, क्रोध, आदि अ-शिव भेड़िए ही तेरे ऊँ रूप का भक्षण करें। क्यों कि ये सब विकल्प उन आंतरिक कुंठाओं की गहराई बतानेवाले भावों के उद्‌गार *(हृदय)* हैं जो घर में घुसेहुए भेड़ियों के समान तेरे भीतर विद्यमान रहे हैं।

अभिप्राय यह है कि तू यह मत भूल कि तू भी ऊँ है। इसे भूलकर यदि तू केवल बहिर्मुखी स-मनी शक्ति की दृष्टि से परात्पर ब्रह्म अथ वा परमा प्रकृति की खोज करेगा या राग-द्वेषप्रेरित काम, क्रोध, आदि का उपासक बनेगा अथ वा अपने प्राणांत द्वारा देह का त्याग करेगा तो, निस्संदेह, तू अपने शुद्ध, बुद्ध, निरंजन ऊँ रूप को छोड़कर उन विस्तारपरक *(स्त्रैण)* उपक्रमों को ही अपना मित्र समझ लेगा जिनकी उपज जीव को बहिर्मुख विस्तार देनेवाली और ऊँ रूप को आच्छादित करनेवाली भौतिक प्रकृति *(स्त्री)* से होती है। अभिप्राय यह है कि तू अपने उस मूल ऊँ रूप की उन सब संभावनाओं को भी विकसित कर जो आंतरिक प्रकृति (उन्-मनी) में निहित हैं।

टिप्पणी : *मा क्षन् : क्षन्* की निष्पत्ति *क्षण (हिंसायाम्)* से करने पर *मा क्षन्* का अर्थ है मत नष्ट करें। देखिए, काशकृत्स्न-*धातुव्याख्यानम्।*

स्त्रैणानि : *स्त्रैण* शब्द *स्त्री* से निष्पन्न है। *स्त्री स्तृ* (*आच्छादने* अथ वा *विस्तारे*) से निष्पन्न है। भौतिक प्रकृति जीव के आध्यात्मिक रूप का आच्छादन करतीहुई उसका बहिर्मुखी विस्तार करती है। इसी लिए उसे स्त्री रूप में कल्पित किया गया है। प्रकृति का यह रूप जीव की स-मनी शक्ति के रूप में प्रकट होता है। प्रकृति का आध्यात्मिक रूप जीव की उन्-मनी शक्ति के रूप में है। जीव अपने विकास के लिए केवल स-मनी के स्त्रैण रूप को अपना मित्र *(स्त्रैणानि सख्यानि)* न समझे अपि तु उसके उन्-मनी रूप को भी ध्यान में रखे।

सालावृकाणां हृदयानि : काम, क्रोध, आदि भेड़िये मनुष्य की देह-रूप शाला *(साला)* में घुसेहुए हैं। मनुष्य के हृदयोद्‌गार उसकी भीतरी कुंठाओं की गहराई को व्यक्त करते हैं। पुरूरवा: द्वारा प्रस्तुत विकल्प उसकी कुंठाओं को अभिव्यक्ति देनेवाले हृदयोद्‌गार ही हैं।

ऋक् १६ (उर्वशी-वचन)

यत् वि-रूपा अचरम् मर्त्येषु, अवसम् रात्रीः शरदः चतस्रः।
घृतस्य स्तोकम् सकृत् अह्नः आश्नाम्, तात् एव इदं तातृपाणा चरामि।

अन्वय : यत् वि-रूपा मर्त्येषु अचरम्, चतस्रः शरदः रात्रीः अवसम्, अह्नः घृतस्य

स्तोकम् सकृत् आश्नाम्, तात् एव इदम् तातृपाणा चरामि।

अर्थ : यदि वि-रूपा मैं मर्त्यों में वि-चरी, चार ठंडी रातों में रही, दिवस के घृत को थोड़ा एक बार खाया, तब से ही इससे तृप्तहुई मैं घूमरही हूं।

आध्यात्मिक रूपांतर : यदि वि-रूपा (होकर) मरणशील लोगों में मैं वि-चरी (अथ वा उनमें) चार ठंडी रातों में रही (अथ वा) दिवस के घृत को थोड़ा एक बार खाया, तब से ही इससे तृप्तहुई मैं घूमरही हूं।

स्पष्टीकरण : जीव के उक्त तीन विकल्पों के खोखलेपन को बताने के पश्चात्, ब्राह्मी वाक् अपने स-मनी *(वि-रूपा)* पक्ष को उपस्थित करतीहुई, मानो, इस मंत्र के माध्यम से कहरही है कि मैं वि-रूपा (स-मनी) होकर मर्त्य स्तर के मरणशील भावों में विचरण करती रही। विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों का मर्त्यचतुष्टय मुझे (ब्राह्मी वाक् को) उत्तरोत्तर शीर्ण करनेवाली *(शारदी*)* रातों का चतुष्टय सिद्ध हुआ, जब कि हिरण्यय कोश का शाश्वत प्रकाश एक अनंत दिवस *(अहः)* था। उसके आनंद-रूप घृत का किं चित् आस्वादन ही मैंने अपनी सु-रूपा (उन्-मनी) अवस्था में थोड़ा सा किया था। उसके पश्चात् स-मनी (वि-रूपा) अवस्था में कोशचतुष्टय का भ्रमण करतीहुई मैं उस घृत से ही तृप्त रही हूं।

दूसरे शब्दों में, उसका कहना है कि व्यक्तित्व के जिस मर्त्य स्तर पर जीव ब्राह्मी वाक् को पुनः ले जाना चाहता है उसमें ज्योतिर्मंडित हिरण्यय कोश के दिवस (शाश्वत प्रकाश) में प्राप्त वह आनंदघृत ही एक सहारा है।

ऋक् १७ (पुरूरवाः-वचन)

उर्वशी की सु-रूपा (उन्-मनी) अवस्था का परिचय पाकर पुरूरवाः बोला।

अन्तरिक्ष-प्राम् रजसः वि-मानीम्, उप शिक्षामि उर्वशीम् वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सु-कृतस्य तिष्ठात्, नि वर्तस्व हृदयम् तप्यते मे।

अन्वय : अन्तरिक्ष-प्राम्, रजसः वि-मानीम् उर्वशीम् वसिष्ठः उप शिक्षामि। सु-कृतस्य रातिः त्वा उप तिष्ठात्। नि वर्तस्व। मे हृदयम् तप्यते।

अर्थ : अन्तरिक्ष को पूरनेवाली, रजः की निर्-मात्री उर्वशी को वसिष्ठ मैं परामर्श देता हूं। सु-कृत की देन तुझे उप-स्थित रहे। तू वापस आ जा। मेरा हृदय तपरहा है।

* शृ (हिंसा) से व्युत्पन्न।

आध्यात्मिक रूपांतर : आन्तरिक लोक को पूरनेवाली, रजः के विपरीत (सत्) की निर्-मात्री, ब्राह्मी वाक् को अतिशय वसु-मान् जीव मैं परामर्श देता हूं (कि) हिरण्यय कोश की देन तुझे उप-स्थित रहे। तू (स्वर्-ग से) वापस आ जा। मेरा हृदय तपोयुक्त होरहा है।

स्पष्टीकरण : ब्राह्मी वाक् के पूर्व-कथन से जीव को ज्ञात हुआ कि उस देवी के सु-रूपा (उन्-मनी) और वि-रूपा (स-मनी) भेद से दो रूप हैं। अपने प्रथम स्वरूप में ही वह सर्वथा सत्त्वगुणमयी ब्राह्मी वाक् है। नीचे, मर्त्य स्तरों पर तो उसका यह स्वरूप शीर्ण होता जाता है और वह आनंद-घृत को तरस जाती है। अतः जीव इस दिव्यज्ञान-रूप वसु को प्राप्त कर *वसिष्ठ* हो गया है और, मानो, प्रस्तुत मंत्र के माध्यम से कहरहा है कि 'मैं अब दिव्य वसु (ज्ञानधन) के अतिशय रूप को पाकर वसिष्ठ ऋषि हूं। अब मैं समस्त आंतरिक लोक को पूर्ण करतीहुई और रजस् से विपरीत, सत्त्व का निर्माण करनेवाली तुझ उरुत्वकांक्षिणी (अथ वा उरुत्वमयी) ब्राह्मी वाक् को परामर्श देता हूं कि ज्योतिर्मंडित हिरण्ययकोश-रूप सुकृत लोक की देन तुझे उपस्थित रहे। तू स्वर्ग से वापस आ। मेरा हृदय अब तपोमय होरहा है, अर्थात्, मैं व्यथित जीव के स्थान पर तपस्वी वसिष्ठ ऋषि होरहा हूं।'

ऋक् १८ (उर्वशी-वचन)

पुरूरवाः के उक्त निर्भ्रान्त वचन को सुनकर अन्त में उर्वशी कहती है।

इति त्वा देवाः इमे आहुः ऐळ!, यथा ईम् एतत् भवसि मृत्यु-बन्धुः।
प्र-जा ते देवान् हविषा यजाति, स्वः-गे ॐ त्वम् अपि मादयासे।

अन्वय : इमे देवाः त्वा ऐळ इति आहुः, यथा एतत् ईम् मृत्यु-बन्धुः भवसि। ते प्र-जा हविषा देवान् यजाति। त्वम् ॐ अपि स्वः-गे मादयासे।

अर्थ : ये देव तुझे 'इडा-पुत्र' कहते हैं, जैसे तुम यह ई—मृत्यु-बन्धु हो। तेरी प्र-जा हविः द्वारा देवों का यजन करती है। तू ॐ भी, स्वर्-ग में मदयुक्त होता है।

आध्यात्मिक रूपांतर : ये देव तुझे (उस प्रकार) इडा-पुत्र कहते हैं जिससे कि तुम यह ई (होकर) मृत्यु से बद्ध (होते) हो। (अन्ततो गत्वा) तेरा इन्द्रिय-प्राण (तो) वासना द्वारा देवों का यजन करता है (और) तू भी ॐ (होकर) स्वर्-ग में आनन्दी होता है।

स्पष्टीकरण : जब जीव संतुष्ट होता है कि ब्राह्मी वाक् ज्योतिर्मंडित स्वर्ग से मर्त्य स्तर पर वि-रूपा (स-मनी) होकर ही आती है जब कि उसका शुद्ध, सत्त्वगुणसंपन्न रूप हिरण्यय कोश (स्वर्ग) में ही है, तो ब्राह्मी वाक् प्रस्तुत मंत्र के माध्यम से, मानो,

जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय करातीहुई कहती है कि हे जीव! तेरे भी तो दो रूप हैं–एक ऐळ (इळा-पुत्र) रूप, दूसरा ईं रूप। प्रथम रूप दिव्य है, परमेश्वर (इंद्र) के दरबार में देवों द्वारा अभिनंदनीय है। जब कि दूसरे रूप में तुम मर्त्य स्तर के कोशों में मृत्यु के बन्धनों से जकड़ेहुए ईं हो। आदर्श अवस्था तो यह होगी कि तुम्हारा ईं रूप ऊर्ध्व गति अपनाकर ऊँ हो जाए और फिर स्वर्ग में आनंद को भोगे, जब कि तेरे इंद्रिय-प्राण *(प्र-जा)* अपनी वासना *(हविष्)* की आहुति द्वारा दिव्य शक्तियों की उपासना करें।

अभिप्राय यह है कि जीव ब्राह्मी वाक् के सहयोग से अपने मर्त्य स्तर को देवयजनी बनाकर अपने अमर जीवन के अमृत में निमग्न हो। इसी में मानव-जीवन की वह परिपूर्णता है जिसमें ब्रह्मसमाधि और कर्मसमाधि, मोक्ष और धर्म, अथ वा द्यौ और पृथिवी का शाश्वत और अविभाज्य समन्वय निहित होता है। ऐसे समन्वित व्यक्तित्व का स्वामी होकर जीव जहां, एक दृष्टि से, दिव्य वसु के अतिशय के कारण 'वसिष्ठ' हो जाता है वहां, दूसरी दृष्टि से, अन्नमय कोश से लेकर हिरण्यय कोश पर्यन्त विस्तृत निज वास के प्रति सजग और जागरूक होने से भी 'वसिष्ठ' (वस्तृ-तम) हो जाता है।

: ३ : ऋक्-साधना की परिणति

इस प्रकार, पुरूरवाः-उर्वशी-संवाद, वस्तुतः, ऋक्-साधना का एक रोचक वृत्तांत प्रस्तुत करता है। *ऋक्* शब्द *कृ* का विलोम है। *कृ* का तात्पर्य है स्थूल क्रिया जब कि *ऋक्* शब्द, उसके विपरीत, सूक्ष्म, चेतन-क्रिया का द्योतक है। इस चेतन-क्रिया का आरंभ पुरोहित अग्नि के उस ईडन से होता है जिसका संकेत *ऋग्वेद* के प्रथम मंत्र में ही मिल जाता है। ईडन का परिणाम एक ओर वह इडा है जो उन सब आंतरिक ज्योतियों अथ वा बुद्धियों के गण की गण्या है जिन्हें *दिवो-रुचः सु-रुचो रोचमानाः* अथ वा *रश्मयः सु-यामाः* कहा जाता है। दूसरी ओर, उसी ईडन से उक्त *पुरोहित 'इळ' अग्नि* वह रूप धारण करता है जो, विकल्पेन, *वृषा* अग्नि होकर, समिद्ध होताहुआ साधक के लिए वसुओं का आहरण करके उसको वसिष्ठ पद प्रदान करता है। पुराण में इळ और इळा एक ही तत्त्व के क्रमशः पुमान् और स्त्री भेद से दो पक्ष हैं। और यह तत्त्व, आख्यान में, मनु-पुत्र 'सु-द्युम्न' (अर्थात्, सु-ब्रह्म से द्योतित) है। यह सु-द्युम्न वस्तुतः ज्ञानपरक जीव *(अग्नि)* का वह दिव्य रूपांतर है जिसे, मननशील होने से, *मनु* कहा गया है। प्रकारांतर से, मनु का मनन ही *गीता* की वह ब्रह्मकर्मसमाधि में परिणत होनेवाला यज्ञ *(ईडन)* है जिसे *ब्रह्मोद्भव कर्म* भी कहा गया है। *ब्राह्मणों* में जब इळा को मनु की *पाकयज्ञिया दुहिता*

कहा जाता है तो भी उक्त ईडन-जन्य इडा तत्त्व ही अभिप्रेत है।

एक अन्य दृष्टि से, इडा मनु का वह ईडनात्मक अथ वा मननात्मक पाकयज्ञ है जिसके संबंध से वह *पाकयज्ञिया* कही गई है। यहां मन्तव्य है कि इडा नामक तत्त्व उस ईडनात्मक अथ वा मननात्मक योग-यज्ञ का मूलाधार है जो जीव का परिपाक करके उसे ब्रह्मकर्मसमाधि से ब्रह्मनिर्वाण की स्थिति में पहुंचाता है; पुरूरवा: को मनु पुरूरवा:, और मनु पुरूरवा: को वसिष्ठ पुरूरवा: बनाता है, और उसे ॐ होकर स्वर्ग में आनंदमग्न होने का अवसर प्रदान करता है।

७ गन्धर्व और अप्-सराएँ

पुरूरवा: और अप्सरा: (उर्वशी) का आख्यान वैदिक साहित्य के गंधर्वों और अप्-सराओं को समझने में भी सहायक हो सकता है। *शतपथ ब्राह्मण*[४३६] के अनुसार, अंत में, पुरूरवा: भी गंधर्व होकर उर्वशी और अपनी संतान के साथ स्वर्ग में रहने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। सूत्र-रूप में यह बात *ऋग्वेद* में भी देखी जा सकती है। वहाँ उर्वशी पुरूरवा: से कहती है, 'तुम्हारी प्रजाएं हवि से देव-यजन करेंगी और तुम स्वर्ग में मौज करोगे।'[४३७] *शतपथ* में इस कथन को विस्तार दे दिया गया है। उर्वशी के वियोग में व्याकुल होकर जब पुरूरवा: उसे ढूंढ़ते ढूंढ़ते पा लेता है तो वह उसे एक रात्रि सहवास का अवसर देती है। उसे उर्वशी से पुत्र-प्राप्ति भी होती है। उस रात वह पुरूरवा: को सलाह देती है कि वह गंधर्वों को प्रसन्न करके उनसे वर मांगे कि 'मैं तुममें से एक हो जाऊँ।' उसे वर मिलता है। गंधर्व उसे स्थाली में रखकर अग्नि देते हैं और कहते हैं कि उस अग्नि पर यज्ञ करके वह गंधर्व हो सकता है। गंधर्व उसे अग्नि के साथ कुमार भी सौंपते हैं। अग्नि और कुमार, दोनों को लेकर वह जाता है। मार्ग में एक अरण्य पड़ता है। वहां से वह दोनों को एक साथ ले जाने में कठिनाई अनुभव करता है। स्थाली-समेत अग्नि को अरण्य में ही छोड़कर, कुमार को अपने ग्राम में ले जाता है। उसने सोचा था कि लौटकर, दूसरी खेप में, अग्नि को ले जाऊंगा।

गंधर्वत्व की प्राप्ति : जब पुरूरवा: अरण्य में वापस आता है तो उसे न तो स्थाली दिखाई पड़ती है, न अग्नि। स्थाली शमी वृक्ष में समा गई और अग्नि अश्वत्थ में। वह निराश होकर फिर गंधर्वों के पास गया और उन्हें अपना दु:ख निवेदन किया। इस पर, गंधर्वों ने उससे तीन बातें कहीं।

१. तीन तीन आश्वत्थी समिधाओं को घृतवती करके यज्ञ करो।

२. आश्वत्थी उत्तरारणि और शमीमयी अधरारणि द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करो और उस पर यज्ञ करो।

३. आश्वत्थी उत्तरारणि के साथ अधरारणि भी आश्वत्थी लो और दोनों से अग्नि को प्रदीप्त करके यज्ञ करो और गंधर्वों में से एक हो जाओ।

: १ : अश्वत्थ और शमी

इन तीनों विधियों में प्रयुक्त समिधाओं अथ वा अरणियों का संबंध अश्वत्थ से है। अत: इन विधियों का प्रतीकार्थ समझने के लिए अश्वत्थ को जानना होगा। द्वितीय विधि में, अधरारणि को शमीमयी बताया गया है क्योंकि स्थाली शमी वृक्ष में ही

समाई थी। अग्नि अश्वत्थ वृक्ष में प्रविष्ट हुआ था। इसलिए, अश्वत्थ के साथ शमी के प्रतीकार्थ को भी जान लेना आवश्यक है।

अश्वत्थ वृक्ष : निःसन्देह, इस प्रसंग में अश्वत्थ को सामान्य पीपल वृक्ष समझना बड़ी भारी भूल है। *श्रीमद्भगवद्गीता* के अनुसार, अश्वत्थ एक ऐसा पेड़ है जिसकी जड़ उपर होती है और शाखाएं नीचे की ओर होती हैं। छन्द उसके पत्ते हैं। उसे जो जानता है वही वेदवेत्ता है।[४३८] *गीता* के भाष्यकारों ने यहां छन्द का अर्थ वेद किया है क्यों कि उनका ध्यान अश्वत्थ के वैदिक वर्णन की ओर नहीं गया। *काठकसंहिता* के अनुसार, वेद अश्वत्थ का मूल है और छन्द उसके पत्ते हैं।[४३९] इसका तात्पर्य है कि अश्वत्थ की मूल कल्पना में वेद और छन्द एक दूसरे से भिन्न समझे गए थे। वेद तो मनुष्य के व्यक्तित्व के अन्तस्तम कोश की वह सच्चिदानन्दमयी शक्ति है जिससे प्राप्त ब्रह्म-वीर्य द्वारा इष्ट कर्म किए जा सकते हैं,[४४०] जब कि छन्द वे प्राण हैं[४४१] जो संवेदना, वेदना, भावना, इच्छा, आदि के रूप में ब्रह्म-वीर्य का छादन[४४२] करके उसे प्रसारित करते हैं। इन प्राण-रूप छन्दों द्वारा ही वह 'इष्ट' कर्म *(श्रेष्ठतम कर्म)* संपन्न होता है जिसे यज्ञ कहा जाता है।[४४३]

दूसरे शब्दों में, अश्वत्थ वह वेद-मूलक प्राण-प्रसार है जो 'इष्ट' कर्म में परिणत होता है। *कठ उपनिषद्* के शब्दों में, यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष ही *शुक्र*, *ब्रह्म* और *अमृत* कहलाता है। इस पर सब लोक आश्रित हैं। यह वह ऊँ है जिससे परे कोई नहीं जाता है। इससे निःसृत जो जगत् है उसे प्राण गतिशील करता है। उसे जो जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं,

ऊर्ध्व-मूल अवाक्शाख, एषोश्वत्थः सनातनः।
तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म, तद् एवामृतम् उच्यते।
तस्मिँल् लोकाः श्रिताः सर्वे, तद् उ (ऊँ) नात्य् एति कश् चन। एतद् वै तत्।
यद् इदं किं च जगत् सर्वं, प्राण एजति निः-सृतम्।
महद् भयं वज्रम् उद्-यतं, य एतद् विदुर् अमृतास् ते भवन्ति। कठ-उ. ६.१; २

तात्पर्य यह है कि उक्त वेद-मूलक अश्वत्थ वस्तुतः वही सनातन तत्त्व है जिसे ब्रह्म कहा जाता है। इससे उत्पन्न समस्त जगत् में सर्वत्र प्राणिक चेतना प्रवाहित होरही है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय लोक उसी में समाश्रित हैं। इनमें से अंतिम दो क्रमशः गंधर्वलोक और ब्रह्मलोक हैं जिनमें वह ब्रह्म क्रमशः छाया और आतप के समान लक्षित होता है,

यथादर्शे तथात्मनि, यथा स्वप्ने तथा पितृ-लोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्व-लोके छायातपौ ब्रह्म-लोके। कठ-उ. ६.५

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में जिसे आदर्श-वत् आत्मा कहा है वह ब्रह्म-लोक है और जिसे स्वप्न-जैसा पितृ-लोक बताया है वह गंधर्व-लोक प्रतीत होता है। अत: पूर्वोक्त जिन तीन अग्नियों में यज्ञों द्वारा पुरूरवा: को गंधर्व होना है उनका लक्ष्य संभवत: यही गंधर्व-लोक (विज्ञानमय कोश) है। इस संभावना की पुष्टि आगे हो जाएगी। पर इससे पूर्व, आइए, अश्वत्थ वृक्ष के सहयोगी शमी वृक्ष पर विचार कर लें।

शमी वृक्ष : शमी पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अश्वत्थ तो अग्नि के 'रेतस्' (पतला भाग) का रूपांतर है जब कि उसके 'उल्ब' (गाढ़े भाग) का आरोह शमी है।[४४४] शमी को आरोह और उल्ब (गाढ़) कहने से यह भी ध्वनित होता है कि अश्वत्थ अवरोह कहा जाता होगा, क्यों कि जिस वेद को अश्वत्थ का मूल कहा जाता है उसके प्रसंग में भी आरोह (अन्तर्धान) और अवरोह *(उद्-भरण)* द्वारा प्राप्त ब्रह्म-वीर्य से 'इष्ट' कर्म करने की बात कही जाती है।[४४०] शमी अघों और द्वेषों का शमन करनेवाला, अन्तर्मुख या केन्द्रोन्मुख चेतना-प्रवाह है जो चित्त-वृत्तियों के निरोध में सहायक होने पर प्रगाढ़ होता है। इस आरोह के विपरीत, अश्वत्थ चेतना का वह बहिर्मुख प्रवाह है जो वेद में पूर्वोक्त प्रगाढ़ उल्ब के अवरोह से आरंभ होकर विज्ञानमय कोश से लेकर मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों के नानात्व में सर्वत्र प्रसारित हो जाता है। इसके कारण साधक के जो पार्श्व-द्वय और मध्य भाग आरोहण-काल में स्तब्ध हो गए थे वे अब फिर श्वास लेने लगते हैं।[४३९] दूसरे शब्दों में, शमी वृक्ष चेतना का शांति देनेवाला, अन्तर्मुखी प्रवाह है और अश्वत्थ वृक्ष चेतना का कार्यपरक, प्राणिक चहल-पहल पैदा करनेवाला, बहिर्मुखी प्रवाह है।

त्रिविध यज्ञ : उभय-विध चेतना का यह प्रवाह अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों के संदर्भ से त्रिविध हो सकता है।

अन्नमय कोश में यह प्रवाह इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को दैव्य व्रत(देव-व्रत)-रूप घृत[४४५] से युक्त करके, यज्ञ *(श्रेष्ठतम कर्म)* करना कहलाता है। तीन तीन आश्वत्थी समिधाओं से होनेवाला यज्ञ यही है। इससे योग के यम-नियम पुष्ट होते हैं।

प्राणमय कोश में चित्तवृत्तिनिरोध-पूर्वक गहरी श्वास भीतर लेना शमीमयी अधरारणि है। ओंकार के मानसिक-उच्चारणपूर्वक श्वास बाहर निकालना आश्वत्थी उत्तरारणि है। यह दूसरा यज्ञ है। इससे प्राणायाम और प्रत्याहार पुष्ट होते हैं।

मनोमय कोश में होनेवाले यज्ञ के लिए, सब इच्छाओं और विचारों को निष्कासित करके मन को निर्विषय करना आश्वत्थी अधरारणि है। धारणा और ध्यान के लिए यत्नशील होना आश्वत्थी उत्तरारणि है।

इन दोनों अरणियों के संयोग से जो ज्ञानाग्नि उत्पन्न होता है उसमें सर्व कर्मों को दग्ध करनेवाला समाधि-रूप यज्ञ आरंभ होता है। यह विज्ञानमय कोश की तुरीयावस्था का *प्राञ्च अध्वर* है।[४४६] अथ वा यह अध्वरों का नेता है।[४४७] इसे 'विशः' नामक प्राणों की *पावक अरति* (वैराग्य) कहा जाता है। 'विशः' से तात्पर्य मरुतों, विश्व देवों, आदित्यों, रुद्रों और वसुओं से होता है।[४४८] वे इस यज्ञ को साधुतापूर्वक प्रणयन करनेवाले और क्षेत्रपति (आत्मन्वी ब्रह्म) को चाहने वाले 'मनु' भी कहे जाते हैं।[४४९]

उपर्युक्त विशः में से मरुतों को *देव-विशः* कहा जाता है।[४५०] ये मरुत अश्वत्थ नामक चेतना-प्रवाह (वृक्ष) के मूलाधार हैं। अतः अश्वत्थ को मरुतों के तेज से उत्पन्न,[४५१] *मारुत*[४५२] अथ वा विशः के वीर्य को धारण करनेवाला[४५३] कहा जाता है। इस तेज या वीर्य का संबंध मनुष्य के आनन्दमय और विज्ञानमय कोशों से है। इन कोशों को क्रमशः *उरु ऊँ लोक* और *उरु अंतरिक्ष* भी कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में, अश्वत्थ और शमी की सहायता से होनेवाला त्रिविध यज्ञ वस्तुतः अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों के अवर इन्द्र को मरुतों से जोड़ता है। यह त्रिविध यज्ञ क्रमशः अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों के उन अग्नियों में होनेवाला यज्ञ है जिनकी संज्ञा *गर्भोपनिषद्* में *कोष्ठाग्नि, दर्शनाग्नि* और *ज्ञानाग्नि* बताई गई है।[४५४] इस त्रिविध यज्ञ से जहां अन्नमय-प्राणमय और प्राणमय-मनोमय की दो संधियां उत्पन्न होती हैं वहां मनोमय-विज्ञानमय की तीसरी संधि भी प्रकट हो जाती है। इसी लिए *त्रिकर्मकृत् त्रिणाचिकेत* कहतेहुए त्रिविध यज्ञ को तीन कर्मों द्वारा ऐसी संधि प्राप्त करनेवाला बतलाया गया है जो जन्म और मृत्यु को पार कर ज़ाता है।[४५५] यहां यह संकेत अभिप्रेत है कि विज्ञानमय कोश से जुड़कर वह त्रिविध यज्ञ हिरण्यय कोश के उस ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग को प्राप्त करता है जहां स्थित देव का साक्षात्कार करके अध्यात्मयोगी हर्ष और शोक के द्वंद्व से मुक्त हो जाता है।[४५६] जब उर्वशी पुरूरवाः से आशा करती है कि उसकी प्रजा हवि द्वारा देव-यजन करेगी और वह स्वयं स्वर्ग में मौज करेगा तो उसका अभिप्राय इसी स्वर्ग से है। इसकी प्राप्ति के लिए उसे जो गन्धर्वत्व ग्रहण करना है वह विज्ञानमय आत्मा का पद है। वह मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा होकर उसे पूर्ण कररहा है।[४५७]

: २ : गन्धर्वत्व

इस प्रकार, अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों के संदर्भ से मानेगए त्रिविध अग्नि को प्रदीप्त करके पुरूरवाः (जीव) जिस गन्धर्वत्व को प्राप्त करता है वह

विज्ञानमय कोश की प्राप्ति है। इसमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों का सारा नानात्व एकीभूत होता है। इसी लिए विज्ञानमय कोश के आत्मा का एक नाम *योग* भी है।[४५८] आंतरिक कोशों को जब 'विश्व' कहा गया तो विज्ञानमय आत्मा को सब विश्वों के वसुओं का केन्द्र-बिन्दु मानकर, उसे *विश्वावसु गन्धर्व* कह दिया गया।[४५९] विज्ञानमय कोश का अन्तर्वर्ती आनन्दमय कोश है जिसमें सोम (आनन्द) है। अत: विश्वावसु (विज्ञानमय आत्मा) को सोम की चारों ओर से रक्षा करनेवाला कहा जाता है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों के बाद चतुर्थ कोश होने के कारण, इसे *तुरीय चैतन्य* कह सकते हैं।

इससे भी परे एक अन्य गन्धर्व है जिसे 'वेन' नामक *ऊर्ध्व* गन्धर्व कहा जाता है। एक पूरे सूक्त (ऋग्वेद १०.१२३) में इसका वर्णन है।[४६०] *क* (सुख) और *अ-क* (अ-सुख=दु:ख) के द्वंद्व से रहित जिस *नाक (न-अक)* नामक स्वर्ग में वह स्थित है वह नि:सन्देह आनन्दमय कोश है, मंत्र ७। एक अन्य मंत्र (५) में उसे *हिरण्यय पक्ष* पर स्थित बताया गया है; यह संकेत भी आनन्दमय (हिरण्यय) कोश की ओर है। यही वह स्वर्ग *(नाक)* है जिसे संयमशील जीव *(यम)* का उत्पत्तिस्थान कहा जाता है और जिसमें उड़तेहुए पक्षी (जीव) को हृदय से चाहनेवाले ही देख पाते हैं, मंत्र ६। यहीं प्राणों *(आप:)* का वह संगमस्थल है जहां रज: का निर्माण समाप्त *(रजस: वि-माने)* हो जाता है और जहां सूर्य-शिशु तुल्य वेन को योगी *(विप्र)* अपनी मतियों से चाटते हैं, मंत्र १। यही वह परम व्योम है जहां ब्रह्मवाग्-रूप अप्-सरा: (उर्वशी) अपने संयमशील जार (पुरू-रवा:) की ओर मुस्कातीहुई उसका भरण-पोषण करती है, मंत्र ५। अत:, पूर्वोक्त तुरीय-चैतन्य-स्वरूप पुरू-रवा: गन्धर्व का विकसित रूप होने से, वेन गन्धर्व को 'तुरीयातीत आनन्दमय चैतन्य' कह सकते हैं।

इस वेन गन्धर्व (तुरीयातीत चैतन्य) को और उससे जुड़ीहुई अप्-सरा: को क्रमश: ऋ १०.१०.४ के उस गन्धर्व में और *अप्या योषा* में देख सकते हैं जिन्हें यम-यमी की नाभि कहा गया है। दोनों युग्मों का संबंध उसी आनन्दमय कोश-रूप *नाक* या *परम व्योम* से है जहां पूर्वोक्त यम (संयमशील) का उत्पत्तिस्थान होने का संकेत है।[४६१] तात्पर्य यह है कि जीव तभी यम (संयमशील) बनेगा जब वह साधना द्वारा आनन्दमय कोश के तुरीयातीत चैतन्य के लिए अपने में हार्दिक चाह पैदा करेगा। इस चाह के बलवती होने से उसकी बुद्धि संयमशील होकर यमी बन जाएगी और यम को सोम *(मधु)* के लोक (आनन्दमय कोश) में जाने के लिए प्रेरित करेगी।[४६२] अन्यथा, बहिन होतीहुई भी, यमी यम को ऋ १०.१० सूक्त में पथभ्रष्ट

करती हुई-सी प्रतीत होती है।*

संयमशील युग्म के समान *(यमे-इव यतमाने)*, जब दोनों *ॐ लोक* अथ वा आनन्दमय कोश में सोम *(इंदु)* के लिए आसीन होने का आदेश पाते हैं तभी यम पंचकोशीय पांच पदों पर आरोहण करने का, चतुष्पदी (प्रथम चार कोशों) का व्रतपूर्वक अनुसरण करने का और बुद्धि को ऋत की नाभि (आनन्दमय कोश) में अक्षर (ओंकार) द्वारा पवित्र करने का संकल्प करता है।[४६३] अक्षर (ओंकार) वह ब्रह्म है जो आनन्दमय(हिरण्यय)-कोश रूप ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग में आत्मा से युक्त *(आत्मन्वत्)* होकर विराजमान है। ब्रह्म का सायुज्य होने के कारण, आनन्दमय कोश जीव (गन्धर्व) का वह ध्रुव पद कहा जाता है जहां विप्र अपनी ध्यान-क्रियाओं द्वारा *(धीतिभिः)* सोम *(घृतवत् पयः)* को चाटा करते हैं।[४६४]

उपद्रवी गंधर्वाप्सराएँ : इसका अभिप्राय यह है कि गन्धर्वों के कुछ ऐसे भी पद हैं जो अ-ध्रुव हैं। निःसन्देह, आनन्दमय कोश से नीचे जो कोशों की चतुष्पदी है वह ध्रुव नहीं है। उनसे पतन संभव है। इसी लिए यम उन पर व्रतपूर्वक आरोहण करने का संकल्प करता है। चतुष्पदी में ही ऐसे गंधर्व और अप्-सराः भी हो सकते हैं जिन्हें प्रजापति उपद्रव देता है।[४६५] इन उपद्रवियों को 'घोर' कहा जाता है। उनको नष्ट करने की कामना की जाती है।[४६६] जो गन्धर्व स्त्रियों का सेवन करता है उसका नाश ब्रह्म-वीर्य से सम्भव है।[४६७] ऐसे अप्सराः-पति गन्धर्वों से कहा जाता है कि तुम भाग जाओ; अमर्त्य होतेहुए, मर्त्यों का सेवन मत करो।

साधुवेदिनी अप्-सराः आहवनीय है।[४६८] पर ऐसी भी अप्सराएं हैं जो अक्षप्रमोदिनी और शोक, क्रोध को धारण करनेवाली हैं।[४६९] अतः घोर गन्धर्वों के समान, उपद्रवी अप्सराओं को भी दूर भगाने अथ वा नष्ट करने की इच्छा व्यक्त की जाती है।

: ३ : गंधर्वों और अप्-सराओं का मूल आधार

इससे स्पष्ट है कि गंधर्व और अप्-सराः की कल्पना का उद्‌भव और विकास किसी ऐसे आध्यात्मिक तत्त्व से हुआ है जो साधु-असाधु, भद्र-घोर, सद्-असत् अथ वा शुभ-अशुभ जैसे द्वंद्व का बीज है। नारायण-सुता होने पर भी, उर्वशी शापित होकर मर्त्य लोक में आती है। पुरूरवाः मर्त्य है पर वह अमर लोक की अप्-सराः का प्रेमी गन्धर्व होकर स्वर्ग के सुख भोगता है। इससे संकेत मिलता है कि अप्-सराः का तो अवरोह या अवतरण होता है और गन्धर्व का आरोह होता है।

* यम-यमी के प्रतीकत्व पर द्रष्टव्य, फ़तहसिंह, *ढाई अक्षर वेद के*, पृष्ठ ४८-५२।

फिर भी गंधर्वों और अप्-सराओं में कुछ विशेषताएं समान हैं। पृथ्वी की गंध का सेवन दोनों करते हैं।[४७०] दोनों का गंध और रूप से संबंध है।[४७१] दोनों ही ऋतधामा लोक के रक्षक हैं।[४७२] दोनों ही राष्ट्रभृत हैं।[४७३] दोनों उन्माद पैदा करनेवाले भी हैं।[४७४]

ऐसी स्थिति में, क्या सब गन्धर्वों और अप्-सराओं की व्याख्या, पुरूरवा: और उर्वशी के समान, इनको क्रमश: प्राण और वाक् के प्रतीक मानकर की जा सकती है? यदि हां, तो क्या इसके लिए कोई अतिरिक्त प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में निम्न लिखित मंत्र द्रष्टव्य है,

अप्सरासु च या मेधा, गन्धर्वेषु च यन् मन:।
दैवी मेधा मनुष्य-जा, सा मां मेधा सुरभिर् जुषताम्। तैआ. १०.४१

इस मंत्र से स्पष्ट है कि अप्-सराओं का मूल आधार है मेधा, और गन्धर्वों का है मन। मेधा और मन वस्तुत: मनुष्य-ज रूप हैं उस दैवी मेधा के जिसे *सुरभि* कहा जाता है। यह सुरभि अप्-सराओं की मेधा और गन्धर्वों के मन का अद्वैत बीज है। इस दैवी मेधा को अन्यत्र *प्रथमा ब्रह्मण्वती* कहा गया है।[४७५] अत: यह नारायण-सुता और ब्राह्मी वाक् कही जानेवाली अतिमानसिक 'उर्वशी' है, जब कि अन्य अप्-सराओं को मानसिक स्तर की मेधा (वाक्) की रूपांतर समझा जाना चाहिए। इन दूसरे प्रकार की अप्सराओं को पुराणों में *मौनेया* नाम दिया गया है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति : यदि गन्धर्वों के मन और अप्-सराओं की मेधा का मूल एक है, तो गन्धर्वों और अप्-सराओं में, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, क्या भेद है? इस प्रसंग में, *शतपथ ब्राह्मण* में उपलब्ध गन्धर्वों और उनसे संबद्ध अप्-सराओं की यह सूची उपयोगी हो सकती है।[४७६]

गन्धर्व	*अप्-सराएं*
अग्नि	ओषधियां (दाहक शक्तियां)
सूर्य	मरीचियां (प्रखर रश्मियां)
चन्द्रमा	नक्षत्र (शान्त रश्मियां)
वात (प्राण)	आप: (व्यापनशील–सक्रिय प्राण)
यज्ञ *(श्रेष्ठतम कर्म)*	दक्षिणा (दक्षताएं)
मन	ऋक्-साम (ज्ञान-भावना शक्तियां)*

* तुलनीय, मनोमय कोश के दक्षिण और उत्तर पक्षों के रूप में ऋक् और साम, तैआ. ८.३.१; तैउ. ३.१०.३

गन्धर्वों और अप्-सराओं के उक्त छह युग्मों से स्पष्ट है कि प्रत्येक गन्धर्व अपनी अप्-सराओं के द्वारा व्यक्त होता है। बाह्य जगत् के अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा क्रमश: अपनी दाहक, प्रखर और शांत किरणों द्वारा अभिव्यक्ति पाते हैं। उसी प्रकार, प्राण अपने को अनेक सक्रिय प्राणों द्वारा, यज्ञ कार्य-दक्षताओं द्वारा और मन ज्ञान-भावनात्मक शक्तियों द्वारा प्रकट करता है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में यों कह सकते हैं कि प्रत्येक गन्धर्व दैवी मेधा का कोई न कोई अनुभूति-पक्ष है और उसकी अप्-सराएं उस पक्ष की अभिव्यक्तियां हैं। दैवी मेधा वह अतिमानसिक काम है जिसे *मनसो रेत:* कहा जाता है।[४७७] यह काम निम्न स्तरों पर मन होकर अनुभूति और अभिव्यक्ति का मिथुन उपस्थित करता है।

गन्धर्वों और अप्-सराओं की यह दैवी-मेधा(अतिमानसिक काम)-मूलकता उनके साहित्यगत वर्णन में नाना रूपों में अत्यधिक उभरी है। गन्धर्वों की पत्नियां अप्-सराएं हैं।[४७८] गन्धर्वों को स्त्री-कामुक कहा जाता है।[४७९] प्रत्येक अनुभूति नाना रूपों में अभिव्यक्त होने के लिए लालायित रहती है। अत: गन्धर्वों को अप्-सराओं को चाहनेवाला माना गया है। संगीत, नृत्य, आदि कलाओं से गन्धर्वों और अप्-सराओं का विशेष संबंध बताया जाता है, क्यों कि कलाएं अनुभूति और अभिव्यक्ति के लालित्य पर आश्रित होती हैं। 'लालित्य' है कलात्मक अभिव्यक्ति (अप्-सरा:) और 'गन्ध' है सौन्दर्यानुभूति (गन्धर्व)। अत: अनुभूति और अभिव्यक्ति के प्रतीक-स्वरूप गन्धर्वों और अप्सराओं को गन्ध और रूप के साथ विचरण करनेवाला कहा जाता है।[४८०] गन्धर्व शरीर-अन्न में रूप की उपासना करते हैं, अप्-सराएं उसमें गन्ध की उपासना करती हैं।[४८१] शरीर-अन्न की उपासना जो जिस रूप में करता है उसके लिए वह (शरीर-अन्न) वैसा ही हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्ति-रूप अप्-सराएं जिस शरीर (अनुभूति) की गन्ध रूप में उपासना करती हैं वह, मानो, कहता है, *अहम् गन्धो व:* (युष्माकम्)। अत: 'गन्ध:+व:' से 'गन्धर्व' शब्द निष्पन्नहुआ माना जा सकता है। इसके विपरीत, रूपोपासक गन्धर्वों के लिए, अप्स-राएं 'अप्स' (रूप)[४८२] को प्रस्तुत करनेवाली हैं। अत: 'अप्सरा:' शब्द की निरुक्ति रूपवाचक 'अप्स' के साथ दानार्थक 'रा' धातु के योग से भी की जा सकती है।

इस प्रसंग में गन्धर्वों और अप्-सराओं का आप: से जो संबंध है वह भी महत्त्वपूर्ण संकेत देता है। जहां *आपोप्सरस:* उक्ति[४८३] प्रसिद्ध है, वहां गन्धर्वों का सदन 'समुद्र' कहा जाता है।[४८४] गन्धर्व और अप्-सरा: की कल्पना क्रमश: मन और मेधा अथ वा प्राण और वाक् पर आश्रित है। तो क्या गन्धर्वों और अप्सराओं से संबद्ध 'आप:' को भी, इसी प्रकार, कोई आध्यात्मिक तत्त्व मानना चाहिए? इस शंका की

पुष्टि इस बात से होती है कि वेदों में जो आप: बरसतेहुए बतलाए गए हैं या देखे जाते हैं वे वस्तुत: तेज: और ब्रह्म-वर्च: हैं।[४८५] आप: को संज्ञान कहा गया है।[४८६] *आपो वै श्रद्धा,*[४८७] *आपो वै सर्वे कामा:*[४८८] *आपो वै प्राणा:,*[४८९] आदि उक्तियां भी आप: के आध्यात्मिक (श्रद्धा, काम, प्राण, आदि) स्वरूप की ओर इंगित करती हैं। 'आप:' मरुत हैं[४९०] और मरुतों को इन्द्र गन्धर्व की अप्-सराएं कहा जाता है।[४९१] इसी लिए पौराणिक इन्द्र से अप्-सराओं का घनिष्ठ संबंध है। वह मेघों द्वारा वृष्टि भी कराता है; अत: उसका संबंध आप: से भी है।

गन्धर्वों और अप्-सराओं का 'आप:' के साथ जो सम्बन्ध है उसके परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि गन्धर्वों और अप्-सराओं के आधारभूत जो क्रमश: मन और वाक् हैं उनका भी मूल मानकर, ऊपर, जिस दैवी मेधा को *मनसो रेत:* नामक काम बताया गया है वह, वस्तुत:, 'आप:' ही है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि जहां आप: 'आद्या सृष्टि' हैं वहां काम भी प्रत्येक सृष्टि का कारण होता है। इसलिए, दोनों ही आदि में स्थित कहे जाते हैं।[४९२] आप: हैं प्रजापति। प्रजापति के मन में ही काम हुआ कि मैं सृष्टि करूँ।[४९३] आप: प्राण हैं।[४९४] प्राण *उभयत: वैश्वानर* हैं।[४९५] काम भी वैश्वानर है।[४९६] इसलिए, ऐसा लगता है कि आध्यात्मिक सृष्टि की दृष्टि से आदिम काम को प्राण-रूप आप: माना गया है और उसके रूपांतरों को गन्धर्वों और अप्-सराओं के रूप में कल्पित किया गया है। अनुभूति-रूप काम, मानो, अभिव्यक्तियों से कहता है कि मैं तुम्हारा *(व:)* गति-धारक *(गम्+√धृ)* हूँ। इसी प्रकार, अनुभूति-रूप आप: *(प्राणा:)* को अभिव्यक्ति-रूप में प्र-सारण करने से काम को अप्-सरा: *(अप्+√सृ)* कहा जा सकता है। गन्धर्व(अनुभूति)-रूप में अपनी गति को थामनेवाली दैवी मेधा काम है, तो अप्-सरा:(अभिव्यक्ति)-रूप में उस गति को छूट देकर व्याप्ति प्रदान करनेवाली उर्वशी भी काम ही है। अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के रूप में एक ही तत्त्व (काम, दैवी मेधा) विश्व (आंतरिक जगत्) के नरों (प्राणों) का रूप धारण करके 'वैश्वानर' कहलाता है। अनुभूति-रूप में वह अव्यक्त प्राण है[४९७] और अभिव्यक्ति-रूप में वह व्यक्त प्राण है–प्रथम गन्धर्व है, अन्य अप्-सरा: है। एक अभिव्यक्ति (रूप) के लिए व्याकुल और गन्ध से युक्त (गन्धर्व) है, और अन्य उस गन्ध को व्याप्ति (अभिव्यक्ति) द्वारा रूप *(अप्स)* देनेवाली *(अप्स-रा:)* है।

अत: काम अव्यक्त अनुभूति (वाक्-प्राण) के रूप में एक समुद्र है। अथ वा वह अभिव्यक्ति-रूपिणी धाराओं का एकीकृत अनंत भण्डार है।[४९८] जब कि वह अभिव्यक्ति-रूप में अलग अलग, अनेक अवान्तर *कामों* का रूप धारण कर लेता

है। प्रथम रूप में वह *मनो गन्धर्वः* है[४९९] जिसमें काम आ-श्रित हैं,[५००] तो दूसरे में वह कामदुघा *(अप्-सराः)* होकर अनेक *कामों* अथ वा विश्व देवों (प्राणों) को प्रकट करता है।[५०१] अनुभूति-रूप में जो 'राधा' अथ वा 'राधः' नामक वसु गन्धर्व है वही अभिव्यक्ति में वसु-धारा होकर फैल जाती है,[५०२] व्यापनशील अप्-सराः हो जाती है।

: ४ : गन्धर्व और सूर्या

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मूल तत्त्व 'दैवी मेधा' है जिसे *ब्रह्मण्वती* कहा जाता है। इसी के लिए, पहले *ब्राह्मी वाक्* नाम का प्रयोग किया गया। यही नारायण-सुता उर्वशी के रूप में कल्पित हुई। इसी को ब्रह्म-सूर्य की पुत्री 'सूर्या' की परिकल्पना में पाते हैं। ब्रह्म-रूप सूर्य वह 'सविता' है जो अपनी पुत्री सूर्या को सोम के लिए समर्पित करता है।[५०३] यह सविता-ब्रह्म वह प्रजापति है जो अपनी दुहिता सूर्या 'सावित्री' को सोम के लिए सौंप देता है।[५०४] सोम स्वयं उस सूर्या को गन्धर्व के लिए देता है। गन्धर्व उसे अग्नि के लिए देता है।[५०५] इस प्रकार, सूर्या के तीन पति हुए। उनके अतिरिक्त चौथे स्थान पर उसके अनेक पति होते हैं जिनको 'मनुष्य-जाः'[५०६] कहा जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि तो सूर्या के 'दैव्य' पति हैं, जब कि 'मनुष्य-जाः' पति उनसे भिन्न और निचले स्तर के हैं। दैव्य पतियों का स्थान निःसन्देह वह दैवी त्रिलोकी है जिसमें आनन्दमय और विज्ञानमय कोशों के साथ मनोमय कोश भी एकजुट हो जाता है। इनमें से आनन्दमय कोश का 'आनन्द आत्मा'[५०७] सोम है जिसके लिए सविता-ब्रह्म सूर्या को सर्वप्रथम देता है। सोम से जिस गन्धर्व के लिए सूर्या प्राप्त होती है उसका उल्लेख एक सोम-सूक्त के अन्तर्गत इस प्रकार हुआ है,

गन्धर्व इत्था पदम् अस्य रक्षति, पाति देवानां जनिमान्य् अद्भुतः।
गृभ्णाति रिपुं नि-धया नि+धा-पतिः, सु+कृत्-तमा मधुनो भक्षम् आशत।
ऋ. ९.८३.४

यह गन्धर्व विज्ञानमय कोश का 'योग आत्मा' है जो अपने अन्तर्वान् आनन्दमय कोश की रक्षा करता है। आनन्दमय कोश को मंत्र में 'सोम का पद' कहा गया है। यहां स्थित आनन्द-सोम सूर्या-सावित्री को विज्ञानमय कोश के गन्धर्व (योग आत्मा) के लिए सौंपता है। विज्ञानमय कोश का आत्मा है वृत्र-घ्न इन्द्र। विज्ञानमय कोश का यह आत्मा उन अनेक देवों के जन्मों को जानता है जो मनोमय कोश के स्तर

पर प्रकट होते हैं। ये देव वे *सुकृत्-तम* हैं जो मनोमय कोश के स्तर के अहंकार-रूप शत्रु को आत्मसात् करते हैं।

विज्ञानमय कोश का गन्धर्व जिस अग्नि के लिए सूर्या को देता है उसे वेद में *पुरो-गव* कहकर परोक्ष बना दिया गया है। इस शब्द का अर्थ है अग्रगामी, अग्रणी। *अग्र-यावा* शब्द स्पष्टतः अग्नि की ओर संकेत करता है, ऋ. १०.७०. २।[५०८] चेतना की आरोहण प्रक्रिया द्वारा मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों की अनेकतामयी मानुषी त्रिलोकी की समस्त बहुलता का विज्ञानमय कोश के 'योग आत्मा' में एकीकरण हो जाता है। पर चेतना की अवरोहण प्रक्रिया द्वारा जब मानुषी त्रिलोकी की अनेकतामयी सृष्टि होती है तो उसके लिए आदेश देनेवाला मनोमय पुरुष वह है जिसे *आदेश आत्मा* कहा जाता है। आरोहण-क्रम में, जब मनोमय कोश ने विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों के साथ दैवी त्रिलोकी बनाई थी तो यह आत्मा आदेश लेने के लिए ऊपर गया था। वही 'आदेश आत्मा' अब अवरोहण-क्रम में अतिमानसिक ज्ञान से युक्त ज्ञानाग्नि होकर और सूर्या नामक दिव्य शक्ति को लेकर नीचे आ जाता है। मानुषी त्रिलोकी के प्राणों के लिए सूर्या को सौंपकर वह आदेश देता है कि इसका सदुपयोग करो। मानुषी त्रिलोकी के ये प्राण सूर्या के *मनुष्य-जाः पति* हैं।

सूर्या के 'इन मनुष्य-जाः' पतियों का उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेक तरह से हुआ है। ये सब वे प्राण हैं जो मनोमय कोश से प्रसूत होकर प्राणमय और अन्नमय कोशों के *मनोर्-जाता मनो-युजा प्राणाः*[५०९] अथ वा *मनु-जाता मनोयुजा प्राणाः*[५१०] कहे जाते हैं। ये प्राण इच्छाओं, भावनाओं, विचारों, संकल्पों और क्रियाओं के रूप में अनेकविध हो जाते हैं। इन प्राणों का 'मनु-जाताः' विशेषण पूर्वोक्त 'मनुष्य-जाः' का ही वैकल्पिक रूप है। ये सब मनु-सन्तान होने से साधु ही होते हैं क्यों कि मनु के विषय में कहा जाता है कि वह जो भी कहता है वह ओषधि (भेषज) हो जाता है।[५११] दूसरे शब्दों में, मनु की सब अभिव्यक्तियां शुभ ही होती हैं। वास्तव में 'मनु' उस मननशील जीव का नाम है जो अपने में दैव्य स्वरूप *(जन)* को प्रकट करता है। अतः कहा जाता है, *मनुर् भव, जनया दैव्यं जनम्,*[५१२] 'मनु बनो, दैव्य जन को जन्म दो।' दैव्य जन से प्रसूत प्राणों को 'देव' कहा जाता है।

सूर्या के इन 'मनुष्य-जाः' पतियों का देवत्व तभी तक रहता है जब तक मनु असुरों के प्रभाव में नहीं आता है। अहंकार-रूप वृत्र के प्रतिनिधि होकर जब काम-क्रोध रूप असुर पुरोहित *(असुरब्रह्माणौ)*[५१३] मनु के नेता बनते हैं तो उसका पतन होने लगता है। ऐसी स्थिति में 'मनु-जात' प्राण दूषित हो जाते हैं। ईर्ष्या-द्वेष,

मोह-मत्सर, आदि दुर्गुणों की सृष्टि करनेवाले ये असुर प्राण ही हैं जो पूर्वोक्त देव-प्राणों का अहित चाहनेवाले शत्रु होते हैं। इनको 'दस्यु' कहा गया है।

सूर्या का उपयोग : पुरूरवा: (जीव) को उर्वशी की प्राप्ति, वस्तुत:, मनु-जात पतियों को सूर्या की प्राप्ति का ही एक संस्करण है। पुरूरवा: उर्वशी का सदुपयोग नहीं कर पाया। इसी लिए उर्वशी ने पुरूरवा: को त्याग दिया। सदुपयोग तो तब होता जब उर्वशी की शर्तों का पालन होता। पहली शर्त थी दो मेषों का सदा उर्वशी के निकट रहना। दो मेष प्रतीक हैं उन्मेष और निमेष के। चेतना के आरोहण द्वारा ज्ञान-नेत्र को खोलना *उन्मेष* है और प्राप्त ज्ञान को आत्मसात् करना *निमेष* है। ये ही वे दो मेष हैं जिनके बिना ब्राह्मी वाक् अथ वा ब्रह्मण्वती मेधा (उर्वशी) को बनाए रखना सम्भव नहीं है। जीव का अहंकार-युक्त स्वरूप उसकी नग्नता है। जीव के उस रूप को देखकर मेधा (सूर्या–उर्वशी) उसके पास नहीं रह सकती है। यदि मेधा का सदुपयोग करना है तो समाधि और व्युत्थान के रूप में दोनों मेषों की सुरक्षा के साथ साथ व्यक्ति का निरहंकार होना आवश्यक है।

सामान्यत: जीव इन दोनों के अभाव में दैवी मेधा से वंचित ही रहता है। उसे प्राप्त करने का उपाय है यज्ञ–पहले तो पूर्वोक्त कोष्ठाग्नि, दर्शनाग्नि और ज्ञानाग्नि में यज्ञ, फिर उन्-मनी और स-मनी शक्तियों द्वारा प्रदीप्त अतिमानसिक ज्ञानाग्नि में यज्ञ, तत्पश्चात् केवल उन्-मनी के आनन्दमय कोश में होनेवाले अवरोहण-आरोहण से प्रदीप्त ज्ञानाग्नि में यज्ञ (सोम-याग)। इस त्रि-णाचिकेत अग्नि में होनेवाले यज्ञ के अग्नियों के प्रतीक हैं क्रमश: *आहवनीय, दक्षिण* और *गार्हपत्य* अग्नि। ये तीनों अग्नि क्रमश: सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक चेतना के प्रतीक हैं। इन पर यज्ञ करने का वास्तविक तात्पर्य था समाज, परिवार और व्यक्ति की चेतना को ब्राह्मी बनाना। इस विषय की अच्छी तरह व्याख्या तभी संभव है जब सब श्रौत यज्ञों के प्रतीकवाद को स्पष्ट किया जाए। ऐसा करना यहां सम्भव नहीं है।

सूर्या, अग्नि और आप: : फिर भी, इन अग्नियों से संबंधित आप: पर विचार करना यहां उपयोगी होगा क्यों कि, जैसा पहले देख चुके हैं, गन्धर्व और अप्-सरा:, दोनों का आप: से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहा जाता है कि देव-यजन के आहवनीय से *प्राची: आप:* दौड़ती हैं और गार्हपत्य से *प्रतीची: आप:*।[५१४] आहवनीय शम है और गार्हपत्य कर्म है।[४१५] इसलिए, आहवनीय से आनेवाली आप: को शांतिपरक और गार्हपत्य-प्रसूत आप: को कर्मपरक माना जा सकता है। गार्हपत्य प्राण है।[५१६] प्राण और उदान को क्रमश: गार्हपत्य और आहवनीय कहा गया है।[५१७] अत: आहवनीय

को उदान समझना चाहिए। उदान शम, अर्थात्, शांतिपरक प्राण है। वह शमी वृक्ष का आधार है। उसे *प्राचीः आपः* कहा गया है। इसके विपरीत, कर्मपरक गार्हपत्य प्राण को *प्रतीचीः आपः* माना जाएगा। इन दो प्रकार के प्राणों *(आपः)* को क्रमशः पर्जन्यों और अग्नियों से उद्भूत होनेवाले *उदक* कहा जा सकता है, जब कि उन दोनों के मूल स्रोत को *समान उदक* कहा गया है,

समानम् एतद् उदकम्, उच् चैत्य् अव चाहभिः।
*भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्य् अग्नयः।** ऋ. १.१६४.५१

इनमें से, पर्जन्य-प्रसूत आपः वस्तुतः पर्जन्य-वृद्ध रस हैं। इन्हें वह सूर्य-दुहिता लाती है जिसे गन्धर्व सोम में प्रतिगृहीत करते हैं।[५१८] अग्नि-प्रेरित आपः वे *अग्नि-भ्राजसः मरुतः*[५१९] हो सकते हैं जिन्हें इन्द्र-गन्धर्व की अप्-सराएं भी कहा गया है।[५२०] गन्धर्व-प्रगृहीत पर्जन्य-वृद्ध रस का और अग्नि-प्रेरित आपः *(मरुतः अप्सरसः)* का जो *समान उदक* कहा जानेवाला मूल स्रोत है वह वही पूर्वोक्त ब्रह्मण्वती मेधा या ब्राह्मी वाक् है। वही सूर्य-दुहिता सूर्या के रूप में कल्पित हुई है। ऐसी स्थिति में, सूर्या को केवल उस आदित्य (सूर्य) की पुत्री मानना ही पर्याप्त नहीं होगा जिसे *अग्नि की योनि*[५२१] कहा जाता है अपि तु उस सूर्य की भी जो *गोपथ ब्राह्मण* के अनुसार वस्तुतः सोम है।[५२२] अतः सूर्या ऐसे सूर्य की शक्ति होनी चाहिए जो कि जहां पर्जन्य-प्रवृद्ध, रस-रूप आपः को दे सके[४९१] वहां वह उन अग्नि-प्रसूत प्राण-रूप आपः को भी दे सके जिन्हें मरुत नामक अप्-सराएं माना गया है। इस प्रकार का सूर्य स्वयं मरुत्वान् इन्द्र (परमेश्वर) है जो भक्त के भीतर के निर्विषय (रीतेहुए) *पद* में शीघ्र आ जाता है।[५२३] यह वह पद है जो आपः के भीतर छिपाहुआ है और जिसे सिर्फ़ इन्द्र बतला सकता है।[५२४] उसको प्राप्त करके भक्त कह उठता है,

अद्येद् उ प्राणीद् अममन्न् इमाहा,पी-वृतो अधयन् मातुर् ऊधः।
*एम् एनम् आप जरिमा युवानम्, अहेडन् वसुः सु-मना बभूव।***
ऋ. १०.३२.८

अर्थात्, 'आज ही ॐ ने सांस ली। ये दिन (ज्योतियां) ज्ञात हुए। मां के (ज्योति-)परिवेष्टित स्तन का पान किया। जरा भाव ने इस युवा ईम् को प्राप्त किया। काम-क्रोधरहित होकर वासयिता सु-मन हो गया।'

इस मंत्र में *प्राणीत्* प्रयोग द्वारा ॐ के प्राणत्व की ओर और *आप (आ*

* इस मंत्र की चर्चा अगले अध्याय में भी आएगी।

** इस मंत्र का पुनर् विचार अगले अध्याय, *ऋषि और देवता का प्रश्न* में भी आएगा।

आप) प्रयोग द्वारा ईम् के आप: या व्यान-प्राणत्व की ओर संकेत कर दिया गया है। साथ ही यह भी बता दिया गया है कि अवतीर्ण होतीहुई प्राण-धारा *(ऊं)* और युवा बनीहुई आप: प्राण-धारा *(ईम्)* इसी पद पर एकत्र हो गए हैं जिससे कि ज्योतिर्-धाराओं के ज्ञान से युक्त आत्मा माता (ईश्वरी शक्ति) का दुग्ध-पान करने लगा है। तात्पर्य यह है कि जिस पूर्व प्राण-धारा *(ईम्)* को लेकर जीव जन्मता है वह कालान्तर में अहंकार और उसकी सन्तान (क्रोध, आदि) के वशीभूत होकर जराग्रस्त और मृतप्राय हो जाती है। पर ऊँ के अवतरण से, वह, मानो, उसके स्वागत में पुन: उठ खड़ी होती है। परिणाम-स्वरूप जीव में दैव परिवर्तन आ जाता है। इसी बात को दूसरे ढंग से निम्न लिखित मंत्र में प्रस्तुत किया गया है,

तम् अग्रुव: केशिनी: सम् हि रेभिर, ऊर्ध्वास् तस्थुर् मम्रुषी: प्रायवे पुन:।
तासां जरां प्र-मुञ्चन्न् एति नानदद्, असुं परं जनयञ् जीवम् अस्तृतम्।
ऋ. १.१४०.८

अर्थात्, 'क्यों कि केशोपम तन्तुओं में प्रवाहित होनेवाली, अग्रवर्ती (उन) प्राण-धाराओं ने उसका आलिंगन किया था, (अत: जो प्राण-धाराएं) पहले मृतप्राय थीं वे आयु के लिए पुन: ऊर्ध्ववर्ती हो गई थीं। वह उनकी जरा को दूर करताहुआ, नाद करताहुआ और संकुचितहुए जीव को एक 'उच्चतर प्राण' बनाताहुआ चला जारहा है।'

यहां जो *अग्रुव: केशिनी:* और *ऊर्ध्वा: मम्रुषी:* नाम से दो प्राण-धाराएं हैं वे क्रमश: पूर्वोक्त ऊँ और ईम् हैं। प्रथम की प्रतीक उर्वशी है और दूसरे का प्रतीक है पुरूरवा:। दोनों के मेल का हेतु है आ-यु। एक *साधुवेदिनी अप्-सरा:* है और दूसरा है *साधु गन्धर्व*। दोनों शक्तियों के साधु रूप में ही मनुष्य के व्यक्तित्व को 'आ-यु' रूप देने का सामर्थ्य होता है। ये शक्तियां ही वे अमृत वाणियां हैं जो ऋत की उंचाई पर विचरण करतीहुई मधु चाटती हैं।[५२५] जब ये ऋत (साधु मार्ग) द्वारा सिन्धु (विज्ञानमय) पर अधिष्ठित हुईं, तो इस बीच में गन्धर्व ने अनेक अमृत नाम ग्रहण किए।[५२६] इन नामों के सन्दर्भ में, निम्न लिखित उक्तियों को समझा जा सकता है,

प्राणो गन्धर्व:, जैउ. ३.६.८.३; *वातो गन्धर्व:*, शब्रा. ९.४.१.१०; *मनो गन्धर्व:*, शब्रा. ९.४.१.१२;
यज्ञो गन्धर्व:, शब्रा. ९.४.१.११; *अग्निर् ह गन्धर्व:*, शब्रा. ९.४.१.७; *चन्द्रमा: गन्धर्व:*, शब्रा. ९.४.१.९;
सूर्यो गन्धर्व:, शब्रा. ९.४.१.८; असौ वा आदित्यो दिव्यो गन्धर्व:, शब्रा. ६.३.१.१९

यह दिव्य गन्धर्व हिरण्यय पक्ष में आसीन वह *वेन* है जिसका भरण-पोषण उसकी प्रेयसी अप्-सरा: परम-व्योम में करती है। गन्धर्व और अप्-सरा: की यह जोड़ी मनुष्य के व्यक्तित्व को *आ-यु* (सर्वत: युक्त) बनाती हैं।

८ ऋषि और देवता का प्रश्न

पुरूरवा: और उर्वशी के संवाद-सूक्त से वेदों के मंत्रों की देवताओं और उनके ऋषियों के विषय में एक नई समस्या उपस्थित हो जाती है। इस सूक्त के ऋषि और इसकी देवता का निर्धारण *सर्वानुक्रमणी* ने कर रखा है। *यस्य वाक्यं स ऋषि:*, सर्वानुक्रमणी १.४, के अनुसार, जो मंत्र उर्वशी का वचन है उसकी ऋषि उर्वशी है और जिस मंत्र का वक्ता पुरूरवा: है उसका ऋषि पुरूरवा: है। ऐसे ही, *या तेनोच्यते सा देवता*, वही, १.५, के अनुसार, जिस मंत्र में पुरूरवा: के लिए कुछ कहा गया है उसकी देवता पुरूरवा: है और जिस मंत्र में उर्वशी के प्रति कहा गया वचन है उसकी देवता उर्वशी है।

अब प्रश्न यह है कि इस सूक्त के ऋषि-द्वय को मंत्र-कर्ता अथ वा मंत्र-द्रष्टा कैसे माना जाए। यदि उन्हें मंत्र-कर्ता माना जाए तो कहना होगा कि पुरूरवा: और उर्वशी, दोनों ने सूक्त की रचना से पहले यह समझौता किया होगा कि हम एक-दूसरे को बारी बारी से देवता मानकर मंत्र-रचना करेंगे, और इस प्रकार मंत्र-कर्ता ऋषि होने का भी गौरव दोनों को मिल जाएगा। इसी तरह, यदि ऋषि मंत्र-द्रष्टा होता हो तो भी यह स्वीकार करना होगा कि उर्वशी और पुरूरवा: ने मंत्र-दर्शन से पूर्व ही परस्पर मिलकर निश्चय किया होगा कि सूक्त के किस अंश का दोनों में से कौन दर्शन करे। दोनों को विभिन्न मंत्रों का अर्थ इस प्रकार समझना पड़ा होगा कि पूरा सूक्त दोनों का संवाद अथ वा प्रश्नोत्तरी बन जाए।

ऐसी स्थिति में, पुरूरवा: और उर्वशी को, प्रथम तो, दो देहधारियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मान सकते हैं और न पूरे सूक्त को दो प्रेमियों के प्रेमालाप के अतिरिक्त अन्य कुछ स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे, यदि खींच-तान करके, सूक्त को दो प्रेमियों के संवाद के रूप में दिखलाया जा भी सके तो भी क्या यह तर्कसंगत है कि कोई प्रेम-दीवाने स्त्री-पुरुष सूक्त के रहस्य को जानने के लिए यह क़रार करने बैठें कि जिस मंत्र में प्रश्न है उसे एक समझे और जिसमें उत्तर है उसको दूसरा परखे? तीसरे, यदि यह सूक्त केवल एक प्रेम-संवाद है तो क्या इसमें कोई ऐसा रहस्य होगा जिसका साक्षात्कार कोई पहुंचाहुआ ऋषि करे? हां, यदि उर्वशी और पुरूरवा: को क्रमश: प्रतीक माना जाए तो अवश्य इसमें किसी गुह्य तत्त्व के दर्शन की बात तर्कसंगत कही जा सकती है।

फिर भी, सामान्यत:, किसी रहस्य अथ वा गुह्य तत्त्व का अन्वेषण व्यक्तिगत मनन-चिंतन और परीक्षण का परिणाम ही होता है। यदि कदा चित् वह किन्हीं दो या दो से अधिक अन्वेषकों के सहयोग का परिणाम हो भी, तो भी उस

पूरे अन्वेषण का कर्ता या द्रष्टा किसे माना जाएगा? यदि उनके अन्वेषण-कार्य में कोई विभाजन संभव भी हो, तो भी क्या इस सीमा तक, कि उनमें से जब एक को प्रश्न का साक्षात्कार हो, तो दूसरे को उसके उत्तर का?

क्या उर्वशी और पुरूरवा: को क्रमश: वाक् और प्राण का अभिनय करनेवाला समझा जाए? ऐसी सूरत में भी यह मानना पड़ेगा कि सूक्त का कर्ता या द्रष्टा कोई और है। उर्वशी और पुरूरवा: ने तो सूक्त को समझकर अभिनय में अपनी अपनी भूमिका-मात्र चुनी होगी।

२. सच बात तो यह है कि प्रत्येक प्रतीक अपने आंतरिक अर्थ (प्रत्यक्) का अभिनेता ही होता है। उर्वशी वाक् की बोधक है और पुरूरवा: प्राण का सूचक है। इन दोनों के रहस्यात्मक संबंध का तत्त्व-द्रष्टा अवश्य कोई देहधारी होगा, पर उसने अपने कर्तृत्व के अभिमान का ढिंढोरा पीटना आवश्यक नहीं समझा। उसने तत्त्व-दर्शन करके अपने ज्ञान को उर्वशी (ब्राह्मी वाक्) और पुरू-रवा: (प्राण) के संवाद के रूप में अभिव्यक्ति दी। दूसरे शब्दों में, उर्वशी और पुरू-रवा: क्रमश: ब्राह्मी वाक् और प्राण का बोध करानेवाले दो प्रतीक हैं, न कि कोई देहधारी ऋषि (मंत्र-द्रष्टा) अथ वा देवता। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि सूक्त में तत्त्व-द्रष्टा स्वयं ही प्रच्छन्न रूप से, पुरू-रवा: और उर्वशी के माध्यम से अपने तत्त्व-ज्ञान को अभिव्यक्ति देरहा है।

आत्मस्तुति-परक सूक्त : इस प्रकार की समस्या उन अनेक सूक्तों में भी उठती है जहां सूक्त का ऋषि अपने लिए उत्तम पुरुष सर्वनाम *(अहम्)* का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम *ऋग्वेद* के १०.१२५ सूक्त को ले सकते हैं। इस सूक्त का ऋषि और देवता, दोनों वाक् (आम्भृणी) है। सूक्त का प्रत्येक मंत्र 'मैं' *(अहं)*, 'मुझको' *(मां)* अथ वा 'मेरे द्वारा' *(मया)* से आरंभ होता है और बतलाता है कि वाक् ही स्वयं रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्व देवों सहित मित्रावरुणौ, इन्द्राग्नी, अश्विनौ, सोम, त्वष्टा, भग, पूषा, आदि का भरण-पोषण और नियमन करती है और वही देवों के माध्यम से नाम-रूपात्मक जगत् में सर्वत्र व्याप्त होकर, सबके अदन, वि-दर्शन, प्राणन, श्रवण, आदि क्रियाओं का स्रोत बनरही है। यद्यपि, इस प्रकार, सूक्त में अनेक वैदिक देवों का उल्लेख है, पर उन्हें किसी मंत्र की देवता नहीं माना गया है। पूरे सूक्त की देवता वही वाक् है जो उसकी ऋषि है। यदि इसमें वाक् को एक देहधारिणी मंत्र-कर्त्री अथ वा मंत्र-द्रष्ट्री स्वीकार किया जाए तो क्या उसे उक्त देवों की प्रेरक या नियंत्रक के रूप में स्वीकार करना संभव होगा? क्या किसी महिला के लिए यह कथन तर्कसंगत होगा कि 'मैं पिता को जन्म देती हूं'

और कि उसकी 'मूर्धा पर, आप: के भीतर, समुद्र में मेरी योनि है', मंत्र ७? क्या वह अपने को विश्व भुवनों में, आकाश और पृथिवी से परे अपनी महिमा से वायु के समान गतिशील कह सकती है मंत्र ८?

अत: इसके सिवाय और कोई चारा नहीं है कि यहां सूक्त के ऋषि और देवता के रूप में ब्राह्मी वाक् का मानवीकरण किसी तत्त्व-द्रष्ट्री ऋषि द्वारा कियाहुआ माना जाए। इस प्रकार इस सूक्त के ऋषि और देवता सूक्त के तात्पर्य की दिशा बतलानेवाले कवि-निबद्ध नाम-मात्र हैं, न कि कोई देहधारी ऐतिहासिक नर-नारी।

● यही निष्कर्ष तब प्राप्त होता है जब ऋ १०.४८; ४९; ५० सूक्तों की समीक्षा की जाती है, यद्यपि इन सूक्तों की स्थिति वाक्-सूक्त से किं चित् भिन्न है। इन सूक्तों के ऋषि और देवता, दोनों का नाम इन्द्र (वैकुण्ठ) है। प्रथम सूक्त के आठ मंत्रों में तो वह अपने लिए उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग करता है पर शेष तीन मंत्रों में, मानो, स्वयं को *अन्यद्-इव* मानकर वह अपने लिए प्रथम पुरुष के सर्वनाम का प्रयोग करता है। पूरे सूक्त में, वृत्र-वध, आदि ऐसे कारनामे वर्णित हैं जिन्हें इन्द्र तत्त्व के साथ ही सु-संगत माना जा सकता है, किसी मनुष्य-देहधारी ऋषि के साथ नहीं। ऐसा ही वर्ण्य विषय ऋ. १०.४९ का है जहां अंतिम ग्यारहवें मंत्र को छोड़कर शेष सब मंत्रों में इन्द्र उत्तम पुरुष में बोलता है। ऋ. १०.५० का ऋषि और देवता, दोनों यद्यपि पूर्ववत् इन्द्र है पर वहां उत्तम पुरुष में कोई कथन नहीं है। उलटे, ऋषि मध्यम पुरुष का प्रयोग करतेहुए इन्द्र से कहता है कि 'हे इन्द्र! तू ब्रह्म द्वारा महान् और विश्व-सवनों में यज्ञिय बन जा।' इसका अभिप्राय है कि इन्द्र नामक ऋषि अपने को उसी नाम की देवता से भिन्न समझता है। यही बात पूर्वोक्त दो सूक्तों के उन मंत्रों के विषय में कही जा सकती है जहां इन्द्र के लिए प्रथम पुरुष का सर्वनाम प्रयुक्त है।

अत: इन तीन सूक्तों में जहां किसी मनुष्यदेह-धारी इन्द्र को मानना सर्वथा अ-संगत होगा वहां ऋषि और देवता का नाम एक होतेहुए भी, दोनों को एक मानना तर्क-संगत नहीं लगता। यहां तर्क-संगत समाधान यह हो सकता है कि वेद के सुपरिचित 'अवर' इन्द्र और 'पर' इन्द्र के भेद को स्वीकार किया जाए। इन्द्र कुण्ठारहित आत्म-शक्ति (वि-कुण्ठा) की उपज है। सामान्यत: कुण्ठा-ग्रस्त रहनेवाला जीवन जब कुण्ठारहित इन्द्र बनने के लिए प्रयास करता है तो वह अंत में, सफल होने पर, पाता है कि कुण्ठारहित इन्द्र तो स्वयं उसका ही अपना रूप है जो ब्रह्म के सायुज्य में महान् होरहा है। दूसरे शब्दों में, ऋषि-रूप में इन्द्र (वैकुण्ठ) वह

जीव है जो कुण्ठा-ग्रस्त अवस्था से मुक्त होकर अपने 'वैकुण्ठ-इन्द्र'-रूप का साक्षात्कार करके वृत्र-वध, आदि का कर्ता स्वयं अपने को ही पाता है।

वामदेव के स्वगत कथन : एक अन्य प्रकार की समस्या उन सूक्तों के प्रसंग में उठती है जिनमें से प्रत्येक का स्वगत-भाषी ऋषि तो एक है, पर देवता प्रत्येक सूक्त की भिन्न-भिन्न है। उदाहरण के लिए, ऋ ४.१८; २६ और २७ सूक्तों को लें। इन सूक्तों का ऋषि वामदेव को माना गया है जो, मानो, स्वगत भाषण करताहुआ तीनों सूक्तों में उत्तम पुरुष सर्वनामों और क्रियारूपों का प्रयोग करता है। अतः *या तेनोच्यते सा देवता* के अनुसार इन सूक्तों की देवता वामदेव ही होनी चाहिए थी। पूर्वोक्त इन्द्र (वैकुण्ठ) के तीन सूक्तों में इस नियम का पालन हुआ है। पर वामदेव ऋषि के उक्त तीन सूक्तों में ऐसा नहीं है। सूक्त १८ की देवता इन्द्र-अदिति *(इन्द्रादिती)* है और २६ और २७ सूक्तों की देवता इन्द्र है।

इसके अतिरिक्त, एक और भी बात है। सूक्त १८ में इन्द्र की प्रशस्ति एक संवाद के माध्यम से की गई है। परंपरा से यह संवाद इन्द्र और अदिति के बीच हुआ माना जाता है। अतः पुरूरवाः और उर्वशी के संवाद-सूक्त की तरह, यहां भी इन्द्र और अदिति को बारी बारी से ऋषि और देवता स्वीकार किया जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं है। *इन्द्रादिती* पूरे सूक्त की देवता हैं। तो, क्या यह माना जाए कि वामदेव कोई मनुष्यदेह-धारी ऋषि था जिसने इन्द्र और अदिति के संवाद द्वारा इन्द्र की प्रशस्ति की है। तब सूक्त में प्रयुक्त 'अहं' पद का क्या होगा? तो, क्या यह मान लें कि स्वयं इन्द्र ही वामदेव है जो अदिति के साथ हुए काल्पनिक संवाद के माध्यम से आत्म-प्रशंसा कररहा है? इस दिशा में, ऋ ४.५.१३ में इन्द्र के लिए 'वाम' शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

सूक्त २६ का संकेत भी कुछ इसी प्रकार का है। सूक्त का ऋषि, मानो, अपने को इन्द्र मानकर स्वगत भाषण करतेहुए स्वयं को मनु, सूर्य, कक्षीवान्, आदि में परिणत होनेवाला बतलाता है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* इस सूक्त की प्रथम ऋचा को उद्धृत करतीहुई इस मत का समर्थन करती है। पर साथ ही उसका कहना है कि ब्रह्म एक होताहुआ भी अनेक हो जाता है।[५२७] और इस बात का साक्षात्कार करतेहुए ही वामदेव ने उक्त मंत्र में स्वयं को अनेक होनेवाला कहा है। तो क्या वामदेव को एक ऐसे ऋषि-व्यक्तित्व का पारिभाषिक नाम माना जाए जिसने *वाम* (इन्द्र–ब्रह्म) का साक्षात्कार कर लिया है और इसलिए वह यह अनुभव कररहा है कि इदं *सर्वं* मैं ही हूँ? कम से कम उपनिषद् का तो यही स्पष्ट मत है, *य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।*[५२७] इसी दृष्टि से, वेद स्वयं इन्द्र को *वाम* कहकर भी,

अन्यत्र *वामं-वामं* कहकर उसकी अनेक-रूपता की ओर संकेत कररहा हैं।[५२८] इन्द्र की यह ब्रह्म-रूपता निम्न लिखित मंत्र से स्पष्ट होरही है,

रूपं-रूपं प्रति-रूपो बभूव, तद् अस्य रूपं प्रति-चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरू-रूप ईयते, युक्ता ह्यू अस्य हरयः शता दश।

ऋ. ६.४७.१८

कुछ ऐसा ही प्रतिपाद्य ऋ ४.२७ का है। यहाँ भी, मानो, स्वयं को इन्द्र मानतेहुए ऋषि गर्भ में ही देवों के विश्व जन्मों को जानने का दावा करता है और कहता है कि लोहे के *(आयसी)* सौ पुरों से घिराहुआ होने पर भी, मैं सोम को लेकर श्येन-रूप में उड़कर बाहर आ गया। *काठकसंहिता,* आदि कई ग्रंथों के अनुसार इन्द्र श्येन (=बाज़) होकर अमृत (सोम) को लाता है।[५२९] पर *गोपथ ब्राह्मण* में श्येन सोम को कहा गया है। सोम अग्नि होकर इस लोक में 'संश्यान' करने से श्येन नाम ग्रहण करता है।

● इसका अभिप्राय यह है कि सोम, इन्द्र और अग्नि, इन तीनों में से प्रत्येक को, वाम की तरह, श्येन भी कहा जा सकता है। ऋग्वेद में न केवल सोम के लिए *श्येन* शब्द का प्रयोग हुआ है[५३०] बल्कि उसे श्येन के साथ तुलनीय भी माना गया है।[५३१] ऋग्वेद १०.९९.८ में इन्द्र श्येन है। अथर्ववेद के कई मंत्रों में *श्येन* शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है।[५३२] इन तीनों की इस एक-रूपता का कारण यह है कि अग्नि अपने जातवेदाः-रूप में एक ऐसी संश्लिष्ट इकाई है जिसके भीतर इन्द्र अपने उदर में सोम को लिएहुए स्थित कहा जाता है,

अयं सो अग्निर् यस्मिन्त् सोमम् इन्द्रः, सुतं दधे जठरे वावशानः।
सहस्रिणं वाजम् अत्यं न सप्तिं, सस-वान्त् सन्त् स्तूयसे जात-वेदः!

ऋ. ३.२२.१

तो क्या वामदेव किसी ऐसे ऋषि-व्यक्तित्व का नाम है जो इन्द्र, अग्नि और सोम की जातः-वेदाः नामक संयुक्त इकाई को अपना उपास्य मानता है? यह संभावना तब अधिक पुष्ट हो जाती है, जब अग्नि को *वामं, शेवम् अतिथिं* ऋ १०.१२२.१, और सोम को *स्वर् वामम् उर्व् अंतरिक्षम्,* ऋ. १०.१२४.६, कहकर, उक्त संयुक्त इकाई में समाविष्ट तीनों में से प्रत्येक को 'वाम' कहने का मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार वाम के उपासक व्यक्तित्व को वामदेव कहना संभव हो जाता है।

प्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त (ऋ. १.१६४) के पहले ही मंत्र में किसी *वाम पलित* और उसके दो भ्राताओं के उल्लेख का संकेत भी संभवतः उक्त वाम-त्रय के

लिए है। सूक्त के आरंभिक ४१ मंत्रों में 'विश्व देवों' को देवता माना गया है। उनके परिप्रेक्ष्य में, पूर्वोक्त 'वाम' नामक संयुक्त इकाई को अन्यत्र 'वैश्वानर' अग्नि कहा गया प्रतीत होता है।[५३३]

इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि अग्नि अथ वा 'विश्व' देवों के सूक्तों में *वाम* अथ वा *भूरि वाम* का उल्लेख प्राय: होता है।[५३४] वाम के शेष उल्लेखों में से भी अधिकांश या तो इन्द्र के प्रसंग में हैं अथ वा उसके दो बन्धुओं (अग्नि, सोम) के संबंध में। वृद्ध *(पलित)* या ज्येष्ठ वाम होने के कारण, इन्द्र को वामदेव की बुद्धियों का रक्षक कहा गया है।[५३५] इस दृष्टि से, वामदेव को वाम का उपासक एक ऐसा व्यक्तित्व मानना सर्वथा सुसंगत हो सकता है जो स्वयं अपने में सब देवों (प्राणों) का *वाम* (प्राण) धारण किएहुए है।[५३६]

● दूसरे शब्दों में, व्यष्टिगत 'वाम' ऋषि-तत्त्व उपासक है समष्टिगत *वाम* देव-तत्त्व (इन्द्र) का। यह वाम देव-तत्त्व (इन्द्र) व्यष्टिगत वाम के भीतर उसके शीर्षस्थान से प्रवेश करता है।[५३७] यह ब्रह्म ही है जो व्यष्टि के अन्दर, बाहर, सर्वत्र व्याप्त होरहा है।[५३७] व्यष्टिगत इन्द्र *अक्षेत्रविद्* है तो समष्टिगत इन्द्र *क्षेत्र-विद्* है। इस क्षेत्र-विद् के अनुशासन में रहकर ही अ-क्षेत्रविद् की प्रगति संभव है,

अक्षेत्र-वित् क्षेत्र-विदं ह्य् अप्राट्, स प्रैति क्षेत्र-विदानु-शिष्ट:।
एतद् वै भद्रम् अनु-शासनस्यो,त स्रुतिं विन्दत्य् अञ्जसीनाम्।

ऋ. १०.३२.७

ब्रह्म के अनुशासन की भद्रता यह है कि व्यक्ति अपने भीतर शीर्षस्थान से प्रवेश करनेवाले ऊँ प्राण को और पादस्थानीय बाह्य जगत् से उसी के ईं प्राणोदक को, दोनों को अपने में संगत होताहुआ देखता है,

अद्येद् उ प्राणीद् अममन्न् इमाहा,पी-वृतो अधयन् मातुर ऊध:।
*एम् एनम् आप जरिमा युवानम्, अ+हेळन् वसु: सु-मना बभूव।**

ऋ. १०.३२.८

यहां ऊँ के साथ 'प्र आनीत्' *(प्राणीत्)* का प्रयोग करके ऊँ की उस ऊर्ध्ववर्ती प्राण-रूपता की ओर संकेत है जिससे आवृत जीव ब्राह्म ज्योतियों *(इमा अहा)* का दर्शन और माता का स्तन-पान करता है। इसके विपरीत, ईम् के साथ 'आ आप' का प्रयोग करके *ईम्* की व्यापनशील उदक-रूपता की ओर इंगित किया गया है जो उस 'आप:' नामक उदक में होती है जिसे व्यान प्राण कहा जा सकता है। *प्राणा वा*

* इस मंत्र का कुछ विचार 'गन्धर्व और अप्-सराएँ' शीर्षक अध्याय में भी हो चुका है।

'आपः' कहकर *ब्राह्मण* ग्रंथ इसी ओर संकेत कररहे हैं।[५३८]

उक्त मंत्र में, जीव जिस माता का स्तन-पान करता है वह यह ईम् नामक प्राणोदक है, जब कि जिस ऊँ की ज्योतियों से वह आवृत होता है वह पिता है।[५३९] व्यष्टिगत व्यक्तित्व वाला जीव ईम् (युवती) और ऊँ (युवा) का अनादर-रहित प्रेमी *(जरिमा)* होकर आनंदित हो जाता है। वास्तव में ऊँ और ईम्, दोनों सर्वव्यापक ब्रह्म की सन्तानें हैं; प्रथम का आगमन शीर्षस्थानीय सहस्रार द्वार से होता है तो दूसरी का पाद-स्थानीय बाह्य जगत् से मूलाधार द्वारा। ये दो उरु (विस्तृत क्षेत्र) हैं जिनसे उद्‌भूत ब्राह्मी वाक् नारायण के ऊरु-द्वय से उत्पन्न सुता उर्वशी है।

दीर्घ-तमाः ऋषि द्वारा दृष्ट सूक्त : ऋग्वेद १.१६१ में ब्राह्मी वाक् की कल्पना एक गौ के रूप में की गई है। अन्यत्र इसे *कामदुघा, सबर्दुघा* अथ वा *कामधेनु* कहा जाता है। माता-पिता (ईम्–ऊँ) अपने पुत्रों (जीवों) को गौ प्रदान कर चुप नहीं बैठ गए थे। उन्होंने उसकी सेवा के लिए ऋभु, विभ्वा और वाज नामक तीन सेवक भी दिए थे। ये क्रमशः ज्ञानशक्ति, भावनाशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रतीक हैं। इनके समुदाय को प्रायः *ऋभवः* अथ वा *वाजाः* कहा जाता है। गौ अज्ञान-रूप या अंधकार-रूप चर्म से आवृत है। उसे बाहर लाने में ये परस्पर मिलकर ही समर्थ हो सकते हैं।[५४०] इस कार्य को वे ध्यान-क्रियाओं द्वारा करते हैं और तब उनके माता-पिता पुनर्युवा हो जाते हैं।[५४१] उक्त चर्म वस्तुतः वह अहंकार(वृत्र)-आवरण है जिसके कारण माता-पिता को जरावस्था की दुर्बलता घेर लेती है।

तीनों 'ऋभु' सेवक गौ की और भी सेवा करते हैं। ऋभु (ज्ञानशक्ति) उसको प्राणोदक देता है, विभ्वा (भावनाशक्ति) उसकी स्थूल अभिव्यक्ति *(मांस)* को 'सूना' से अलंकृत करता है और वाज (क्रियाशक्ति) अज्ञान-अंधकार के 'शकृत्' को हटाता है। यह सब माता-पिता की कृपा से ही पुत्र (जीव) को प्राप्त हुआ है। माता-पिता पुत्र से दूर चले गए हैं। यह बात निम्न लिखित मंत्र में कही गई है,

श्रोणाम् एक उदकं गाम् अवाजति, मांसम् एकः पिंशति सूनया-भृतम्।
आ नि-म्रुचः शकृद् एको अपाभरत्, किं स्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः।
ऋ. १.१६१.१०

जब ये तीनों नर ब्रह्म *(अ-गोह्य)* के गृह में सोए, अर्थात्, समाधिस्थ रहे तब तक ऊँचाइयों पर *तृण* (तर्दन-शक्ति) और गहराइयों में *आपः* (व्याप प्राण) ख़ूब हो गए। पर ये कार्य स्वयं उन्होंने अपनी सुषुप्ति–सुकर्मशीलता *(सु-अपस्या)* से किए थे, यह बात वे नहीं समझ पाए थे,

उद्वत्-स्व् अस्मा अकृणोतना तृणं, निवत्-स्व् अपः स्व्-अपस्यया नरः!

अ+गोह्यस्य यद् असस्तना गृहे, तद् अद्येदम् ऋभवो! नानु गच्छथ।
ऋ. १.१६१.११

अभिप्राय यह है कि जब समाधि में उक्त तीनों शक्तियां निष्क्रिय हो जाती हैं तो उससे भी व्यक्तित्व में असुरत्व-विनाशक शक्ति और व्यान प्राण की उपयोगी उपलब्धियां होती हैं। और इस सबका प्रच्छन्न हेतु स्वयं माता-पिता (ईम्–ऊँ) ही हैं।

● समाधि सिद्ध होने पर जब वे तीनों ऋभु व्युत्थान अवस्था में चारों ओर गतिशील हुए तब माता-पिता कहां थे? जिसने तुम्हारा हाथ पकड़कर रोकना चाहा उसको शाप दिया और जिसने प्रशंसा की उसको अनुकूल उत्तर दिया, ऋक् १२। जब समाधिस्थ तीनों ऋभुओं ने अ-गोह्य से पूछा कि किसने हमें इस कार्य का बोध कराया तो ब्रह्म *(बस्त)* ने ध्यानस्थ *(श्वा)* जीव को इस बात का ज्ञाता बतलाया और कहा कि यह सब उसे पितृ-वत्स-सायुज्य *(सं-वत्सर)* अवस्था, अर्थात्, समाधि में प्रकट हुआ था,

सुषुप्वांस ऋभवस्! तद् अपृच्छता, गोह्य! क इदं नो अबूबुधत्?
श्वानं बस्तो बोधयितारम् अब्रवीत्, संवत्सर इदम् अद्या व्य् अख्यत।
ऋ. १.१६१.१३

इस सबका आशय यह है कि दीर्घ:-तमा: व्यक्तित्व का उद्धार योग-साधना से ही संभव है। इस साधना द्वारा ब्राह्मी वाक् कैसे उभरती है? कैसे उसका वर्धन होता है? विचार-शक्ति, व्यान प्राण, आदि का पोषण-वर्धन किस प्रकार होता है? साधना-काल में आवश्यक प्रोत्साहन और आध्यात्मिक शत्रुओं की प्रताड़ना का स्रोत क्या है? इस सबका उत्तर यही है कि इसका बोध समाधिस्थ होने पर ही आत्मा को होता है। इस विषय में तर्क-वितर्क का अवसर नहीं है। योग-साधना नियमित होने से सब काम ठीक होते हैं, ठीक समय पर होते हैं और ठीक ढंग से होते हैं। कौन इसका प्रेरक है? इस प्रश्न के उत्तर में *श्रीमद्भगवद्गीता* ५.१३ के शब्दों में यही कहा जा सकता है, *स्व-भाव:*·······*प्र-वर्तते।*

● इसी बात को समाधि-सिद्ध दीर्घ-तमा: की इस अनुभूति में देखा जा सकता है,

दिवा यान्ति मरुतो भूम्याग्निर्, अयम् वातो अन्तरिक्षेण याति
अद्-भिर् याति वरुण: समुद्रैर्, युष्माँ इच्छन्त: शवसो नपात:!
ऋ. १.१६१.१४

अर्थात्, हे शवस् के पुत्रो! कारण देह (द्यौ) स्तर द्वारा (ऐन्द्र) मरुत गतिशील होते

हैं। सूक्ष्म देह (अंतरिक्ष) स्तर द्वारा (वायव्य मरुतों का) वात (सूक्ष्म प्राण), और स्थूल देह (भूमि) स्तर द्वारा अग्नि, और सत्यानृतविवेकी वरुण-प्राण (व्यान-)समुद्रों द्वारा तुम लोगों *(ऋभवः)* की खोज करतेहुए सक्रिय हो जाते हैं।' इस प्रकार, दीर्घ-तमाः का लक्ष्य पूरा होता है। 'तमः' के स्थान पर दिशा-बोध प्राप्त हो जाता है।

दीर्घतमाः ऋषि : 'वामदेव' नाम के समान, *दीर्घ-तमाः* नाम की भी सार्थकता सिद्ध की जा सकती है। ऋ. १.१४० से १.१६४ तक २५ सूक्तों के ऋषि का नाम दीर्घ-तमाः है। इस शब्द का अर्थ है दीर्घ तमः [रात्रि(अंधकार)] वाला। पर है वह अपने तमः को मिटाने के लिए निरंतर यत्नशील। इस बात का प्रमाण उसके द्वारा दृष्ट प्रथम मंत्र, १.१४०.१ में ही मिल जाता है,

वेदि-षदे प्रिय-धामाय सु-द्युते, धासिम्-इव प्र भरा योनिम् अग्नये।
वस्त्रेणेव वासया मन्मना शुचिं, ज्योती-रथं शुक्र-वर्णं तमो-हनम्।

ऋ. १.१४०.१

इस मंत्र से स्पष्ट ध्वनित होता है कि उक्त तमः को नष्ट करनेवाला *(तमो-हन)* एक अग्नि है। इसे 'ज्योतिः-रथ' और 'शुक्र-वर्ण' कहा जा सकता है। उसके लिए *योनि* का संपादन करके उसमें इस अग्नि को वस्त्रवत् *मन्म* द्वारा आच्छादित करना है। यह अग्निकार्य मन्म द्वारा संपादित होना है। इसलिए अग्नि को 'मन्म-साधन' कहा जाता है।

● निःसन्देह मन्म एक ऐसी मानसिक साधना का नाम है जिससे इन्द्र का अनेकविध आह्वान किया जाता है।[५४२] देवों द्वारा संचरणीय यह मन्म उस जनसाधारण के लिए अ-वेद्य है जिसके भीतर घोर अज्ञान-अंधकार रहता है। अतः मन्म-साधन, तमो-हन अग्नि को 'ब्रह्म-ज्ञान' कह सकते हैं और उसके द्वारा हन्तव्य तमः को अज्ञान-रात्रि(अंधकार) कहा जा सकता है। इसी तमः से नष्ट ज्ञान-चक्षु के कारण दीर्घ-तमाः को अंधा कहा जाता है।[५४३]

तमः के मुख्य कारण दो हैं। एक तो, मेरे-तेरे के झमेले में फंसानेवाली, संकीर्ण ममता। और दूसरा कारण है बृहती के पति *(बृहस्-पति)* के रेतः का तिरस्कार। प्रथम कारण की ओर इंगित करने के लिए, दीर्घ-तमाः को *मामतेय* (ममता-जनित) कहा गया है। दूसरे की ओर संकेत करने के लिए *बृहद्देवता* के दीर्घतमाः-आख्यान में कहा गया है कि जब बृहस्-पति ने अपने भाई उचथ्य की पत्नी ममता के भीतर अपना रेतः डालना चाहा तो पहले से ही ममता के भ्रूण-रूप में स्थित दीर्घ-तमाः ने उसका तिरस्कार किया। इस कारण बृहस्-पति ने उसे

अंधा होने का शाप दे दिया; और वह अंधा हो गया। आख्यान का फलितार्थ यह है कि ममता द्वारा घटित व्यक्तित्व 'बृहती' (ब्राह्मी बुद्धि) के पति कहे जानेवाले ब्रह्म-ज्ञान के वीर्य की उपेक्षा करता है और अज्ञान-रात्रि(अंधकार) में ही पड़ा रहता है।

तथापि आशा की एक किरण शेष रह जाती है। वह यह कि अंधे व्यक्तित्व वाला यह जो जीव है उसमें ब्रह्म-ज्ञान की संभावना सदा ही अंदर छिपी रहती है। इसलिए जीव की संज्ञा 'उचथ्य' है। उचथ्य के साथ ममता का समागम होने पर जो अंधा व्यक्तित्व *(औचथ्य)* प्रादुर्भूत होता है वह अपने जनक (उचथ्य आत्मा) में निहित, उक्त ब्रह्म-ज्ञान की संभावना को प्रकट करने के लिए, अपने तम: को दूर करतेहुए अंधेपन से मुक्ति पाता है। और अन्त में वह ब्रह्म-ज्ञान से स्वयं को भर-पूर करके अपनी अनुभूति को इन शब्दों में व्यक्त करता है,

इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुर्, अथो दिव्य: स सु-पर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहु-धा वदन्त्य्, अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहु: ।
ऋ. १.१६४.४६

इस प्रकार, जो व्यक्तित्व दीर्घ-तमा: है वह मन्म-साधना द्वारा अपनी अज्ञान-रात्रि(अंधकार) को दूर करताहुआ उस *वाम* (ब्रह्म) को जान लेता है जिसकी जिज्ञासा से प्रेरित होकर वह कहता था,

इह ब्रवीतु य ईम् अङ्ग वेदा,स्य वामस्य नि-हितं पदं वे: । ऋ. १.१६४.७

: २ : देवता

जिस एक सत् को विप्र अनेक रूपों से बखानते हैं उस एक देव के अनेक रूपांतर ही अन्य देव हैं। अत: इन अन्य देवों को उस एक देव के अनेक देवत्व अथ वा *देवता* कह सकते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व में इन सबको कभी कभी 'प्राण' कहा जाता है और उन्हें आत्म-रूप प्राण के रूपांतर मानकर मनुष्य के व्यक्तित्व को 'अयोध्या' नामक देव-पुरी कहा जाता है। मूलत: दस प्राण और ग्यारहवां आत्मा, कुल ग्यारह ही प्राण देव' हैं। पर त्रिलोकी की दृष्टि से ये तेतीस कहे जाते हैं।[५४४] इनके अगणित रूपांतर पूरे पिण्डाण्ड में फैलेहुए हैं।[५४५]

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे के अनुसार, इसी प्रकार, बाह्य जगत् की देवताओं की भी कल्पना की गई है। इन सबमें एक ही पूर्ण देवता है और अन्य देवताएँ कभी कभी अर्धदेवता ही कही जाती हैं,[५४६] यद्यपि अन्ततोगत्वा प्राण ही एक देवता है।[५४७]

● पिण्डाण्ड की त्रिलोकी अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों की समष्टि

है। इसके अतिरिक्त, एक दैव्य त्रिलोकी भी है जिसमें मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों का समावेश होता है। इस त्रिलोकी में भी मूल प्राण के ही रूपांतर होते हैं। दोनों त्रिलोकियों का मूल प्राण एक ही है जिसे 'अग्नि' नाम दिया गया है।[५४८] उसी अग्नि को उपर्युक्त मंत्र, ऋ. १.१६४.४६, में *दिव्यः ....सु-पर्णो गरुत्मान्* कहकर, उसे दोनों त्रिलोकियों का *एकं सत्* मानतेहुए भी एक त्रिलोकी में उसे इन्द्र *मित्र, वरुण* में, तो दूसरी त्रिलोकी में *यम* और *मातरिश्वा* में रूपांतरित हुआ माना है। इसी लिए, एक ही मंत्र में *अग्नि* शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है। दूसरे शब्दों में, *एक एवाग्निर् बहु-धा सम्-इद्धः*[५४९] उक्ति ठीक ही है। यह पूर्वोक्त मन्म-साधन और तमो-हन अग्नि ही है जिसके आश्रय से दीर्घतमाः व्यक्तित्व की मन्म-साधना आरंभ होती है।

● अतः दीर्घ-तमाः के प्रथम ११ सूक्त (१४० से १५०) अग्नि देवता के लिए हैं। इन सूक्तों की ११ संख्या उन ग्यारह देवताओं की भी याद दिलाती है जिन्हें दश प्राण और ग्यारहवां आत्मा कहा गया है।[७०] इनमें से अंतिम १५०वां सूक्त, सर्वप्रथम, आत्मा के उस रूप की ओर संकेत करता है जिसमें इच्छाओं, आदि की समस्त नानात्वमयी सृष्टि अन्तर्हित है। १४९वें सूक्त में इसे *जीवपीत-सर्ग* अग्नि कहा है, मंत्र २। यही नानात्वमयी सृष्टि का *शतात्मा* अग्नि है, मंत्र ३। यही मानुषी त्रिलोकी में *मर्त्य चन्द्र* है, जब कि यह द्यौ में सर्वाधिक वर्धमान *(व्राधन्तम) महः* होरहा है, ऋ. १.१५०.३। द्विविधता के कारण उसे *द्वि-जन्मा* कहा गया है, ऋ. १.१४९.४; ५।

● अग्नि का द्विजन्मा-रूप वेद के देव-मिथुनों के रूप में भी कल्पित है। उक्त ग्यारह अग्नि-सूक्तों के पश्चात्, तीन देव-मिथुनों के सूक्त रखे गए हैं, सूक्त १५१ से १५३ मित्रावरुणौ, १५७-१५८ अश्विनौ, १५९-१६० द्यावापृथिवी। अग्नि का प्रथम द्विजन्मा-रूप देवों के उस परम रूप को प्राप्त कराता है जिसको विष्णु नाम दिया गया है।[५५०] अतः मित्रावरुणौ के सूक्तों के बाद तीन सूक्त (१५४, १५५, १५६) विष्णु-देवता के लिए हैं। अग्नि देवों का *अवरार्ध्य* है, तो विष्णु *परार्ध्य*।[५५१] इसलिए, आत्मा को अग्नाविष्णू नामक देव-मिथुन के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है।[५५२] पर दीर्घ-तमाः की मन्म-साधना की दृष्टि से, देवताओं के परम (विष्णु) और अवम (अग्नि) के बीच देव-मिथुनों की दो अन्य कड़ियां हैं जिन्हें क्रमशः अश्विनौ और द्यावा-पृथिवी कहा जाता है। इस दृष्टि से दीर्घतमाः की सूक्त-श्रृंखला में इन दोनों के सूक्त विष्णु-सूक्तों के पश्चात् रखे गए हैं।

मन्म-साधना की दृष्टि से, मित्रावरुणौ, अश्विनौ और द्यावापृथिवी नामक

तीन देव-मिथुनों के संदर्भ में अग्नि को *त्रि-मूर्धा* (ऋ. १.१४६.१) माना गया प्रतीत होता है। अग्नि की इस त्रिविधता से प्रसूत हैं वे तीन देव-बन्धु (ऋभु, विभ्वा, वाज) जिनका उल्लेख उक्त देव-मिथुनों के सूक्तों के बाद ऋ. १.१६१ सूक्त में हुआ है। इन तीन बन्धुओं में से प्रत्येक एक भी है और अनेक भी। अत: इनके नाम एकवचन और बहुवचन, दोनों में प्रयुक्त होते हैं। सामूहिक रूप में उनको *सौधन्वना:* कहा जाता है। ऋ १.१६१ सूक्त देवदूत अग्नि और सौधन्वनों के संवाद से आरंभ होता है। इसमें वे अन्य कार्यों के साथ साथ एक अश्व के निर्माण का भी वचन देते हैं, मंत्र ३। तदनुसार आगे बतलाया जाता है कि उन्होंने एक अश्व से दूसरा अश्व बनाया, मंत्र ७, और उसे स्वनिर्मित रथ में जोड़कर वे देवों के निकट पहुंच गए। प्रथम अश्व वही पूर्वोक्त देव-दूत अग्नि है[५५३] और दूसरा अश्व आदित्य या सूर्य है।[५५४] वह उन्हीं के लिए आविर्भूत होता है जो धीर कवि हैं।[५५५] एक रूप में वह यज्ञ-साधन, अच्छिद्र ऊति, सत्य, *मृग: अप्य:* है, ऋ. १.१४५.५, तो दूसरे रूप में वह पूर्वोक्त मन्म-साधन अग्नि है। इन दोनों अश्वों का वर्णन दीर्घतमा: के १६२ और १६३ सूक्तों में प्रतीक-शैली द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

देवता, मन्म-साधन और मंत्र : इस प्रकार ऋ. १.१४० से लेकर १.१६३ तक जिन अनेक देवों का उल्लेख हुआ है वे वस्तुत: अग्नाविष्णू-रूप आत्मा के विभिन्न पक्षों का बोध कराते हैं। देवताओं की समष्टि का प्रथम मुख अग्नि है और उत्तम मुख विष्णु है।[५५६] अग्नि और विष्णु, दोनों *सर्वा देवता:* कहे जाते हैं।[५५७] आत्मा के इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत सब देवता आ जाते हैं। आत्मा अपने दोनों मुखों से परमात्मा (इन्द्र-देव) का जो देवत्व ग्रहण करता है वह पिण्डाण्ड के अनेक देवों (प्राणों) के रूप में परिणत हो जाता है। इस दृष्टि से, प्रत्येक पिण्डाण्ड में इंद्राग्नी और इन्द्राविष्णू नामक दो अन्य देव-मिथुनों की कल्पना होती है। इस कारण इन्द्र को भी *सर्वा देवता:* कहा जाता है।[५५८] इन्द्र (परमेश्वर) सोम की योनि है।[५५९] अत: इन्द्र के साथ पिण्डाण्ड में सोम नामक आनन्द-तत्त्व का भी आगमन होता है और सब प्राणों के संदर्भ से वह भी 'सर्वदेवत्य' कहलाता है।[५६०]

इस तरह इन्द्र, अग्नि, और सोम नामक तीनों *सर्वा देवता:* मनुष्य के व्यक्तित्व को एक ऐसा सर्वदेवत्य रूप दे देते हैं जिसमें त्रिविधता होती है। तम: को नष्ट करने के लिए तमो-हन अग्नि हेतु 'योनि' तैयार करने का अभिप्राय है इस त्रिविध सर्वदेवत्य को वैश्वदेव्य बनाना। सर्वदेवत्य स्वरूप में देवताएं (प्राण) बहिर्मुख होती हैं और वैश्वदेव्य में वे अन्तर्मुख हो जाती हैं। सर्वदेवत्य को वैश्वदेव्य रूप देने का अर्थ है 'सर्वा देवता:' को 'विश्वे देवा:' बनाने का नियमित अभ्यास करके

सर्वदेवत्य को बृहस्-पति द्वारा रक्षित विश्वदेव्य-रूप प्रदान करना।[५६१]

इसके लिए, दीर्घ-तमाः को 'उक्थ्य मंत्र' चाहिए। इस मंत्र को इन्द्र, वरुण, मित्र और अर्यमा देवों ने अपना घर बनायाहुआ है और इसे बृहस्-पति अपने ब्रह्मणस्-पति रूप में अभिव्यक्ति देता है,

प्र नूनं ब्रह्मणस् पतिर्, मन्त्रं वदत्य् उक्थ्यम्।

यस्मिन्न् इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा, देवा ओकांसि चक्रिरे। ऋ. १.४०.५

यह वह ईहा-रहित, सहज, 'शम्भुव' मंत्र है जिसकी अभिव्यक्ति न्यूनाधिक उस प्रत्येक विदथ-क्रिया[५६२] में होती है जिसे देव का उद्भरण और अन्तर्धान कहा जा सकता है। ऐसी प्रत्येक विदथ-क्रिया से ब्रह्म का वीर्य मिलता है जिसके द्वारा इष्टि (इष्ट कर्म) संपन्न हो सकती है। ब्रह्म का यह वीर्य बृहस्-पति का वह रेतः है जिसका तिरस्कार करके दीर्घ-तमाः अंधा हो गया था। बाद में वह अपनी भूल को स्वीकार करके पश्चात्ताप-पूर्वक प्रार्थना करताहुआ कहता है हे अग्ने! जो शत्रु (अहंकार) दान-प्रतिबन्धक और अदाता, अघायु है और अपने द्वैत द्वारा हमारी भर्त्सना किया करता है वह अपनी दुरुक्तियों से स्वयं के तनू को मिटा दे, ऐसा गुरु मंत्र हमें पुनः प्राप्त हो।'[५६३]

यह गुरु मंत्र वही ब्रह्म का वीर्य या बृहस्-पति का रेतः है जिसे ब्रह्मणस्-पति का 'उक्थ्य मंत्र' भी कहा गया है। इसको उत्पन्न करनेवाली पूर्वोक्त विदथ-क्रिया का नाम 'मन्म' है। मन्म के अन्तर्गत मनः (बहिर्मुख चेतना का प्रवाह) और नमः (अन्तर्मुख चेतना का प्रवाह), दोनों का उस प्रकार अन्तर्भाव होता है जिस प्रकार विदथ में वेद के उद्भरण और अन्तर्धान की क्रियाओं का। विदथ-क्रिया से प्राप्त जिस अनुभव *(विदः)* को 'ब्रह्म का वीर्य' कहा गया है वही मन्म-साधना से साध्य 'मंत्र' है। इसके साध्यतम को *ब्रह्म वै मन्त्रः* कहकर याद किया जाता है।[५६४] यह वह *सत्यो मन्त्रः* है जिसकी याचना दीर्घ-तमाः ने पुनः मित्रावरुणौ से की थी, क्यों कि यह त्रिगुणात्मक माया *(त्रिर्-अश्रि)* का विनाशक, चतुष्पाद्-ब्रह्म रूप, वह *चतुर्-अश्रि वज्र* है जो अग्रगण्य देवनिंदक आसुरी शक्तियों का सफ़ाया करके विश्व देवों को लाने में समर्थ है।[५६५] माया के विनाश और देव-निंदकों के ह्रास से ही यह संभव होता है कि ममता के गर्भ में स्थित मामतेय बाहर आकर वत्स बने और पर ब्रह्म द्वारा पोषित तीनों माताओं (दैव्य त्रिलोकी) और तीनों पिताओं (मानुषी त्रिलोकी) की जोड़ियों में स्थित उस विश्वरूपा गौ (ब्राह्मी वाक्) को देख पाए[५६६] जिसके विश्व-परक और अविश्व-परक आयाम का विवेचन आवश्यक है।[५६७] यह विवेचन वस्तुतः उन विश्व देवों की मंत्र-साधना है जो दैव्य त्रिलोकी से परे *(दिवः*

अमुष्य पृष्ठे)[५६७] अथ वा ऋक् के *अक्षर परम व्योम* में स्थित कहे जाते हैं।[५६८]

दीर्घ-तमा: की मंज़िल : इस मंत्र-साधना का परिपाक ऋ. १.१६४ सूक्त में मिलता है। यह सूक्त दीर्घ-तमा: के पूर्ववर्ती सूक्तों का निचोड़ है। कृ के विपरीत *ऋक्* की उदृक् गतिवाला-साधक[५६९] अथ वा यज्ञ में *अध्वरे-ष्ठा:* होकर मरुतों (विश्व देवों) को समर्पित हुआ मानुष,[५७०] मानो, इस सूक्त द्वारा तम: से ज्योति की ओर मन्थर गति से जानेवाली अपनी सुदीर्घ पदयात्रा का सिंहावलोकन कररहा हो।

सूक्त का आरंभ वृद्ध *(पलित)* वाम और उसके दो भ्राताओं के उल्लेख से होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन तीन वामों की इकाई का नाम 'जात-वेदा:' है। इसमें एक इकाई तो आत्मा का इन्द्र नामक क्रिया-परक पक्ष है और अन्य दो इकाइयां क्रमश: ज्ञान-परक अग्नि और आनन्द-परक सोम हैं। एक मंत्र में 'जात-वेदा:' को एक ऐसा *त्रि-धातु अर्क* कहा गया है जिसका चक्षु ज्ञानाग्नि-रूप घृत है और जिसका मुख सोमामृत है और जिसे 'रज: का वि-मान', *अजस्र घर्म* और *हवि* भी कहा जा सकता है,

अग्निर् अस्मि जन्मना जात-वेदा:, घृतम् मे चक्षुर् अमृतं म आसन्।
अर्कस् त्रि-धातू रजसो वि-मानो,जस्रो घर्मो हविर् अस्मि नाम। ऋ. ३.२६.७

इस मंत्र की देवता जात-वेदा: अथ वा आत्मा को माना गया है। इस देवता में दीर्घ-तमा: ने तीनों वामों को समाहित मानकर, एक सप्त-पुत्र विश्-पति को देखा, मंत्र १। *विशो वै मरुतो देव-विश:* के अनुसार[५७१] मरुतों के सप्त गण[५७२] इस विश्-पति के सात पुत्र हैं जिन्हें मंत्र २-३ में पुन: अलग अलग इस प्रकार संकेतित किया गया है, १) *सप्त युञ्जन्ति रथम् एक-चक्रम्,* २) *एको अश्वो वहति सप्त-नामा,* ३) *रथं ..... सप्त-चक्रम्,* ४) *इमं रथम् अधि ये सप्त तस्थु:,* ५) *सप्त वहन्त्य् अश्वा:,* ६) *सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते,* ७) *यत्र गवाम् नि-हिता सप्त नाम,* मंत्र ३।

यह सप्त-पुत्र विश्-पति (आत्मा) जिस व्यक्तित्व के भीतर छायाहुआ है उसी में ऋक् का वह *अक्षर परम व्योम* है जिसमें ये सब विश्व देव (मरुत:) अधिष्ठित हैं। यही आत्म-रूप 'वाम' पक्षी का शीर्ष है जिससे क्षीर (आनन्द) का दोहन संभव होता है।[५७३] यह पक्षी (आत्मा) वह वामदेव है जिसका शीर्षस्थान आनन्दमय ब्रह्म है और जिसको सब देव (प्राण) अपना वाम कहते हैं।[५३६]

● उक्त परम व्योम द्यौ का वह पृष्ठ है जहां *एक उर्ध्व* (ब्रह्म) तीन, माताओं (दैवी त्रिलोकी) और तीन पिताओं (मानुषी त्रिलोकी) का पोषण करताहुआ स्थित है। पर वे सब (माता-पिता) उस उदंचनशील ईम् की भी अनदेखी नहीं करते हैं

जो विश्व (आंतरिक जगत्) और अ-विश्व (बाह्य जगत्) से संबंधित वाक् को भी समान रूप से मंत्रत्व प्रदान करते हैं।[५६५] यह 'ईम्' वही वाक् (आम्भृणी) है जिसके बिना किसी भी प्राण (देव) का काम नहीं चलता है। इस वाक् को वे विभिन्न रूप से विभाजित और स्थापित करते हैं। इसके अभिव्यक्त रूप (वैखरी) को प्रत्येक प्राणी सुनता है।[५७४] ब्रह्म-द्वेषी के लिए 'ॐ' नामक रुद्र-धनुष् को ताननेवाली भी यही है।[५७५] और यही पूर्वोक्त वाम नामक पक्षी (आत्मा) का पद है जो प्राणोदक का स्रोत है।

दूसरे शब्दों में, 'ईम्' वह ब्राह्मी वाक् है जिसे दर्शन-शास्त्र में *प्रकृति* कहा जाता है। व्यष्टिगत आत्मा के पूर्वोक्त परम व्योम या शीर्ष से यह व्यक्तित्व की वह अन्तः-प्रकृति होकर आती है जिसकी संज्ञा 'क्षीर' है। बाह्य प्रकृति के रूप में वह स्थूल जगत् *(पद्)* से प्राप्त होती है और 'उदक' कही जाती है।[५७३] इस 'ईम् वाक्' की कल्पना एक गौ के रूप में की जाती है। इसके साथ 'ॐ' का संयोग होने से इच्छाओं, भावनाओं, क्रियाओं, आदि के रूप में जो प्रजाएं पैदा होती हैं वे 'गौएं' हैं। वे उक्त क्षीर और उदक, दोनों का पान करती हैं; अंतः और बाह्य, दोनों से जुड़ीहुई हैं। यही वह 'समान उदक' या 'सरः' है जिसकी ऊर्ध्व गति भी है और अधोगति भी। ऊर्ध्व गति द्वारा गौएँ अग्नियों (प्रेरक ज्योतिर्मय शक्तियों) का रूप धारण करके द्यौ (अन्तःकरण) को प्रीतिमय बनाती हैं और अपनी अधोगति में वे पर्जन्यों (आनन्दवृष्टियों) द्वारा बहिर्मुखी चेतना (भूमि) को प्रेममूर्ति करती हैं,

समानम् एतद् उदकम्, उच् चैत्य् अव चाह-भिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्य् अग्नयः। ऋ. १.१६४.५१

इन द्विविध वृष्टियों द्वारा जीव को तृप्ति प्रदान करनेवाला *सरस्वान्* (समान उदक का स्रोत) वह 'दिव्य सु-पर्ण' है जिसे ओषधि-रूप आपः का निरंतर वर्धमान '(बृहत्) गर्भ' कहा जाता है,

दिव्यं सु-पर्णं वायसं बृहन्तम्, अपां गर्भं दर्शतम् ओषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टि-भिस् तर्पयन्तं, सरस्वन्तम् अवसे जोहवीमि। वही, १.१६४.५२

यह (ब्रह्म-रूप) 'दिव्य सु-पर्ण' ही वह प्रकाश-पुंज है जो दीर्घतमाः-व्यक्तित्व की मंज़िल होनी चाहिए। इसी से वह मेधा या ब्राह्मी वाक् निःसृत होती है जिसे नारायण-सुता *उर्वशी* के रूप में कल्पित किया गया है। उक्त आपः के द्विविध प्रसार से मन की भी द्विविध गति होती है जिसके कारण जीवात्म-रूप पुरूरवाः अपने विविध आयामों में *गंधर्व* कहा जाता है। इस प्रकार पुरूरवाः और उर्वशी का देवत्व-ऋषित्व किसी प्रकार भी मनुष्यदेह-धारी प्रेमियों की बातचीत नहीं ठहरता।

९ छन्द और योग

पुरूरवा: और उर्वशी के संवाद-सूक्त में जो ऋषि और देवता माने गए हैं उनके प्रसंग से मंत्रों के ऋषि और देवता के प्रश्न पर ऊपर विचार किया गया। ऋषि और देवता के अतिरिक्त, प्रत्येक मंत्र के साथ छन्द की समस्या भी जुड़ीहुई है। प्रस्तुत संवाद-सूक्त के प्रत्येक मंत्र का छन्द त्रि-ष्टुप् है और *ऐतरेय आरण्यक* के अनुसार त्रि-ष्टुप् पुरुष का मांस है।[५७६] यह बात निस्संदेह कुछ अटपटी और अद्भुत लगती है पर वैदिक प्रतीक-शैली में ऐसे रहस्यात्मक कथन प्राय: मिलते हैं। इस तरह के चौंकानेवाले वचन सावधान करते हैं कि वैदिक मंत्रों को केवल अक्षरपरिमाणात्मक छन्दों में निबद्ध, आदिम मानव की अभिव्यक्ति-मात्र न समझा जाए। वैदिक छन्द, लोकभाषा के छन्दों के समान, सर्वत्र बिना सोचे-समझे प्रयुक्त नहीं होते हैं। तुलसीदास ने रामकथा को दोहा-चौपाइयों में लिखा है। पर यदि वे चाहते तो इन छन्दों के स्थान पर किसी अन्य छन्द का प्रयोग भी कर सकते थे। *बरवै-रामायण* में उन्होंने ऐसा किया भी है। पर वैदिक छन्दों में ऐसा नहीं है। प्रत्येक छन्द का प्रयोग नियत है।

उदाहरण के लिए, अग्नि, सविता, सोम, बृहस्-पति, मित्रावरुणौ, इन्द्र और विश्व देवों के लिए क्रमश: गायत्री, उष्णिक्, अनु-ष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रि-ष्टुप् और जगती छन्द नियत माने गए हैं।[५७७] फिर भी, इन देवों के लिए नियत छन्दों के स्थान पर जब अन्य छन्दों का प्रयोग होता है तो वह सप्रयोजन होता है।

इसी प्रकार, जो अक्षरपरिमाण किसी छन्द के लिए नियत है उसमें जो यत्र तत्र घटा-बढ़ी होती है वह भी, जैसा कि आगे बतलाया जाएगा. निरुद्देश्य नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त अक्षरपरिमाणात्मक होतेहुए भी, छन्द की प्रतीकात्मकता भी निर्विवाद है। उपर्युक्त सातों छन्द, इसी दृष्टि से, 'गुहाशय प्राण' कहे गए हैं।[५७८] इसी समीकरण से प्रेरित होकर उन्हें विभिन्न संदर्भों में सप्त अर्चियां, सप्त समिधाएं और सप्त लोकों में विचरनेवाले भी कहा गया है। दूसरे शब्दों में, छन्द उस प्राण का भी प्रतीक-नाम है जो सप्तविध होकर सप्त लोकों में अग्नि-तत्त्व (देव) को प्र-स्तुत करनेवाला (प्र-स्तोता अथ वा स्तोता) भी कहा जा सकता है।

इसी लिए, *निघण्टु* में छन्द शब्द *स्तोतृ*-नामों में भी परिगणित है। निस्संदेह, इस संदर्भ में *स्तोता* को प्रशंसक अथ वा प्रार्थी के सामान्य अर्थ में ग्रहण करना भूल होगी। सप्त लोकों का यह सप्तविध प्राण ही मरुतों के सात गणों के रूप

में उपलब्ध होता है। इसी लिए रुद्र-पुत्र मरुतों के लिए प्रयुक्त *रुद्र, कारु, सूरि* जैसे शब्दों[५७९] की गणना *निघण्टु* के *स्तोतृ*-नामों में भी है। अलग से प्राणों को 'मारुत' कहा गया है।[५८०] और *प्राणा वै मरुतः स्वापयः, ब्राह्मणों* की सुप्रसिद्ध उक्ति है।[५८१] यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि वेद में छन्द शब्द किसी अक्षरपरिमाणात्मक रचना के अतिरिक्त प्राण अथ वा मरुत् जैसी आध्यात्मिक शक्ति का भी वाचक है। छन्द की प्रतीकता का आधार यही है। इसी दृष्टि से छन्दों को *इंद्रियं वीर्यं*[५८२] अथ वा *वाक्* कहना[५८३] या *देवा वयो-नाधाः* मानना[५८४] सुसंगत हो सकता है।

इस संदर्भ में ही उस रहस्यमय *छन्दसां योगः*[५८५] को समझा जा सकता है जिसमें प्राणों रूपी छन्दों की एकाग्रता का आधार होता है।

सध्रि (वैरूप)/घर्म (तापस) : इस योग का स्वरूप ऋ १०.११४ सूक्त में संकेतित है। इस सूक्त को उस तपोजन्य तेज *(घर्म)* के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा जो अनेकता में एकता देखनेवाला *(सध्रि)* है और साथ ही जो एकता में विविधता की दृष्टि से *वैरूप* कहा जा सकता है। इस तथ्य की ओर संकेत करने के लिए सूक्त का ऋषि *सध्रिर् (वैरूपो) घर्मो वा (तापसः)* माना गया है। इस चिंतन के मूल में एक ही *ऊँ सु-पर्ण* (आत्मा) है जो व्यक्तित्व के चेतना-समुद्र में प्रविष्ट होताहुआ, आंतरिक जगत् *(विश्व भुवन)* की विविधता का साक्षी होरहा है। पर जब उसको ध्यानसिद्ध मन द्वारा *(पाकेन मनसा)* देखा जाता है तो वह ऊँ अपनी माता (ब्राह्मी वाक्) को चाटता होता है और माता उस ऊँ को चाटरही होती है।[५८६] दूसरे शब्दों में, इस एक ही सु-पर्ण को जब *विप्र कवि* वर्णन करने लगते हैं तो वे उसे अनेक रूपों में कल्पित करते हैं पर जब वे अपने अपने ध्यान-योग *(अध्वर)* की एकाग्रता में प्राणों रूपी छन्दों को धारण करते हैं, तो उनके व्यक्तित्व के बारह अंग* बारह सोमधारक ग्रहों में परिणत हो जाते हैं।[५८७] पुनः जब, व्युत्थान में, कोश-चतुष्टय बारह ग्रह पर्यन्त छन्दों (प्राणों) को धारण करता है तो इच्छा-ज्ञान-क्रिया की त्रिविधता से वे बारह ग्रह छत्तीस हो जाते हैं। और तब कर्मयोगी अपनी मनीषा से जीवन-यज्ञ का निर्माण करके मनुष्य-रथ को ज्ञान-शक्ति और भावना-शक्ति द्वारा *(ऋक्-सामाभ्यां)* संचालित करने लगते हैं।[५८८]

छन्दों की प्राण-रूपता : इस प्रतीकत्व का मूलाधार है छन्दों की प्राण-रूपता। *ब्राह्मण* ग्रंथ *प्राणा वै छन्दांसि* कहकर[५८९] ही चुप नहीं हो जाते हैं अपि तु आगे भी

* बारह अङ्ग हैं दो हाथ, दो चक्षु, दो श्रोत्र, स्वादेन्द्रिय, प्राणेन्द्रिय, वाक्, त्वचा, मन और उपस्थ। बृउ. ३.२-१०

स्पष्ट करतेहुए बतलाते हैं कि अनु-ष्टुप् छन्द 'वाक्'-प्राण है और अन्य इतर छन्द भी प्राण ही हैं।[५९०] सब छन्द बृहती में अभिसंपन्न होते हैं[५९१] और बृहती वह 'वाक्'-प्राण है जो रेतस्सेचन और मेहन करता है।[५९१] मीयमान सोम छन्द है[५९२] जिसे आत्म-रूप *हंसः शुचिषद्* आपः-रूप छन्दों द्वारा पान करता है।[५९३] छन्द वस्तुतः *इंद्रियं वीर्यं* या प्राण हैं।[५९४] इसी लिए *प्राणा इंद्रियाणि* उक्ति प्रचलित हुई।[५९५]

सब छन्दों में गायत्री का विशेष स्थान है। *गायत्री अग्रं ज्यैष्ठ्यं* और अयातयाम्नी है।[५९६] सब छन्द तत्त्वतः गायत्री हैं।[५९७] गायत्री ही एकपदा, द्विपदा, अक्षरपंक्ति, विष्टारपंक्ति, विराज्, अतिच्छन्दस् और अमितछन्द नामक 'मृगच्छंदों' में रूपांतरित होती है। गायत्री सब स्तोमों और छन्दों की प्रजापति है।[५९८] गायत्री तेज है, ब्रह्मवर्चस् है।[५९९] इसी को यजुः रूप में देवों ने *ओजः, सहः, बलं, भ्राजः* और *देवों का धाम, नाम, विश्व, विश्वायु, सर्वम्, सर्वायु* और *अभिभूः* कहकर संबोधित किया था। गायत्री से देव असुरों पर विजयी हुए थे।[६००] दूसरे शब्दों में, गायत्री नामक तेज सभी तेजों, बलों, आदि को जोड़नेवाली यजुः है,[६०१] वाक् है।[६०२] साथ ही गायत्री को *सर्वाणि छन्दांसि* भी कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि गायत्री (तिज, प्राण) में सब प्राणों का समावेश है। इसी लिए गायत्री को पुरुष की त्वचा कहा गया है।[५७६] जैसे मांसादि त्वचा से संबद्ध होते हैं उसी प्रकार गायत्री के भीतर सब छन्द (तिज, आदि) माने गए हैं। अतः ब्रह्माग्नि से समिद्ध होकर गायत्री अन्य छन्दों (तिजों, प्राणों) को भी समिद्ध करती है।[६०३]

गायत्री की इस सर्वोपरिता की झलक विभिन्न वैदिक छन्दों के अक्षरपरिमाण में देखी जा सकती है। विभिन्न तेजों, बलों, आदि का प्रतीक बनाने के लिए जो अक्षरपरिमाण विभिन्न छन्दों को दिया गया है वह एक प्रकार से, गायत्री के छन्दः-परिमाण पर आधारित नहीं तो उससे जुड़ाहुआ अवश्य रखा गया है। यह बात निम्न लिखित अक्षरपरिमाण-तालिका से प्रकट है,

छन्द	*पाद-परिमाण*	*अक्षर-संख्या*
गायत्री	तीन (अष्टाक्षर)	८+८+८
अनु-ष्टुप्	चार गायत्र (८ अक्षर)	८+८+८+८
उष्णिक्	दो गायत्र+एक जागत (१२ अक्षर)	८+८+१२
ककुप्	दो गायत्रों के बीच एक जागत	८+१२+८
पुर-उष्णिक्	एक जागत+दो गायत्र	१२+८+८
बृहती	१ जागत+३ गायत्र	१२+८+८+८
पथ्या बृहती	२ गायत्र+१ जागत+१ गायत्र	८+८+१२+८

न्यङ्कुसारणि (उरोबृहती)	गायत्र+जागत+२ गायत्र	८+१२+८+८
उपरिष्टाद् बृहती	३ गायत्र+१ जागत	८+८+८+१२
पङ्क्ति	२ जागत+२ गायत्र	१२+१२+८+८
सत: पंक्ति	जागत+गायत्र+जागत+गायत्र, अथ वा	१२+८+१२+८
	गायत्र+जागत+गायत्र+जागत	८+१२+८+१२
विष्टारपंक्ति	गायत्र+२ जागत+गायत्र	८+१२+१२+८
संस्तारपंक्ति	जागत+२ गायत्र+जागत	१२+८+८+१२
पथ्यापंक्ति	५ गायत्र	८+८+८+८+८
जगती पंक्ति	६ गायत्र	८+८+८+८+८+८
ज्योतिष्मती जगती	१ जागत+४ गायत्र	१२+८+८+८+८
ज्योतिष्मती त्रि-ष्टुप्	१ त्रि-ष्टुप्–पाद+३ गायत्र	११+८+८+८
पुरस्ताज्ज्योति जगती	१ जागत+३ गायत्र	१२+८+८+८
मध्येज्योति त्रि-ष्टुप्	२ गायत्र+१ त्रैष्टुभ+२ गायत्र	८+८+११+८+८
उपरिष्टाज्ज्योति जगती	४ गायत्र+१ जागत	८+८+८+८+१२
उपरिष्टाज्ज्योति त्रि-ष्टुप्	४ गायत्र+१ त्रैष्टुभ	८+८+८+८+११

गायत्री त्वक् : इस तालिका को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अष्टाक्षर गायत्र पाद प्रसिद्ध सातों छन्दों से जुड़कर वेदों में छन्दों की विविधता उपस्थित करता है। इस दृष्टिकोण का एकमात्र लक्ष्य यह है कि जिन तेजों के प्रतीक पूर्वोक्त सात छन्द माने गए हैं उन सबके मूल में उस भर्ग नामक तेज को स्वीकार किया जाए जिसका प्रतीक गायत्री छन्द है।[६०४] सातों प्रकार के तेजों या प्राणों को *पावमानी* कहा गया है[६०५] और एक गायत्रीदेवताक मंत्र में उनसे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण और ब्रह्मवर्चस नामक सात धन प्रदान करके, पुन: ब्रह्मलोक को चले जाने की प्रार्थना की गई है।[६०६] साथ ही यह भी कहा गया है कि *वेद-माता* (गायत्री) की स्तुति का यह परिणाम है कि पावमानियां (प्राण) उक्त सप्त धन प्रदान करती हैं।

प्राणों को पावमानी बनानेवाली स्वयं गायत्री है। वह श्येन होकर स्वर्ग (हिरण्यय कोश) को जाती है और वहां से *पवमान* (सोम) को लाकर अनेक सवनों को जन्म देती है। इसी लिए गायत्री को *प्रेति च एति च* रूप वाली कहा जाता है।[६०७] ऊर्ध्व गमन और प्रत्यावर्तन के संदर्भ से उसके दो अतिरात्रों, दो अग्निष्टोमों और दो ज्योतियों की कल्पना की गई है और इस कारण उसको *ज्योतिष्पक्षा* कहा गया है।[६०८] इस कल्पना का मूल आधार ध्यान-योग है। हमारी त्वचा में सामान्यत: जो संवेदनशीलता होती है उसे ध्यान-योग द्वारा अंतर्मुखी करने पर मूलाधार से

अग्नि-तत्त्व उभरता है। जिस मात्रा में अग्नि-तत्त्व उभरता है उसी मात्रा में अन्तस्तम कोश से 'पवमान' सोम(आनन्द तत्त्व) नीचे उतरता है। इस प्रकार चेतना के आरोह-अवरोह द्वारा 'पवमान' नीचे उतरते-उतरते व्यक्तित्व के सब स्तरों पर प्राणों को *पावमान* बना देता है। इसके परिणाम-स्वरूप होनेवाली, अग्नि और सोम की समन्वित वृद्धि से *गय* नामक प्राणों का विस्तार होता है। चन्द्रमा बनकर स्वर्ग-गमन करने के कारण ये प्राण *गय* कहलाते हैं। इन प्राणों के कारण संबंधित आत्म-चेतना को *गायत्री* कहा जाता है।[६०९] इस प्रकार, अन्नमय कोश से हिरण्यय कोश तक जो पंचविध आत्मोक्थ होता है[६१०] उसके पारिभाषिक नाम क्रमशः *पृथिवी, वायु, आकाश, आपः* और *ज्योतियां* हैं। ये आत्मोक्थ ही प्राणोक्थ[६११] अथ वा वामोक्थ[६१२] भी कहलाते हैं, क्यों कि तत्त्वतः गायत्री 'वाक्'-प्राण है जो वस्तुतः आत्मा की शक्ति है।

अतः, एक दृष्टि से, जो गायत्री-तेज पुरुष की त्वचा कही जाती है वही भीतरी स्तर पर त्रिविध आवरण *(स्तूप)* ग्रहण करके पुरुष का *त्रि-ष्टुप्* नामक 'मांस' कहलाता है, और 'उष्णिक्, अनु-ष्टुप्, जगती, पंक्ति' और 'बृहती' को क्रमशः *लोम, स्नायु, अस्थि, मज्जा* और *प्राण* कहा जाता है।[५७६] इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि मंत्रों के जो छन्दो-नाम हैं वे केवल तत्-तद् अक्षरपरिमाण के बोधक ही नहीं हैं अपि तु आध्यात्मिक तत्त्वों के भी द्योतक हैं। यही कारण है कि *बृहद्देवता*-कार ने ऋषि और देवता के साथ छन्द और योग का ज्ञान भी वेदाध्यापन और जप के लिए आवश्यक माना है।[६१३] स्कंदस्वामी को छोड़कर सब प्राचीन भाष्यकारों ने इसे मूक समर्थन दिया है, यद्यपि इसको व्यवहार में लाने का प्रयास किसी ने नहीं किया। भाष्यकारों की इस उपेक्षा का मुख्य कारण यह था कि वे प्रायः यज्ञपरक अर्थ करते थे और यज्ञ को वे केवल भोगोन्मुख कर्मकाण्ड मानते थे और उसकी अध्यात्मयोगात्मकता से अनभिज्ञ थे। इसलिए आज तक भी *बृहद्देवता* में प्रयुक्त *योग* शब्द को विद्वानों ने 'विनियोग' अर्थ में ग्रहण किया हुआ है।

: २ : योग और छन्द

योग और छन्द पर *बृहद्देवता*-कार की दृष्टि निश्चित है। वह केवल ऋषि, देवता और छन्द के साथ योग की अपरिहार्यता को बताकर ही चुप नहीं हो जाता। अन्यत्र भी वह एकवचनान्त *योग* शब्द का प्रयोग बहुवचनान्त *नि-योग* के साथ करतेहुए, इन दोनों को दाक्ष्य, दम, बुद्धि, तप और बाहुश्रुत्य के साथ, ऋग्-रूप देवताओं की उपासना द्वारा वेद-तत्त्व के बोध के लिए आवश्यक मानता है,

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या, बाहुश्रुत्येन तपसा नि-योगैः ।
उपास्यास् ताः कृत्स्नशो देवता या, ऋचो ह यो वेद स वेद तत्त्वम् ।।
बृ.दे. ७.१३०

इससे स्पष्ट है कि 'योग' विनियोग से भिन्न है, क्यों कि *वि-नि-योग* का तात्पर्य विविध अथ वा विशेष नियमों से होता है जिसके लिए *बृहद्देवता*-कार यहां 'नि-योगैः' द्वारा संकेत देरहा है।

● इसके अतिरिक्त भी, उसी प्रसंग में आगे ग्रंथकार मंत्रों के ऋषि, छन्द और देवता का ध्यान रखतेहुए आत्मा में ही आत्मा का विवेचन करके उस ब्रह्मामृत विश्वेश में प्रवेश करने की आवश्यकता पर बल देता है जो सद्-असत् की ध्रुव योनि और उत्तम ज्योति है,

ऋषिं च प्रथमं ब्रूयाच्, छन्दस् तु तद्-अनन्तरम् ।
देवताम् अथ मन्त्राणां, कर्मस्व् एवम् इति *श्रुतिः ।।*
आधारम् वाप्य् अनाधारं, विविच्यात्मानम् आत्मनि ।
ईक्षमाणो ह्य् उभौ संधिम्, ऋचो दैवतवित् पठेत् ।।
स ब्रह्मामृतम् अत्यन्तं, योनिं सद्-असद् ध्रुवम् ।
महच् चाणुं च विश्वेशं, विशति ज्योतिर् उत्तमम् । विशति ज्योतिर् उत्तमम् । बृ.दे. ७.१३४-१४०

यह निस्संदेह ध्यान-योग और समाधि की ओर संकेत है जिसमें आधार-पूर्वक (साकार) अथ वा निराधार-पूर्वक (निराकार) उपासना द्वारा 'महत् और अणु' की 'उत्तम ज्योति' में प्रवेश करने की बात कही गई है। इसी द्विविध उपासना को *घेरण्ड-संहिता* में क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म कहकर, तीसरी विधि 'ज्योतिः' को और जोड़ दिया गया है और तीनों को ध्यान की विधियां कहा है,

स्थूलं, ज्योतिस् तथा सूक्ष्मं, ध्यानस्य त्रिविधं विदुः ।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं, ज्योतिस् तेजोमयं तथा ।।
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म, कुण्डली परदेवता । ६.१

● इस प्रकार के ध्यान में प्राण की भूमिका का महत्त्व एक निर्विवाद तथ्य है। पातंजल योग और हठयोग में इसे *प्राणायाम* के रूप में मान्यता दी गई है। यह भी स्पष्ट है कि प्राणायाम का उद्देश्य सांस का पूरक, कुंभक और रेचकं करना मात्र नहीं है। उसका सबसे बड़ा उद्देश्य मन की ऊर्ध्व गति द्वारा 'मनोन्मनी शक्ति का बोध और आनन्द की प्राप्ति' था।[६१४] किसी किसी ने तो इस उद्देश्य से, पांतजल योग के विपरीत, प्रत्याहार को प्राणायाम से पूर्व स्थान दिया है,[६१५] क्यों कि

'प्रत्याहार' शब्द से अभिप्राय होता है इधर-उधर भागतेहुए मन को अचल और स्थिर करके, ऊर्ध्वमना होने का अभ्यास करना। इसके 'विज्ञानमात्र' से कामादि का नाश होना बताया गया है,

अथात: सं-प्र-वक्ष्यामि, प्रत्य्-आ-हारकम् उत्तमम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।। ४.१

इस तरह, *बृहद्देवता* द्वारा ऋचो-रूप देवताओं की उपासना का अथ वा, वेदार्थ के प्रसंग में, योग के साथ ऋषि, देवता और छन्द के महत्त्व का प्रतिपादन करना और इन तीनों में प्राण-दृष्टि को स्वीकार करना सप्रयोजन है।[६१६] *बृहद्देवता* के शब्दों में, योग की प्रमुख प्रवृत्ति आत्मा में आत्मा की खोज करना है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* भी कुछ ऐसी ही साधना बताकर ध्यान-योग द्वारा स्वगुणों में छिपीहुई देवात्मशक्ति को देखनेवाले ऋषियों की ओर संकेत करती है।[६१७] जब आत्म-तत्त्व की गवेषणा आरंभ होती है तो निस्संदेह प्राण-व्यापार के तीन अंग हो जाते हैं,

१. अभिचक्षण, अर्थात्, चक्षु का कार्य।

२. द्योतन, अर्थात्, अंधकार के आवरण का निवारण।

३. आह्लादन, अर्थात् आवरण-निवारण से उत्तरोत्तर होनेवाला हर्ष।

ऋषि : इन तीनों में से, पहले अंग का प्रतीक-नाम 'ऋषि' है जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'द्रष्टा'। अभिचक्षण का ऋषि-कार्य वस्तुत: एक निरंतर मानसिक यात्रा है जो आरोह और अवरोह क्रम से द्विविध होती है। आरोहण में, ज्ञात दैहिक आत्मा से आरंभ करके अज्ञात अ-शरीरी आत्मा से संपर्क करने का प्रयास होता है। प्रत्येक आरोहण-प्रयास एक 'योग'-सोपान है; प्रत्येक अवरोहण उस प्रयास से प्राप्त यत् किं चित् उपलब्धि द्वारा दैहिक आत्मा का 'क्षेम'-संपादन करना है। इसी दृष्टि से *ब्राह्मण* ग्रंथों ने ऋषियों के दो भेद माने हैं, एक, *पराक्*, अर्थात्, ऊर्ध्वगामी, तो दूसरे, *अर्वाक्*, अर्थात्, अधोगामी। ये दोनों वस्तुत: एक ही ऋषि-कार्य के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे के पूरक होने से एकर्षि-कार्य को सिद्ध करते हैं। इस एकर्षि का नाम *गोतम* है जिसकी उपासना पराक् और अर्वाक्, दोनों ऋषि-परिवार करते हैं।[६१८]

देवता : दूसरे अंग का प्रतीक-नाम 'देवता' है जिसका शाब्दिक अर्थ है द्योतनशील देव का 'देवत्व' गुण अथ वा द्योतनशील शक्ति। देव तो एक ब्रह्म ही है। उसका वाचक *ओं* है। ओं से जनित बल या तेज का नाम *ओ-ज* है। देवोद्भूत सब देवताएं इस ओज से युक्त हैं। इस ओज की भी द्विविध गति है। इस कारण 'मूल एक देव' के, अग्नि और इन्द्र नाम के, दो पक्षों की कल्पना की गई और इन्द्राग्नी को

ओजिष्ठौ, बलिष्ठौ, सहिष्ठौ कहा गया।[६१९] इन्द्र और अग्नि के सम्बन्ध से सब देवताएं दो भागों में विभक्त की गई।[६२०] इन सब देवताओं की समष्टि का नाम *प्राण* है। एक दृष्टि से, समष्टिगत प्राण *(कृत्स्ना देवता)* को 'वायु' कहा जाता है और उसके अन्य रूपों को १५ वर्गों में विभक्त किया जाता है जिनके नाम *आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, अहः, मन, चक्षु, श्रोत्र,* आदि कहे जाते हैं।[६२१] अन्य दृष्टियों से इन्हें ३३ वर्गों में विभक्त किया गया है।[६२२]

मानव के व्यक्तित्व के मानसिक और अतिमानसिक स्तरों पर ये सब प्राण दो दो भिन्न प्रकारों से कार्यरत हैं। मन को 'मनुष्यधुर्' तो अतिमन *(आपः)* को देवधुर् कहा जाता है।[६२३] इन दोनों से परे हिरण्यय (आनन्दमय) कोश को 'अमृत पद' कहते हैं, जिसमें दोनों स्तरों का संधान होता है।[६२४] इन दोनों स्तरों पर, प्राण-देवताओं की भी, ऋषियों के समान, पराक् (ऊर्ध्व) और अर्वाक् (अधः) गतियां होती हैं। इस द्विविध गति के संदर्भ से, अतिमानसिक स्तर पर, सब देवता *प्राणोदान*-रूप 'इन्द्राग्नी' कहे जाते हैं, तो मानसिक स्तर पर *प्राणापान*-रूप 'इंद्राग्नी' कहाते हैं।[६२५] प्राणोदान के अंतर्गत प्राण-देवता *वायु, मातरिश्वा, पवमान* और *वात* नामों से समाविष्ट होते हैं,[६२६] तो प्राणापान के अन्तर्गत समाविष्ट होनेवाले प्राणों की संज्ञा *चक्षु, श्रोत्र, मन* और *वाक्* होती है।[६२७] प्राणोदानौ और प्राणापानौ को 'मित्रावरुणौ' भी कहा जाता है।[६२८]

देवता-रूप में, सब प्राण अपने अपने ढंग से विभिन्न स्तरों पर मानव के व्यक्तित्व पर अपनी ज्योति को फैलाकर अंधकार को दूर करते हैं। इससे ऋषियों का अभिचक्षण कार्य संभव होता है। दैवत प्राणों की सहायता के बिना ऋषियों का काम नहीं चल सकता है। वेद-मंत्रों में प्रायः यह बताया जाता है कि ऋषि अपने संकट-निवारण में देवों का *सख्य, ऊति, जूति,* आदि मांगते हैं और देव तरह तरह से उनकी सहायता करते हैं। *देवता* वस्तुतः देव का देवत्व है। प्रत्येक देवत्व अथ वा देवता 'मूल देव' का ही कोई न कोई 'गुण' होता है। अतः हर देवत्व अथ वा देवता के प्रसंग से 'मूल देव' के एक नए रूप की कल्पना करके उस 'मूल देव' से प्रार्थना की जाती है।

छन्द : ऋषि और देवता कहे जानेवाले उक्त प्राणों का सम्मिलित प्रयास, योग में, एक ही लक्ष्य को लेकर चलरहा होता है और वह है वेद-तत्त्व का दर्शन अथ वा अभिचक्षण। पर बीच में छन्द स्थित है।[६२९] ऋषि और देवता के समान, छन्द भी प्राण का ही एक रूप है। पर इसके दो पक्ष हैं। एक पक्ष में वह असुर-छन्द है, तो दूसरे में देव-छन्द है।[६३०] प्रथम रूप में, छादन करने के कारण,[५७६] वह वृत्र नामक

आवरक 'दीर्घ तमः' को जन्म देता है। दूसरे रूप में छन्दन (आह्लादन)[६३१] द्वारा वही वरुण नामक देव को खड़ा करके आनन्ददायक सोम की सृष्टि करने में हेतु बनता है। इसी दृष्टि से छादन और आह्लादन, दोनों ही अर्थों के संदर्भ से छन्द शब्द की निष्पत्ति मानी जाती रही है। छन्द के इस द्विविध रूप का कारण भी, ऋषि और देवता के समान, पराक् और अर्वाक् गति पर आधारित माना गया प्रतीत होता है।

पराक् गति ऊर्ध्वमुखी अथ वा अन्तर्मुखी होती है। अतिमानसिक स्तर पर इस गति का लक्ष्य सोम (आंतरिक आनन्द) है। प्रतीक की भाषा में इसी बात को कई तरह से कहा जाता है, यथा,

१. *इन्हीं छन्दों से हम असुरों को नष्ट करेंगे,* जैब्रा. ९.९८
२. *देवों ने सोम का सवन* (सारग्रहण) *छन्दों द्वारा किया,* तैब्रा. २.२.८.७
३. *छन्दों द्वारा देव लोग आदित्य नामक स्वर्ग को गए,* तांबा. १२.१०.६
४. *छन्दों द्वारा राक्षस, पापी या शत्रु मारा जाता है,* काठ. २५.९., जैब्रा. १.८६

इसके विपरीत, अर्वाक् गति अधोमुखी अथ वा बहिर्मुखी है जो स्थूल विषय-भोगों में आसक्त होती है। इस गति के फलस्वरूप अज्ञान-अंधकार रूप वृत्र, पाप या शत्रु सर्वत्र छा जाता है। इसका विनाश होने पर ही यज्ञ का विस्तार, आदि मांगलिक प्रवृत्तियां संभव हैं। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि,

१. *छन्द वरुण का पाश है,* मै. २.३.३, काठ. १२.६
२. *छन्दों से आच्छादन होता है। इसी लिए वे छन्द कहे जाते हैं,* ऐब्रा. २.१.६
३. *अग्नि से समिद्ध छन्द ही देवों के लिए यज्ञ को वहन करते हैं,* शब्रा. १.३.४.६

● वैदिक तत्त्वज्ञान के प्रसंग में, *छन्दः* शब्द को *तमु* (इच्छायाम्) धातु से निष्पन्न *तमः* शब्द का पर्यायवाची माना जा सकता है। पर इस दृष्टि से, तमः को बहिर्मुख स्थूल भोगों की इच्छाओं से उत्पन्न अज्ञान-अंधकार के अतिरिक्त, आंतरिक उपरति या शांति की अन्तर्मुखी इच्छा से प्रादुर्भूत विश्राम, सुख, आनन्द का भी वाचक मानना पड़ेगा। निस्संदेह, दर्शन-शास्त्र में, स्थिति, निद्रा, निवृत्ति, आदि उसी प्रकार तमः से उत्पन्न माने गए हैं जिस प्रकार तंद्रा, आलस्य, मोह, लोभ, आदि। भोगासक्त इच्छाओं का परिणाम अज्ञान (वृत्र) है, तो निवृत्ति या शांति की इच्छा का अंतिम फल आनन्द (सोम) है। इसी तमः के संदर्भ से, पुराणों में, तमोमय

शिव, आदि ऐसे देवों और देवियों की कल्पना की गई है जिनका एक रौद्र पक्ष भी होता है।[६३२] इसी लिए कहा जाता है कि सोम पहले वृत्र था।[६३३] इसका अभिप्राय है कि आच्छन्न सोम *वृत्र* है। अज्ञान-रूप तमः वस्तुतः आवृत ज्ञान है। यही *पाश*-रूप छन्द है। वेदतत्त्व को समझने में जिस छन्द का माहात्म्य है वह तमः के पार उदय होतीहुई और मुस्काती हुई उषा का उपमेय है।[६३४]

संग्राम, सहयोग और समन्वय : *संग्राम* : इस प्रकार, छन्द की कल्पना में दो परस्पर-विरोधी तत्त्वों का समावेश है। छन्दों का एक स्तर ऐसा है जहां ये दोनों तत्त्व, देव और असुर नामों से संघर्षरत माने गए हैं।[६३५] इस स्तर पर, दोनों के बीच स्थित विषमता ही युद्ध का कारण है। देवों के पास थोड़ा धन, असुरों के पास अपार धन;[६३६] देवों के छन्द अति-छोटे, असुरों के बहुत बड़े;[६३७] देव दीन-हीन, पराजित मन वाले, मनस्वितारहित, असुर अधिक मनस्वी। देवों के पास तो केवल 'चक्र' है जिसके द्वारा श्वासोच्छ्वास, निमेषोन्मेष और रक्तसंचार का चक्र चलता रहता है पर असुरों के पास मन से लेकर इच्छाओं, विचारों और क्रियाओं में अभिव्यक्त प्राणों के महाजाल में छायाहुआ 'छाल' या जाल है।[६३८] इस प्रकार पृथिवी (अन्नमय), अंतरिक्ष (प्राणमय) और आकाश (मनोमय) लोकों पर असुरों का शासन होता है जहां वे अपने पुरों का निर्माण किएहुए हैं।[६३९] तमः (इच्छा-समष्टि) और माया (निर्माण-शक्ति) पर असुरों का आधिपत्य होता है।[६४०]

सहयोग : दूसरा स्तर तब आरंभ होता है जब देव और असुर यज्ञ में समान रूप से रत होते हैं।[६४१] जो देव करते हैं वही असुर करते हैं।[६४२] पुराणों में, इस देवासुर-सहयोग को अमृत-मंथन के आख्यान द्वारा व्यक्त किया गया है। *गोपथ ब्राह्मण* के सृष्टिवर्णन में, अशान्त आपः के समुद्र पर वरुण का आधिपत्य होना, और सर्पविद, पिशाचवेद और असुरवेद का, इतिहासवेद और पुराणवेद द्वारा निरंतर शम्-उपार्जन करतेहुए, 'तत्' व्याहृति की ओर बढ़ना, वस्तुतः, इसी सहयोग को प्रकट करता है।[६४३]

समन्वय : तीसरे स्तर पर समन्वय-योग का उदय होता है। सहयोग-काल में, जो छोटे छोटे तात्कालिक *साम* (समन्वय) स्वतः प्रादुर्भूत होते रहते हैं उनकी परिणति सत्यमूलक *यौधाजय* नामक साम के *'ओं' निधन* में होती है। इसके परिणामस्वरूप पूर्ण समन्वय *(साम-साम)* हो जाता है।[६४४] देवत्व-असुरत्व से परे स्थित 'वेदि' नामक परा वृत्ति उद्भूत होती है, जिसके द्वारा असुरों का समस्त 'स्वम्' (तमः और माया) देवों को सुलभ हो जाता है।[६४५] इसी का नाम है देवों द्वारा असुर-विजय, असुरों का निर्माय होना,[६४६] असुर-वध, अथ वा *अदेवीः मायाः* का सोम रूप

होना।[६४७] यही वह 'साम' है जिसे प्राप्त करने के साथ ही, इन्द्र अपने 'भ्रातृवत् सप्तथ'* (वृत्र) की माया को ऋत-पक्ष में लाने के योग्य होता है।[६४८] इसी का नाम समन्वय-योग है जिससे वेद तत्त्व की उपलब्धि होती है।

उत्तरोत्तर-योग और ऋषि-देव प्रयास : इस स्थिति तक पहुंचने के लिए उत्तरोत्तर-योग की प्रक्रिया चलती है। इस प्रक्रिया की क्रमिक उपलब्धि विभिन्न स्तरों पर तदनुरूप पुरुष (मानव-व्यक्तित्व) की विभिन्न शक्तियों *(तोक, तनय)* के क्षेम का विधान करती रहती है।[६४९] प्रत्येक योग-प्रयास से कुछ न कुछ आध्यात्मिक बल *(वाज)* प्राप्त होता है, पर उससे भी अधिक सशक्त बल *(तवस्तर)* का आह्वान भी किया जाता है।[६५०] सबसे निचला स्तर पूर्वोक्त सर्पविद है जहां अर्बुद (काद्रवेय) नामक 'सर्प'-ऋषि अपने प्रयास को अभिव्यक्ति देता है। निम्न स्तरों *(मनुष्य-धुर)* पर, योग-प्रयास की संज्ञा 'युग' है। क्षेम की इच्छुक, मानवीय सहज वृत्तियां *(ध्रुवा: पितर:)* प्रत्येक युग में, किसी सद: के सदस्यों के समान, 'युक्त' होती हैं और 'हरि' नामक शुद्ध सोम की सेवनकर्ता *(हरि-षाच)* कही जाती है।[६५१] पर यह तो उस दौड़ का आरम्भ है जिसकी परिणति देव-धुर स्तर में होनी है। वहां मानवात्मा (इन्द्र) मानव-व्यक्तित्व को समत्व या साम *('सम्-इति')* प्रदान करके, निचली प्रवृत्तियों से कह देता है कि अब तुम उदक के मण्डूकों की तरह 'नीचे *टर्र टर्र* करते रहो',

अभि-भूर् अहम् आगमं, विश्व-कर्मेण धाम्ना।
आ वश् चित्तम् आ वो व्रतम्, आ वोहं सम्-इतिं ददे।
योग-क्षेमं व आ-दायाहं भूयासम् उत्तम आ वो मूर्धानम् अक्रमीम्।
अधस्पदान् म उद् वदत मण्डूका-इवोदकान् मण्डूका उदकाद्-इव।

ऋ. १०.१६६.४–५

हरिसेवन प्रदान करनेवाली यह 'समिति' नामक परिणति अन्यत्र 'हरि-योग' कही गई है जो आनन्दमय(हिरण्यय)कोश रूप हिरण्यय रथ से संबद्ध कही जाती है।[६५२] हिरण्यय-पुरुष रूप आदित्य की रश्मियों के रूप में जो निचले स्तरों पर सैकड़ों और हज़ारों हरि *(हरय:)* हैं[६५३] वे सब 'हरि-योग' में केंद्रित हो जाते हैं। यही वह 'हारियोजन' नामक दिव्य ग्रह, पात्र, कोश वा सोम है जिसके लिए पूर्वोक्त सर्पविद

* अहंबुद्धि और मन सहित पांच प्राणों पांच ज्ञानेंद्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों के तीन सप्तक बनते हैं। उनको अभिभूत करने के कारण अहंकार-रूप वृत्र को 'सप्तथ' कहा जाता है। जब उक्त समन्वय (साम) स्थापित हो जाता है तो यह शत्रु *(भ्रातृव्य)* भ्राता में बदलकर, अन्-ऋत के स्थान पर ऋत का पक्षधर हो जाता है।

के स्तर से आरम्भ होकर विभिन्न युगों में निरन्तर साधना चलती है।[६५४] इन सब असंख्य हरियों को, मानव के पूर्व पक्ष और अपर पक्ष की दृष्टि से द्विविध मानकर, 'दो हरि' *(हरी)* कहा जाता है।[६५५] इनको प्रसंग-भेद से अहो-रात्र,[६५६] ऋक्-साम,[६५७] दर्श-पूर्णमासौ,[६५८] द्यावापृथिवी[६५९] भी कह देते हैं। ये वे ही पराक् और अर्वाक् नामक पक्ष हैं जिनका उल्लेख ऋषियों, देवताओं और छन्दों की कल्पनाओं में भी हो चुका है। ये ही अन्ततो गत्वा, 'हरि-योग' में हरि (सोम) नामक एक-मात्र प्राण बन जाते हैं।[६६०]

दूसरे शब्दों में, वेदार्थ के इच्छुक ऋषि और देवता जब छन्दों द्वारा दौड़तेहुए कहे जाते हैं तो उनका गन्तव्य वही हरि-योग होता है जिसके लिए प्राणों के तीनों पक्ष (ऋषि, देवता, छन्द) उक्त एकीभूत प्राण में परिणत होते हैं। अत: हरि-योग ही वह तत्त्व है जिसकी ओर सब मंत्र प्रत्यक्ष अथ वा परोक्ष रूप में संकेत करते हैं। यही वह *वेद* तत्त्व है जिसे *ऋग्वेद* के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में *तत् सत्यं*, दूसरे सूक्त में *सोमपीति*, तीसरे में *महो अर्णः*, चौथे में *इन्द्रस्य शर्म*, और पांचवें में *योग* कहा है। छठे सूक्त में दोनों *हरी विपक्षसा* द्वारा इस योग से युक्त होने का जो प्रसंग चलता है वह *युज्* धातु के असंख्य प्रयोगों और उससे निष्पन्न शब्दों के माध्यम से सारे *ऋग्वेद* में फैलाहुआ है। इसी योग की परिणति ऋग्वेदीय उपसंहार के *सु-सह-असति-त्व* में होती है।[६६१]

: ३ : संवाद-सूक्त का त्रिष्टुप् छन्द

अब तक योग के संदर्भ में छन्दों को जो विवेचन हुआ है उसके आलोक में यह समझना सरल है कि वेद में विभिन्न छन्दों का प्रयोग यथास्थान सप्रयोजन ही हुआ है। पुरूरवा:-उर्वशी-सूक्त की छन्दो-योजना भी इसी ओर संकेत करती है। इस बात को पुर्ष्ट करने के लिए *त्रि-ष्टुप्* के निर्वचन से चर्चा आरंभ कर सकते हैं। इस प्रसंग में, पहले *स्तूप* शब्द को लेते हैं। इस शब्द का प्रयोग *ऋग्वेद* में केवल दो-तीन स्थलों पर हुआ है। *त्रि-ष्टुप्* (त्रि+स्तुप्) शब्द जिस त्रिविध स्तूप की ओर संकेत करता है वह वस्तुत: उस *ऊर्ध्व स्तूप* का अंगभूत है जिसका पैंदा *(बुध्न)* हमारे भीतर ऊपर की ओर है और जिसके अन्तर्निहित केतु नीचे की ओर बतलाए जाते हैं,

अबुघ्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूत-दक्षः।
नीचीनाः स्थुर् उपरि बुध्न एषाम्, अस्मे अन्तर् नि-हिताः केतवः स्युः।
ऋ. १.२४.७

इस मंत्र में जिस स्तूप को वरुण-प्रदत्त कहा गया है उसकी तुलना उस एकं बृहत्

के साथ की जा सकती है जिसके अन्तर्गत त्रिष्टुप्, गायत्री, आदि सभी छन्द संयमशील जीव में *(यमे)* 'आ-हित' कहे जाते हैं।[६६२] इस स्तूप को अन्यत्र दिन *(अहः)* के रूप में कल्पित किया गया है और इन्द्र की *अभिश्रीः*-स्वरूप त्रि-ष्टुप् को दिन का एक भाग कहा गया है।[६६३]

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि त्रि-ष्टुप् छन्द बृहत् 'छन्दसां योग' का अंग है। यह योग ज्योतिर्मय, दिव्य प्राण रूप छन्दों की समष्टि *(अहः)* है और केवल संयमशील साधक *(यम)* के भीतर सत्यानृत-विवेकी वरुण के अनुग्रह का फल है। इस रहस्यमय योग को कोई अज्ञात धीर ही जानता है और संभवतः उसी धीर को *अष्टम शूर* कहा जाता है,[५८५] क्यों कि वह पांच ज्ञानेंद्रियों, मन और अहंबुद्धि से परे का 'महत्' नामक आठवां स्तर प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उक्त *स्तूप, अहः* अथ वा *छन्दसां योग* वस्तुतः उन उत्कृष्टतम दिव्य प्राण रूप छन्दों की समष्टि है जो संयमशील साधक के भीतर एक अद्‌भुत *अभि-श्रीः* का स्रोत खोल देते हैं। यह स्रोत ही वह उत्स है जिसे खोलनेवाले मरुतों की 'छन्दः-स्तुभ' संज्ञा है,

छन्दः-स्तुभः कु-मन्यवः, उत्सम् आ कीरिणो नृतुः।
ते मे के चिन् न तायव, ऊमा आसन् दृशि त्विषे। ऋ. ५.५२.१२

मरुतों के लिए प्रयुक्त *'छन्दः-स्तुभः'* शब्द यहां साभिप्राय है, क्यों कि उक्त तेजोमय स्तूप (स्रोत, उत्स अथ वा अहः) को लानेवाले वस्तुतः मरुत नामक प्राण हैं। अतः प्राण-रूप त्रि-ष्टुप् छन्द जिस स्तूप, आदि का अंगभूत माना गया है वह (स्तूप) साधक के भीतर का साधना-जन्य, ज्योतिर्मय जगत् है। यह जगत् इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की उत्तरोत्तर दिव्यता आने पर, अर्थात्, त्रिविध स्तूप के रूप में हो जाने पर *त्रि-ष्टुप्* कहाता है। अतः मंत्रों में जहां जहां *त्रि-ष्टुप्* छन्द का प्रयोग है वहां वहां इसी आध्यात्मिक स्तर का विषय किसी न किसी रूप में मिलना चाहिए।

● उदाहरण के लिए, पुरूरवाः-उर्वशी के संवाद-सूक्त में उर्वशी को ब्राह्मी वाक् मानने पर, और स्वर्ग तक धावा बोलनेवाले पुरुरवाः ऐड को मनुष्य का एक सुविकसित साधक-तुल्य व्यक्तित्व मान लेने पर, यदि दोनों के वचनों का विश्लेषण करें तो सार यही निकलता है कि जो साधक ब्राह्मी वाक् का प्रेमी है उसे अपने स्थूल जीवन के स्तर से तो केवल इतना सा संबंध रखना है कि उसकी शक्ति (प्र-जा) से श्रेष्ठतम-कर्म रूप में देव-यजन होता रहे। अन्यथा उसे तो स्वर्ग का ही आनन्द लेते रहना है। क्यों कि ब्राह्मी वाक् का प्रेमी होकर अब वह केवल स्थूल स्तर का

मृत्यु-बन्धु ही नहीं है अपि तु दिव्य मेधा से सम्पन्न ऐड भी है। यही बात सूक्त के अंतिम मंत्र में स्पष्ट रूप से कही भी गई है। ऐड पुरूरवा: का ब्राह्मी वाक् से युक्त होना ही 'त्रि-ष्टुप्' स्तर है।

● इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पूरे सूक्त में मर्त्य अथ वा स्थूल स्तर की बात ही नहीं की गई है। कई स्थलों पर उस ओर भी संकेत किया गया है। पर जहां ऐसा हुआ है वहां *नि-चृत्* कोटि के त्रि-ष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है। निचृत् में ११ के बजाय १० अक्षर होते हैं। उदाहरण के लिए, मंत्र ३, ४, १३, १६ या ५ और १० में ११ के बजाय १० अक्षर रखकर यह सूचित कर दिया गया है कि यहां पर त्रि-ष्टुप् स्तर से नीचे की बात की जारही है। मंत्र ६, ७ और १५ में *वि-राट्* कोटि के त्रि-ष्टुप् द्वारा अक्षरपरिमाण के परिवर्तन द्वारा इसी प्रकार सूचित किया गया है। विभिन्न मंत्रों में त्रि-ष्टुप् स्तर से विचलित होने की बात संक्षेप में इस प्रकार समझी जा सकती है।

मंत्र ३ : ब्राह्मी वाक् से वियुक्त होकर पुरूरवा: जिस दुर्बलता का वर्णन करता है वह त्रि-ष्टुप् स्तर से नीचे की बात है।

मंत्र ४ : श्वशुराय वय······*वष्टि* द्वारा प्राणमय आत्मा की ओर संकेत होने से त्रि-ष्टुप्-स्तर का त्याग होता है। यद्यपि मंत्र १२ में भी *श्वशुर* शब्द का प्रयोग है पर उस कथन से पुरूरवा: को ऐसा प्रतीत होता है कि वह उर्वशी का स्थायी सहवास पा सकेगा। अत: मंत्र १२ में कोई अक्षर कम नहीं किया गया है।

मंत्र १३ : पुरूरवा: के उक्त भ्रम को दूर करतेहुए उर्वशी स्पष्ट कहती है कि 'तू मुझे नहीं पाएगा, घर भाग जा।' इस कथन से पुरूरवा: का मानस फिर मर्त्य स्तर पर आ जाता है।

मंत्र १६ : में मर्त्य स्तर की चर्चा त्रि-ष्टुप् स्तर से नीचे की बात है।

मंत्र ५, १० : इन दोनों मंत्रों में एक अक्षर कम है। मंत्र ५ में मर्त्य (राजा पुरूरवा:) के केतु के नीचे आने की बात और मंत्र १० में 'नर्य: अप:' का उल्लेख पुन: त्रि-ष्टुप् स्तर से नीचे जाना माना गया है। पर फिर भी इन दोनों की स्थिति मंत्र ३, ४, १३, १६ से भिन्न इस अर्थ में है कि यहां निम्न स्तर का उल्लेख त्रि-ष्टुप् स्तर की महत्ता को बताने के लिए हुआ है। अत: इन दोनों छन्दों को पूर्ववत् 'निचृत्' त्रि-ष्टुप् न रखकर 'विराट्' त्रि-ष्टुप् रखा गया है।

● इस प्रकार की अक्षर-त्रुटियों को फ़ादर एस्टलर ने *संहिता*-कार का अज्ञान माना है। पर, जैसा कि हम यहां देखरहे हैं, यह तथाकथित त्रुटि जान-बूझकर किसी प्रयोजन से की गई है। यह बात त्रि-ष्टुप् में ही नहीं अपि तु

अन्य वैदिक छन्दों में भी पाई जाती है। एक ज्वलंत उदाहरण प्रसिद्ध सावित्री ऋचा का है जिसके *तत् सवितुर् वरेण्यम्* पाद में केवल सात अक्षर हैं, क्यों कि यहां 'तत्' द्वारा निरुपाधिक चैतन्य (ब्रह्म) की ओर संकेत है जब कि अन्य पादों में सोपाधिक चैतन्य के कार्य-कलाप की चर्चा है। चैतन्य-आच्छादक उपाधि के आभार को मंत्र-पाद में एकाक्षर की त्रुटि द्वारा दर्शाया गया है।

१० वि-ज्ञान और सु-विज्ञान

वैदिक परिभाषाओं पर अब तक जो विचार हुआ है उसके आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि वेदों के मंत्रों में कोई अ-साधारण ज्ञान अवश्य है। इसी की ओर संकेत करने के लिए *ज्ञा* धातु से निष्पन्न *वि-जानन्, प्र-जानन्, सं-जानाना:,* आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनके परिप्रेक्ष्य में इस अ-साधारण ज्ञान के वि-ज्ञान, प्र-ज्ञान और सं-ज्ञान नामक स्तरों अथ वा पक्षों की कल्पना की जा सकती है। इनके अतिरिक्त निम्न लिखित मंत्र में *सु-विज्ञान* नामक एक अन्य स्तर का भी उल्लेख है।

सु-विज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच् चासच् च वचसी पस्पृधाते।
तयोर् यत् सत्यं यतरद् ऋजीयस्, तद् इत् सोमोवति हन्त्य् आसत्।

ऋ. ७.१०४.१२

'सु-विज्ञान को पाने की जिसे इच्छा है उसके मार्ग में सत् और अ-सत् के बीच होनेवाली होड़ सबसे बड़ी बाधा है। जो ऋजु *(ऋजीय:)* सत्य है उसकी ही रक्षा सोम करता है और वही अ-सत् को सर्वथा समाप्त करता है।'

ज्योति और तमस् के समान, सत् और असत् सापेक्षिक हैं। इन दोनों से परे का (द्वंद्वातीत) सत्य *सु-विज्ञान* है। यही अंधकार में पड़ाहुआ वह 'सत्य सूर्य' है जिसे इन्द्र विशेष रूप से जान सकता है।[६६४] यही गुहा में छिपाहुआ वह मधु है जिसे इंद्र खोज लेता है।[६६५] इसकी प्राप्ति हेतु, तम: *(अ-सत्)* और ज्योति: *(सत्)* का विवेक रखतेहुए तम: को छोड़कर ज्योति: को वरण करना होता है। यही वह *वि-ज्ञान* है जो दुर्गति *(दुरित)* से बचने के लिए आवश्यक है।

ज्योतिर् वृणीत तमसो वि-जानन्, आरे स्याम दुर्-इताद् अभीके।

ऋ. १.३९.७

प्र-ज्ञान और जात-वेदा:

वि-ज्ञान के अतिरिक्त, ज्ञान का एक प्रकार *प्र-ज्ञान* भी है। प्र-ज्ञान का संबंध किन्हीं तीन तत्त्वों से है। एक मंत्र में कहा गया है कि प्रज्ञानवान् अग्नि शुद्धियों द्वारा पकाईगई, तीन प्रकार से सेचन की गई हव्य को देवों के लिए पहुंचाता है।[६६६] एक अन्य मंत्र में प्रज्ञानवान् अग्नि को तीन पवित्रों द्वारा आत्मा को पवित्र करनेवाला और हृदय से मति-रूप ज्योति का प्रज्ञान करनेवाला बताया गया है।[६६७] इस तीन संख्या का संबंध प्रज्ञानवान् *जात-वेदा:* से है। *जात-वेदा:* एक संयुक्त इकाई है अग्नि, इन्द्र और सोम की, यह विवेचन, ऋ. ३.२२.१ के प्रसंग से, पहले किया

जा चुका है। वहां स्पष्ट किया जा चुका है कि 'जात-वेदाः' (अग्नि) में इन्द्र सोम को उदरस्थ किएहुए स्थित है। इन तीनों के जिस एकीभूत *वाज* (बल) का संभजन जात-वेदाः करता है वह वाज *सहस्री*, अर्थात्, सह स्रवण करनेवाला है। यह सह स्रवण वही समंचन है जिसके कारण अग्नि द्वारा वहन किया जानेवाला हव्य 'तीन प्रकार से सिक्त' कहा गया है। इस त्रिविध बल के आधार पर ही पूर्वोक्त तीन पवित्रों की कल्पना हुई है।

प्र-ज्ञान की कुछ विशेषताएं हैं। प्रज्ञानवान् की परा गति सर्वतोमुखी हो जाती है।[६६८] वह आगे बढ़ताहुआ द्यौ और पृथिवी में सर्वत्र मार्ग बना लेता है।[६६८] प्रज्ञानवान् 'दधिक्रावा' अश्व रंहणशीलों की अग्र भूमि पर स्थित होकर उषा, सूर्य, आदित्यों, वसुओं और अंगिराओं से 'सं-विद्' स्थापित कर लेता है।[६६९] एक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'प्र-जानन् विद्वान्' की कल्पना में निहित प्रतीत होती है। ऋ ३.२९ सूक्त का उपसंहार करतेहुए अग्नि को 'प्र-जानन् विद्वान्' कहा गया है। वह अग्नि वस्तुतः 'जात-वेदाः' है। उसी सूक्त के चतुर्थ मंत्र में उसे इडा के पद में ध्यातव्य माना गया है।[६७०] इन्द्र भी 'प्र-जानन् विद्वान्' है; उसे सोम तक पहुंचने के लिए कहा जाता है।[६७१] जातवेदाः अग्नि और सोमोन्मुख इंद्र को समान रूप से 'प्र-जानन् विद्वान्' कहा जाना साभिप्राय है, क्यों कि जात-वेदाः जिस बल का संभजन करता है वह सह स्रवण करनेवाला है। इस संयुक्त इकाई के मर्म को समझने के लिए यह जानकारी आवश्यक है कि जात-वेदाः हमारा आंतरिक प्राण है जो हमारी आंतरिक उपजों *(जात)* को जानता है।[६७२] इसी प्रकार उसके अन्तर्भूत इन्द्र[६७३] और सोम[६७४] भी कोई न कोई प्राण ही हैं। इन्द्र अपना परिचय देतेहुए विश्वामित्र से कहता है, हे ऋषे! मैं वस्तुतः प्राण हूं। तुम भी प्राण हो। सारे भूत प्राण हैं।'[६७५] जिस सोम को 'राजा' कहा जाता है वह भी प्राण है।[६७६] अतः 'जात-वेदाः' को त्रिविध प्राणों (इन्द्र, अग्नि, सोम) की एक संयुक्त इकाई कह सकते हैं। इस संदर्भ में प्राणों को जीवन-तत्त्व कहना अधिक उपयुक्त होगा।

● साथ ही जात-वेदाः नामक संयुक्त इकाई में समाविष्ट तीनों प्राणों को 'प्र-मति' भी कहा जाता है। इन्द्र स्वयं *मही प्रमति* है[६७७] और हमारी प्रमति को बढ़ाता है।[६७८] जात-वेदाः अग्नि की प्र-मति *विश्वजन्या सु-मति* है; वह पर्वत से प्रवाहित होनेवाली धारा के समान कही जाती है।[६७९] अग्नि स्वयं भी 'प्र-मति पिता' है और हम सब उसके "जामि" हैं।[६८०] वह *सोम्यों* (प्राणों) का भी *'आपिः पिता प्र-मति* कहा गया है।[६८१] इसका तात्पर्य यह है कि सौम्य प्राणों की भी कोई प्र-मति होती है। इन्द्र ही सोम-सवन करनेवालों की ऐसी *भद्रा प्र-मति* है जिसका दिव्य

ऊध: 'पूर्ण' है।[६८२] अत: अनिर्वचनीय तत्त्वों को बतानेवाला, महान् कवि सोम जिस *भद्रा समनी* से आच्छन्न कहा जाता है वह (भद्रा समनी) उक्त प्र-मति ही मानी जा सकती है।[६८३]

● इसका अभिप्राय यह है कि न केवल अग्नि, इन्द्र और सोम, अपि तु उन तीनों की संयुक्त इकाई 'जात-वेदा:' भी प्र-मति जैसे किसी प्रज्ञाबल से ओत-प्रोत मानी गई है। इस प्रसंग में निम्न लिखित मंत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

जात-वेदसे सुनवाम सोमम्, अ-रातीयतो नि दहाति वेद:।
स न: पर्षद् अति दुर्गाणि विश्वा, नावेव सिन्धुं दुरितात्य् अग्नि:।
ऋ. १.९९.१

इस मंत्र में जात-वेदा: (अग्नि) के लिए सोम-सवन की बात के साथ सूचना दी गई है कि अरातियों के समान व्यवहार करनेवालों को वेदस्* भस्म कर देता है। इसमें संकेत है कि जात-वेदा: और वेदस् का कुछ संबंध है। क्या वेदस् के जन्म से अग्नि का नाम 'जात-वेदा:' पड़ा है? ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से मानी ही गई है।[६८४] सायण *जात-वेदा:* का अर्थ 'जात-प्रज्ञ' करते हैं। *वेदस्* *निघंटु* में भी *धन*-वाचक शब्द है। जात-वेदा: (अग्नि) का वेदस् वस्तुत: एक ज्ञान-रूप धन है—एक ऐसा प्रज्ञा-धन जो हमारे दुर्-गों और दुर्-इतों को अतिक्रान्त करने में समर्थ है। सामान्यत: *दुर्ग* किले को कहते हैं। पर यहां *दुरितों* के साथ प्रयुक्त, यह शब्द हमारे व्यक्तित्व के दुर्गम स्तरों का वाचक हो जाता है। विशेषकर इसलिए कि उनको अतिक्रान्त करनेवाला कोई वेदस् नामक प्रज्ञा-धन है। और उस वेदस् से युक्त जात-वेदा: हमारे अन्त: का कोई ऐसा प्राण है जो हमारी आंतरिक उपजों को जानता है। अत: जात-वेदा: (अग्नि) के लिए जिस सोम का अभिषवण होता है वह भी आंतरिक आनन्द रस ही होगा, न कि किसी लता या पौधे का रस।

अतीन्द्रिय प्रज्ञा-धन : दूसरे शब्दों में, जात-वेदा: प्राण और उससे संबद्ध उक्त वेदस् हमारे व्यक्तित्व की किसी ऐसी अत्यंत दुर्गम गहराई अथ वा ऊंचाई से संबंध रखता है जहां से उत्पन्न होकर वह (विदस्) जब अग्नि को प्राप्त होता है तो उस अग्नि का नाम जात-वेदा: हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जात' (जन्मेहुए) वेदस् का एक 'अ-जात' रूप भी है। ऋग्वेद का निम्न लिखित मंत्र इसी अ-जात वेदस् की ओर संकेत कररहा है,

* यह स-कारान्त नपुंसकलिंग-शब्द 'वेदस्' *(वेद:)* है, जब कि वेदों में एक अ-कारान्त पुंलिंग-शब्द 'वेद:' भी मिलता है।

यस्मात् कोशाद् उद् अभराम वेदं, तस्मिन्न् अन्तर् अव दध्म एनम्।
कृतम् इष्टं ब्रह्मणो वीर्येण, तेन मा देवास्! तपसावतेह। अ. १९.७२.१

इस मंत्र में एक ऐसे कोश का उल्लेख है जहां से वेद का उद्-भरण और जिसमें इसका पुन: अव-धान संभव है। और इस द्विविध प्रक्रिया द्वारा जो ब्रह्म का वीर्य प्राप्त होता है उसके द्वारा 'इष्ट' (कर्म) को किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यह वह हिरण्यय कोश है जहां आत्मा से युक्त ब्रह्म विराजमान है। और यही वह आनन्दमय कोश है जिसकी पुच्छ, प्रतिष्ठा ब्रह्म को कहा जाता है।[६८५] इसी कोश में ब्रह्म से अभिन्न होकर *वेद:* स्थित है। इस कारण उसे भी ब्रह्म कहा जा सकता है।[६८६] उद्-भरण और अव-धान द्वारा कर्म के स्तर पर ब्रह्म के वीर्य के रूप में वेद: को प्रस्तुत करना *अ-जात* वेद को *जात* बनाना (उत्पन्न करना) है। सर्वप्रथम, यह वेद: आनन्दमय कोश से आकर विज्ञानमय कोश में 'जात' होता है। इस कारण विज्ञानमय आत्मा को 'जात-वेदा:' कहा जा सकता है। यह वेद: *सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म* कहकर याद किया जाता है। यह अपने इस अ-जात रूप में उस अन्तस्तम कोश या गुहा में छिपाहुआ कहा जाता है।[६८७] विज्ञानमय स्तर पर 'जात' होकर यही 'विज्ञान ब्रह्म' कहलाता है।[६८८] यज्ञ अथ वा कर्म का विस्तार करनेवाला 'ब्रह्म का वीर्य' भी यही है।[६८९]

जब तक इस *जात* वेद: द्वारा हमारा विज्ञानमय आत्मा जात-वेदा: अग्नि नहीं बन जाता तब तक मनोमय कोश के स्तर पर हमारा प्रज्ञाबल अहंकार-रूप वृत्र से अभिभूत होकर अपने दर्प द्वारा उन कुत्सित वृत्तियों को जन्म देता रहता है जिन्हें वेदों में *सर्प, पिशाच, असुर, राक्षस, पणि,* आदि कहा जाता है। इसके विपरीत, *अ-जात* वेद: के विज्ञानमय कोश के स्तर पर अवतरण से, 'जात-वेदा: अग्नि' के रूप में विज्ञानमय आत्मा, इन्द्र, अग्नि और सोम की पूर्वोक्त संयुक्त इकाई होकर, तीनों के प्रज्ञा-धन का सह स्रवण करने लगता है। इस सह स्रवण की गति एक ओर तो आनन्दमय कोश की ओर होती है, जिसे *आगमों* में 'उन्-मनी' शक्ति कहा जाता है। वही पृथक्त्वेन 'स-मनी' शक्ति कही जाती है, क्यों कि वह मनोमय कोश के स्तर पर पहुंचकर ऋक्, यजु: और साम की त्रयी को पृथक् पृथक् कर देती है। इसी दृष्टि से, तैत्तिरीय आरण्यक में यजु: को मनोमय आत्मा का शिर, ऋक् को दक्षिण पक्ष और साम को उत्तर पक्ष कहा गया है।[६९०]

इस प्रकार, आनन्दमय कोश का जो *अ-जात* वेद: विज्ञानमय कोश के स्तर पर 'अव्याकृत त्रय' के रूप में *जात* होता है वह मनोमय कोश के स्तर पर ऋक्, यजु: और साम रूप में पृथक्त्वेन 'व्याकृत त्रय' हो जाता है। अत: एक दृष्टि

से तो व्यक्त अथ वा जात वेद: को *त्रय* मात्र (अ-व्याकृत या व्याकृत) कह सकते हैं। पर दूसरी दृष्टि से, 'अ-व्याकृत' त्रय को एक अलग वेद मानकर 'व्याकृत' त्रय समेत कुल चार
वेद माने जा सकते हैं।*[६९१] *तैत्तिरीय ब्राह्मण* ने कुछ मंत्रों को उद्‌धृत करके यह स्पष्ट कर दिया है कि मूलत: तीन या चार वेदों से *वेद* नामक प्रज्ञाबल अभिप्रेत थे, न कि कोई ग्रंथ। उन मंत्रों में से एक मंत्र इस प्रकार है।

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिम् आहु:, सर्वा गतिर् याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेज: साम-रूप्यं हि शश्वत्, सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्। ३.१२.९

यहां ऋग्-यजु:-साम की सृष्टि को अलग अलग बताकर चतुर्थ वेद के विषय में केवल इतना कहना पर्याप्त समझा गया कि उन तीनों की सृष्टि वस्तुत: ब्रह्म (वेद) द्वारा की गई सृष्टि है। इस कथन का आधार यही है कि ब्रह्म (वेद) ऋक्, यजु: और साम का अव्याकृत (अथ वा बीज) रूप ही तो है। वह न केवल वेद त्रय का बीज है अपि तु इस त्रय से उपजनेवाली उस नानारूपात्मक सृष्टि का भी बीज है जिसके परिप्रेक्ष्य में *अन्-अन्ता वै वेदा:***[६९२] उक्ति प्रचलित हुई थी। यह ब्रह्म (वेद) यद्यपि बीज कहा जाता है, पर यह ऋक्, यजु: और साम की तुलना में अपरिमित है।[६९३] इस समस्त सृष्टि का कारण होने से विज्ञानमय अथ वा जात-वेदा: स्तर पर *जात* (उत्पन्न) वेद:' को 'ब्रह्म का वीर्य' कहा गया है। यदि यह वीर्य मनोमय आत्मा को न मिलता तो सारी सृष्टि अहंकार-रूप वृत्र के दर्प की उपज होकर काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, आदि की कुत्सित सृष्टि होती।

● ब्रह्म के वीर्य की उपलब्धि से मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्वोक्त *सर्प, पिशाच* और *असुर* भी क्रमश: वेद (सर्प-वेद, पिशाच-वेद और असुर-वेद) हो जाते हैं; क्यों कि ब्रह्म के वीर्य के प्रभाव से, उक्त तीनों कुत्सित वृत्तियों की शुद्धि हो जाती है और तब वे चेतना के उन दोनों स्तरों को लाने में योग देने लगते हैं जिन्हें *इतिहासवेद* और *पुराणवेद* कहा जाता है। वेद शब्द सामान्यत: किन्हीं ग्रंथों के लिए प्रचलित होने से, इन पांचों वेदों के भी ग्रंथ होने का भ्रम स्वाभाविक है। पर *गोपथ ब्राह्मण* (१.१.३९) ने इन पांचों का जो वर्णन किया है उससे स्थिति स्पष्ट हो जाती है। उस वर्णन को समझने के लिए उस वर्णन को, संक्षेप में, आरंभ से लेना समीचीन होगा।

* इस प्रकार, उस भ्रान्त धारणा के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है जो वेद नामक ग्रथों की संख्या के विषय में प्राय: उठती रही है।

** वेद की इसी त्रिगुणात्मक अनंतता को लक्ष्य करतेहुए, *गीता* (२.४५) में वेदों को त्रिगुणात्मक कहकर, अर्जुन को निस्त्रैगुण्य होने का उपदेश दिया गया है।

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार, मनुष्य के देशकालातीत चेतना-स्तर पर (*अग्रे*) एकमात्र ब्रह्म है। उसने अपने को जब 'महद् यक्ष' रूप में देखा तो उसने एक वैसे ही दूसरे *महद् यक्ष* का निर्माण करने की इच्छा से तप किया। उस द्वितीय महद् यक्ष को *सु-वेद* कहा गया क्यों कि उसकी अनुभूति *(विदन)* एक आनन्दकर *(सु)* अनुभूति होती है। प्रतीकपरक शैली में सु-वेद को *ब्रह्म का 'स्वेद'* (पसीना) कहा गया जो *धारा, जाया* और *आप:* नाम से त्रिविध माना गया।

मूल सु-वेद (स्वेद) नामक चेतना की तुलना सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति से की जा सकती है। सु-वेद को वैदिक साहित्य में 'आप:' नामक आद्या सृष्टि माना गया है।[६९४] सु-वेद ही हिरण्यय कोश से उद्-भरणीय वेद: है।

सु-वेद (स्वेद) का उक्त आप: नामक रूपांतर शान्त और अ-शान्त, दो रूप ग्रहण करता है। शान्त आप: में पड़ाहुआ ब्रह्म का वीर्य 'भृगु' बनता है जब कि अ-शान्त आप: में पड़ाहुआ रेतस् चेतना-समुद्र को आवृत कर लेता है। इन द्विविध आप: को विज्ञानमय कोश की क्रमश: ऊर्ध्वमुखी 'उन्-मनी' शक्ति और अधोमुखी (मनोमय कोश की ओर आनेवाली) 'स-मनी' शक्ति कह सकते हैं। आप: की पराक् (ऊर्ध्वमुखी) गति की दृष्टि से सु-वेद *ब्रह्म-वेद* है जबकि अर्वाक् (अधोमुखी) गति की दृष्टि से वह *अथर्व-वेद* कहा जाता है।[६९५] अर्वाक् गति वाला, अशान्त आप: रूप समुद्र जब भगवान् को 'वरण' करता है तो वह (भगवान्) वरुण कहाता है। वरुण के अंगों से निकलाहुआ रस 'अंगिरा:' कहा गया जिसके रूपांतर 'आंगिरस' हैं। वे रूपांतर–'आंगिरस' जब उक्त अथर्ववेद से युक्त होते हैं तो सु-वेद की *अथर्वाङ्गिरस-वेद* संज्ञा होती है। उसी प्रकार, आंगिरस जब पूर्वोक्त भृगु से मिलते हैं तो *भृग्वङ्गिरस-वेद* प्रकट होता है। भृगु और अथर्वा से रहित जो आंगिरसों की चेतना है उसका नाम *आङ्गिरस वेद* है। इससे *जनत्* नामक महा-व्याहृति पैदा हुई। इस महा-व्याहृति की सहायता से अंगिरा: ने क्रमश: प्राची, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशाओं की ओर देखकर निम्न लिखित पांच वेदों और उनकी पांच महा-व्याहृतियों को उत्पन्न किया।

दिशाएं	*वेद*	*महा-व्याहृतियां*
प्राची	सर्प-वेद	वर्धत्
प्रतीची	पिशाच-वेद	करत्
उदीची	असुर-वेद	रुहत्
ध्रुवा	इतिहास-वेद	महत्
ऊर्ध्वा	पुराण-वेद	तत्

वेदों और व्याहृतियों का विज्ञान : यह सारा वर्णन वेदों और व्याहृतियों पर आधारित है। वेद और व्याहृतियां दो प्रकार की हैं जिन्हें क्रमशः शान्त और अशान्त आपः से संबद्ध बताया गया है। लोक में *आपः* शब्द का अर्थ 'जल' है पर वेदों में वह प्राण (जीवन-तत्त्व) का नाम है।[६९६] इसलिए, *अथर्ववेद* प्राणों के वर्णन में जलवृष्टि के रूपक का प्रयोग करता है।[६९७]

अतः जब आपः को द्विविध (शान्त और अशान्त) कहा जाता है तो इससे प्राणों को ही शान्त और अ-शान्त समझना चाहिए क्यों कि *आपः* (जल) प्राणों के प्रतीक हैं। विज्ञानमय कोश के स्तर के उन्-मनी (ऊर्ध्वमुखी) गति वाले प्राण शांत हैं और स-मनी (अधोमुखी) गति वाले प्राण अ-शान्त हैं। अ-शान्त प्राण अहंकार-रूप वृत्र को वरण करके घोर अ-शांत हो जाते हैं। पर जब वे भगवान् को अपना राजा वरण[६९८] करते हैं तो सत्यानृत-विवेकी वरुण का अभिषेक होता है। वरुण का विवेक जीवन को अ-शान्त समुद्र के पार पहुंचाने में समर्थ है। यहां, अ-शान्त आपः से मुक्त होने के कारण जीवन *मुच्यु* (परोक्ष रूप से *मृत्यु*) कहलाता है, क्यों कि यहां मनोमय स्तर की अशांति और अनेकता का अंत हो जाता है। इसी को कभी कभी मनो-नाश अथ वा वह *वि-नशन* कहा जाता है जहां जलप्लावन-ग्रस्त मनु की नाव हिमालय के शृंग से संपर्क करती है, अर्थात्, अशांत व्यक्तित्व शांत स्तर को स्पर्श करता है।

यह परिवर्तन एक दम नहीं हो जाता। वरुण शान्त आपः (प्राण) से संबंधित भृगु (अग्नि) को स्वानुकूल *(वारुणि)* बनाता है और स्वयं अंगिराः बनता है। मनोमय कोश से अन्नमय कोश तक के सब अंगों के रसों (अंगिरस प्राणों) को अपना अंग बनाकर और स्वयं उनका अंगी बनकर और उन्हें अपना अंश-दान *(राति)* करके, वह अपना 'अंगिराः' नामक सार्थक करता है। इसके परिणाम-स्वरूप, भृगु और अंगिराः का संबंध जुड़ने से पूर्वोक्त *भृग्वंगिरस-वेद* अस्तित्व में आता है और भृगु से संबंधित शांत आपः की *शम्* नामक व्याहृति का नीचे के कोश में विस्तार होता है। इसके परिणामस्वरूप पूर्वोक्त *सर्प-वेद,* आदि वेदों की और *वर्धत्,* आदि महाव्याहृतियों की उत्पत्ति होती है। शम् की राति को अंगिराः सभी स्तरों पर वितरित करता है। इससे प्रत्येक स्तर पर दीर्घतमः-रूप वृत्र, बदलकर, वारुण (विवेकमय) वृत्र बन जाता है। अभिप्राय यह है कि जो वृत्तियां पहले अशांति का कारण थीं वे अब, शम् के प्रभाव से, सदुपयोग के योग्य हो जाती हैं। इसलिए उन्हें *वेद* कहा जाता है।

उदाहरण के लिए, विष उगलने वाला (क्रोध, आदि रूप) *सर्प*-वर्ग अब

मन्यु-रूप *सर्प*-वेद होकर, पतन के स्थान पर, 'वृद्धि' का कारण बनता है। अत: सर्प-वेद की व्याहृति की संज्ञा *वर्धत्* है।

रूप (पेश) का लोभी 'काम' नामक *पिशाच* अब, मांसल भोगों का लोलुप होने के बजाय, सुन्दर शिल्प के 'निर्माण' का इच्छुक हो जाता है। इसलिए पिशाच-वेद की कर्तृत्वसूचक व्याहृति का नाम *करत्* है।

पहले स्वार्थ भाव बल (असु) का प्रेमी होकर परपीड़न के लिए भौतिक बल का मतवाला था। वह अब आध्यात्मिक बल का आश्रय लेकर मंगल *(सु)* की ओर 'आरोहण' करने लगता है। अत: उसकी व्याहृति को *रुहत्* कहा जाता है।

सु की ओर आरोहण, यजुर्वेद में उल्लिखित *इति* और *गति*[६९९] में से, 'इति का हास' है। अत: इस परिवर्तित चेतना का नाम इतिहास-वेद होता है। यह हमें महत् बुद्धि से जोड़ता है। इसलिए, इतिहास-वेद की व्याहृति की संज्ञा *महत्* है।

महत् के उत्तरोत्तर प्रयोग से मनुष्य के व्यक्तित्व का, पुराना पड़ चुका हुआ, प्रज्ञाबल नया रूप प्राप्त करके *तत् सत्यम्* से जुड़ जाता है। इस दृष्टि से, नवीनीकृत[७००] प्रज्ञाबल को पुराण-वेद और उसकी व्याहृति को *तत्* कहा जाता है।

इन सब व्याहृतियों को, एक दृष्टि से, उत्तरोत्तर वर्धनशील, पूर्वोक्त *शम्* व्याहृति का रूपांतर कह सकते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप सहस्रदल कमल *(पुष्कर)* में ब्रह्म अपने ज्येष्ठ पुत्र[७०१] (रूपांतर) ॐ व्याहृति को जन्म देता है। ॐ व्याहृति एकाक्षर ऋक् अथ वा एकाक्षर मंत्र है। और यही है ब्रह्म-वेद का आथर्वण शुक्र, जिससे सब मंत्र प्रादुर्भूत होते हैं। यह वह ऋक् है जो मनुष्य के व्यक्तित्व में, उक्त परिवर्तन के साथ होनेवाले यज्ञ *(श्रेष्ठतम कर्म)* के आगे, पीछे, भीतर से *(विश्वत:)* और बाहर से *(सर्वत:)*, जुड़कर रहती है।[७०२] यही वह ऋक् है जिसके *अक्षर* और *परम* व्योम में विश्व देव समाहित होते हैं।[७०३]

प्राणविज्ञान : इस ॐ नामक व्याहृति, मंत्र या ऋक् के परम व्योम में समाहित होनेवाले विश्व देव वस्तुत: अनेक प्राण ही हैं।[७०४] *आप:* प्राण हैं, अत: आप: को *वैश्वदेवी* कहा जाता है।[७०५] इसलिए ॐ नामक महाव्याहृति या ऋक् में विश्व देवों के समाहित होने का अभिप्राय है सब प्राणों का उसमें समाहित होना। दूसरे शब्दों में, प्राणों *(आप:)* की केन्द्रीभूत सत्ता का नाम ॐ है।

इस सत्ता का वाचक *विश्* (अथ वा *विट्*) भी है। अत: *विड् वै विश्वे देवा:*[७०६] का तात्पर्य यह है कि विश्व देवों का केन्द्रबिन्दु अथ वा बीज *विश्* है। *विश्* से पांच देवगण प्रादुर्भूत माने गए हैं, *वसव:, रुद्रा:, आदित्या:, विश्वे देवा:* और *मरुत:*। इनमें से मरुत: *स्वापय:* प्राण हैं, अर्थात्, प्राणों द्वारा अवकीर्ण हैं और प्राणों

के साथ कर्म में प्रवेश करते हैं।[७०७] *आदित्यों* को भी प्राण कहा जाता है[७०८] क्यों कि वे सर्व का आदान करते हैं। आत्मा और दस प्राण रुद्र हैं।[७०९] एक अन्य कोटि के प्राणों को *वसवः* कहा जाता है क्यों कि ये प्राण सर्व वसु का आदान करते हैं।[७१०]

इन पांच देवगणों के अतिरिक्त निम्न लिखित देवों को भी वैदिक साहित्य में यत्र तत्र प्राण माना गया है।

१. *द्रविणो-दाः देवाः*, मै. ३.२.१
२. *अपाव्याः देवाः*, तैब्रा. ३.८.१७.५; शब्रा. ६.७.२३; ६.३.१.१५
३. *धिष्ण्याः देवाः*, शब्रा. ७.१.१.२४
४. *मनु-जाताः देवाः*, काठ. २३.५
५. *मनो-जाता मनो-युजः देवाः*, तै. ६.१.४.५
६. *मरीचि-पाः देवाः*, काठ. २७.१; क. ४२.१०
७. *वयो-नाधाः देवाः*, शब्रा. ८.२.२.३
८. *साध्याः देवाः*, शब्रा. १०.२.२.३
९. *स्व-भवसः देवाः*, तै. ६.४.५.४

कुछ देवमिथुन या देवद्वंद्व कहे जानेवाले देवों को प्राण-अपान *(प्राणापानौ)* कहा जाता है, यथा मित्र-वरुण, माश. १०.४.१.९। अश्विनौ भी प्राण-अपान हैं क्यों कि मित्र-वरुण जिसके *अधस्पाद* हैं, अश्विनौ उसके *पूर्वपाद* हैं। *प्राणा वै स्तोमाः* और *प्राणा वै स्तोमाः सुरभयः* जैसी उक्तियों के आलोक में, *जैमिनीय ब्राह्मण* में वर्णित स्तोम भी प्राण हैं,[७११] जैसे, प्राण-अपान, अहः-रात्रि, पूर्वपक्ष-अपरपक्ष, द्यावा-पृथिवी, इन्द्र-अग्नि, मित्र-वरुण, अश्विनौ, आदि स्तोम जो पराक् और पूर्वाक् गति करनेवाले हैं।

प्राण को अलग अलग वायु, वैश्वानर, बृहस्-पत्ति, ब्रह्मणस् पति, सोम, मित्र, सविता, वरुण और वात बताया गया है। *धर्म-भृत्* देव कहे जानेवाले सोम, इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि भी प्राण हैं। आदित्य-गण से भिन्न, 'एक' *आदित्य* भी प्राण है। ब्रह्म और आत्मा को भी प्राण कहा गया है। अधिक क्या, प्राण ही 'एक देवता' है जो यह सब (इदं सर्वम्) होरहा है।

प्रज्ञात्मा प्राण और वेद : *देवता* का अर्थ है देवत्व। प्राण एक ऐसा देवत्व है जो 'यह सब' होरहा है। यह देवत्व उस वेदः की याद दिलाता है जो 'एक देव' के देवत्व रूप में उससे अभिन्न है, पर जो सब देवों के लिए देवत्व बनरहा है और जो जन जन के लिए देवत्व हो सकता है,

वेदो-सि, येन त्वं देव! वेद, देवेभ्यो वेदोभवस् तेन मह्यं वेदो भूयाः।

यजुर्वेद २.२१

इसी मंत्र में आगे कहा गया है कि जिन अनेक देवों के लिए वह *वेद:* हो गया है वे सब यज्ञपथ *(गातु)* के जानकार हैं और उसे जानकर वे स्वयं वही (यज्ञपथ) हो जाते हैं,

देवा गातु-विदो गातुं वित्त्वा गातुम् इत।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक-मात्र देव ब्रह्म है। उसे जब *देव* कहा जाता है तो इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुत: उस ब्रह्म देव के देवत्व का नाम वेद: है। अत: वेद: को भी उसी प्रकार 'एक देव' कहा जा सकता है जिस प्रकार प्राण को 'एक देव' कहा गया है। जिस प्रकार वेद: त्रिविध होकर प्रजापति की नानात्वमयी सृष्टि का साधन बनता है उसी प्रकार प्राण भी त्रिविध होकर अनेकधा होता है। इस प्रकार प्राण में मूलत: सब ऋचाएं, सब वेद, सब घोष समाहित हैं। वस्तुत: *प्राण* नामक एक ही व्याहृति है; सब ऋचाएं प्राण ही हैं।

ता वा एता: सर्वा ऋच:, सर्वे वेदा:, सर्वे घोषा एकैव व्याहृति: 'प्राण' एव, प्राणा ऋच इत्य् एव विद्यात्। ऐआ. २.२.२

● वेद के साथ तुलनीय इस प्राण को 'प्रज्ञात्मा प्राण' कहा जा सकता है। इसका विस्तृत वर्णन *शांखायन आरण्यक* के पंचम अध्याय में इंद्र-प्रतर्दन-संवाद में है। उसका सार इस प्रकार है। "सत्य ही 'इन्द्र' है। वही प्रज्ञात्मा प्राण है। आयु-अमृत के रूप में उसकी उपासना करो। शरीर में जब तक प्राण है तब तक आयु है। प्राण से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है–प्राणों का एकीभूत होना ही अमृतत्व की प्राप्ति कराता है। प्रज्ञात्मा प्राण ही शरीर का परिग्रहण करके उसे उठाता है। अत: वह *उक्थ* कहा जाता है। जो प्राण है वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है वही प्राण है। सुषुप्त पुरुष को कोई स्वप्न भी नहीं दिखता क्यों कि वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, आदि का प्रज्ञा-प्राण एकीभूत हो जाता है। जब वह जागता है तो अग्नि के विस्फुलिङ्गों के समान, सब प्रज्ञा-प्राण पुन: जाग पड़ते हैं।" इस प्रकार, प्राणों की एकता में अनेकता और उनकी अनेकता में एकता को जानना प्रज्ञात्मा प्राण का विज्ञान है।

इस एकीभूत प्रज्ञा के संबंध से ही शरीर की विभिन्न इंद्रियों और मन को अपने विषयों का प्रत्यक्ष होता है। "प्रज्ञारहित धी कुछ भी सिद्ध नहीं कर पाती और न प्रज्ञातव्य का प्रज्ञान कर पाती है। बिना प्रज्ञा के न तो मन या इंद्रियों की भूत-मात्रा संभव है, न उनकी प्रज्ञा-मात्रा। जैसे रथ के अरों पर नेमि अर्पित होती है और अरे नाभि (केन्द्र) में अर्पित होते हैं उसी प्रकार सब भूत-मात्राएं प्रज्ञा-मात्राओं में अर्पित होती हैं और प्रज्ञा-मात्राएं प्राण में अर्पित होती हैं। प्रज्ञात्मा प्राण अनन्त,

अजर, अमृत है। वह न साधु कर्म से 'अधिक' हो सकता है, और न असाधु कर्म से 'न्यून' होता है। यही लोकपाल है। जिसको वह उठाना चाहता है उससे साधु कर्म कराता है जब कि जिसे गिराना चाहता है उससे असाधु कर्म कराता है। यही सत्यस्वरूप इन्द्र का आत्मा है जो वेद्य है।"

प्रज्ञात्मा प्राण का जो अनन्त, अजर, अमृत रूप है वह सत्यस्वरूप इन्द्र का आत्मा कहा गया है। वह उसका द्वंद्वातीत *सु* रूप है। इसका विज्ञान ही *सु-विज्ञान* है। वस्तुतः यह व्यावहारिक जीवन और जाग्रत् अवस्था का ही विकसित रूप है।

इस बात का संक्षिप्त विवरण *ऐतरेय आरण्यक* में प्रज्ञान आत्मा का विवेचन करतेहुए दिया गया है। तदनुसार देखना, सुनना, सूंघना, बोलना अथ वा स्वादु-अस्वादु को जानना जिस आत्मा द्वारा किया जाता है उसके दो पक्ष हैं,[७१२] हृदय और मन। इन दो पक्षों का संयुक्त रूप इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक *प्रज्ञान आत्मा* है। यह प्रज्ञान आत्मा अपने विभिन्न आयामों में और विविध स्तरों पर *सं-ज्ञान, आ-ज्ञान, वि-ज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, सं-कल्प, क्रतु, असु, काम* और *वश,* आदि अनेक नाम ग्रहण करता है। यही उच्च स्तरों पर *ब्रह्म,* इन्द्र और *प्रजा-पति* कहा जाता है। यही अनेक देवों और पांच भूतों का रूप ग्रहण करता है। यह अण्डज, जरायुज, स्वदेज और उद्भिज्ज सृष्टि से लेकर पशु, पक्षी, मनुष्य समेत सब स्थावर-जङ्गम में विद्यमान है। अतः इस सबको प्रज्ञानेत्र वाला, प्रज्ञान में प्रतिष्ठित *लोक* कहा जाता है। प्रज्ञा इसकी प्रतिष्ठा है। यह प्रज्ञान ब्रह्म है।

प्र-ज्ञान से सु-विज्ञान की ओर : इसका अभिप्राय यह है कि साधना को ब्रह्म तक पहुंचाने के लिए प्र-ज्ञान को ही विकसित करना होता है। प्र-ज्ञान ही ऊर्ध्वमुखी (अन्तर्मुखी) होकर वि-ज्ञान का रूप धारण करके उस अमृत ब्रह्म का साक्षात्कार कराता है जो सत् और असत् की ध्रुव योनि, महत् और अणु रूप विश्वेश और उत्तम ज्योति है, *बृहद्देवता* ७.१४.५। इसी को लक्ष्य करके, *अथर्ववेद* में यह मन्त्र है,

या पुरस्ताद् युज्यते, या च पश्चाद्, या विश्वतो युज्यते, या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते, तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम्? अ. १०.८.१०

इस रहस्यमयी एकाक्षर ऋक् के कारण ही आत्म-सूर्य का उदय और अस्त होता है। यही ज्येष्ठ ऊं है जिसका अतिक्रमण कोई भी नहीं करता है,

यतः सूर्य उद्-एत्य्, अस्तं यत्र च गच्छति।
तद् एव मन्येहं ज्येष्ठं, तद् उ (ऊं) नात्य् एति किं चन। वही, १६

इस ज्येष्ठ प्राण को ही *पुराण-वेद* और *विद्वान्* कहा जाता है। इसको व्यक्त

करनेवाले वे प्राण हैं जो अधोभाग और मध्य भाग में रहते हैं। इसी को *आदित्य, द्वितीय अग्नि* और *त्रि-वृत् हंस* कहा जाता है,

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं, वेदं विद्वांसम् अभितो वदन्ति।
आदित्यम् एव ते परि वदन्ति सर्वे, अग्निं द्वितीयं त्रि-वृतं च हंसम्।
वही, १७

वह *मर्त्य* के गृह (शरीर) में *अमृता, कल्याणी, अजरा* है। वह जिस(आत्मा)के लिए बनी है वह तो शयन करता है, और जिस(ब्रह्म)ने उसे बनाया है वह *जीर्ण* (सनातन) है,

इयं कल्याण्य् अजरा, मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स, यश् चकार जजार सः। वही, २६

ऊँ नामक ज्येष्ठ प्राण स्त्री है, पुरुष है; कुमार है, कुमारी है। परम देव (ब्रह्म) का देवत्व होने से वह जीर्णातिजीर्ण है। वह सनातन काल रूप दण्ड का आश्रय लेकर रहता है। पर यह दण्ड केवल धोखा है, क्यों कि वह साधक के भीतर, जब वह नवजात होता है तब तो, जन्मते ही *विश्वतोमुख* हो जाता है,

त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि, त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतो-मुखः। वही, २७

उपसंहार : अथर्ववेद के इन कतिपय मंत्रों में द्वंद्वातीत सु-विज्ञान के उस स्वरूप की ओर संकेत है जिसका उदय साधक के भीतर पर ब्रह्म के ज्येष्ठ पुत्र ऊँ नामक एकाक्षर ऋक् के अवतरण से होता है। यही ज्येष्ठ प्राण है जो अवतरित होकर साधक के 'अ-सु' जीवन में उत्तरोत्तर 'सु' की वृद्धि करताहुआ समस्त व्यक्तित्व को सर्वथा बदल देता है। यही वह *अनाहत नाद* है जिसे भर्तृहरि ने अपने *वाक्यपदीयम्* के आरंभ में ही *अन्-आदि-निधनं ब्रह्म* कहकर स्मरण किया है। हिरण्यय कोश की अग्र भूमि पर इसे *अ-पाद्* कहा जाता है। वहां से स्वः नामक ज्योति का आहरण करके वह जब अवतरित होता है तो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों में 'भोग्य' होने के लिए 'चतुष्-पाद्' होकर सब प्रकार के भोजन से युक्त होकर प्रभूत अन्न प्रदान करता है।

अ-पाद् अग्रे सम् अभवत्, सो अग्रे स्वर् आभरत्।
चतुष्-पाद् भूत्वा भोग्यः, सर्वम् आदत्त भोजनम्।
भोग्यो भवद् अथो अन्नम् अदद् बहु।
यो देवम् उत्तरा-वन्तम् उपासातै सनातनम्। वही, २१-२२

यह सूत्र का भी सूत्र है जिसमें मनुष्य के व्यक्तित्व की इच्छा, क्रिया, आदि सारी

प्रजाएं ओत-प्रोत होती हैं। अतः इसको जानना ही *महत् ब्राह्मण* (ब्रह्म-पुत्र) को जानना है,

यो विद्यात् सूत्रं वि-ततं, यस्मिन्न् ओताः प्र-जा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्, स विद्याद् ब्राह्मणं महत्। वही, ३७

११ ज्योतिर्-दर्शन-क्रम

तम से ज्योति की ओर बढ़तेहुए, *वेद-चक्षु* का यह प्रथम उन्मेष अब एक निर्णायक अवस्था में पहुंचरहा है। अब एक ऐसी स्थिति आ गई है जहां भावी *ज्योतिर्-दर्शनों* का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। अभी तक की प्रगति से, निस्संदेह, आशा और विश्वास का संचार हुआ है। इसलिए, ज्योतिर्-दर्शन के क्रमिक विकास में, *निघंटु* में परिगणित पारिभाषिक शब्दों की भूमिका यहां स्पष्ट की जारही है।

वेद-चक्षु के इस प्रथम उन्मेष ने वेद को देखने-परखने की प्रस्तावित दृष्टि के सामान्य स्वरूप को ही पाठकों के सामने रखा है। उसकी उपादेयता भी आंकी गई है। इस दृष्टि के पीछे कोई पूर्वाग्रह नहीं है, और न पूर्ण सत्य के उद्घाटन का अहंकार है। वेद को समझने-समझाने के अब तक जो प्राचीन और अर्वाचीन प्रयास हुए हैं उन सबका मूल्य है। शौनक, शाकल्य और यास्क से लेकर सायण, दयानन्द और अरविंद तक वेदाध्ययन के जो पांडित्यपूर्ण यत्न हुए हैं वे सब बहुमूल्य हैं। सातवळेकर और 'विदेह' ने वेद को सर्वसुलभ और सुबोध बनाने का जो उपक्रम चलाया उसकी अपनी उपादेयता है।

इन सबका यह *वेद-चक्षु* ऋणी है। इनका संबल न होता तो *वेद-चक्षु* का एक भी उन्मेष नहीं हो पाता। यदि आगे के उन्मेषों में वेद-ज्योति की कोई नई झलक मिलती है तो निस्संदेह श्रेय उन पूर्वाचार्यों को मिलना चाहिए जिनकी तपस्या के फलस्वरूप वेदाध्ययन के लिए आज पहले की अपेक्षा अधिक साधन-संपन्नता है। अतीत के देशी-विदेशी वेद-भाष्यकारों के परिश्रम और आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से लाभ उठाकर यदि कोई व्यक्ति वेद के महासिंधु में अपने पूर्वगामियों की अपेक्षा अधिक गहराई तक पहुंच जाए तो यह कोई अनोखी, अनहोनी अथ वा व्यक्तिगत श्रेय की बात नहीं होगी। उदाहरण के लिए, यदि विश्वबंधु के *वैदिकपदानुक्रमकोश* की सहायता से किसी शब्द के प्रयोग-स्थलों को समस्त वैदिक साहित्य से एकत्र किया जाए और फिर उन सब प्रसंगों की परीक्षा करके आज उस शब्द का कोई सुसंगत अर्थ बताया जा सके तो इतने से हम अपने को प्राचीनों से बड़ा नहीं मान सकते। स्कंदस्वामी, उद्गीथ, वेंकट माधव, सायण, दयानंद को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी। फिर भी अपने सुविस्तृत और गहन अध्ययन द्वारा उन्होंने हमारा पथ प्रशस्त किया है। यही क्यों? मॅक्स म्युलर-संप्रदाय ने अपने जीवनदानी प्रयास द्वारा जो प्रेरणा अथ वा चेतावनी दी वह भी महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार, यदि भौतिक-विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों के अध्ययन और उद्घाटन में इतनी

सफलता न पाई होती तो क्या दयानंद अथ वा मधुसूदन ओझा को वेद में विज्ञान खोजने का, अथ वा मनोहरलाल गुप्त, फ़्रित्ज़ौफ़ काप्रा, वेनग्रेड पैट्री और अर्द्धेन्दुशेखर चक्रवर्ती जैसे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों को वेदों में आधुनिक विज्ञान के निष्कर्ष प्राप्त करने का कुतूहल जागता?

परंपरा का आदर : फिर भी, वैदिक अनुसंधान की वर्तमान पद्धति को अधिक सशक्त और तलस्पर्शी बनाने की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता। आज की वैदिक शोध-पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह वेद की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को नहीं पकड़ पाई। प्राचीन परंपरागत साहित्य में भी जब चिंतन-मनन और अभिव्यक्ति की आधुनिक शैली का ही अस्तित्व मान लिया जाता है तो भूल होना स्वाभाविक है। यद्यपि मनुष्य की प्रकृति मूलत: शाश्वत है और उसमें अंतर्निहित शक्तियां भी सदा से एक-सी मानी जा सकती हैं फिर भी उसको अभिव्यक्ति देने की शैली और अव्यक्त की अभिव्यक्ति की इयत्ता बदली है; और आगे भी बदलती रहेगी।

इसलिए वेदों जैसी अतिशय प्राचीन कृतियों, उनकी परंपरागत व्याख्याओं अथ वा उन पर आश्रित प्राचीन रचनाओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयास आवश्यक है। इसके लिए, सर्वप्रथम वेद की शैली का आधार ढूंढना होगा। इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता है स्थूल प्रत्यक्ष से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर परोक्ष की ओर चलतेहुए सूक्ष्मतम तक पहुंचने का प्रयास और पुन: परोक्ष ज्ञान को स्थूल प्रत्यक्ष की भाषा और शैली में अभिव्यक्ति देने का यत्न। *परोक्ष-प्रिया हि देवा: प्रत्यक्ष-द्विष:* कहकर *ब्राह्मण*-ग्रंथ जिस ओर अध्येता का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं अथ वा *गुहा-हितं, गूढं, निण्यं, गुह्यं,* आदि शब्दों द्वारा जिस तथ्य की ओर वे संकेत करते हैं उसकी अनदेखी करके शोधकर्ता प्राय: बहक गए हैं।

इसका कारण यह था कि आधुनिक विकासवाद से प्रेरित होकर यह मान लिया गया कि वेद की चिंतन-शैली को आदिम जातियों की चिंतन-शैली के समान समझना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि शाश्वत प्रकृति एक-सी है। फिर भी उस पर देश और काल का प्रभाव पड़ता है। इसके कारण वह विभिन्न देशों और कालों में कुछ विशिष्टता ग्रहण करती है। हां, कभी कभी इस विशिष्टता के होतेहुए भी, पर्याप्त सादृश्य होता है। कभी कभी इस सादृश्य का कारण एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ संपर्क में आना भी होता है। अत: भाषाओं, पुरा कथाओं, धार्मिक मान्यताओं, आदि के तुलनात्मक अध्ययन से मनुष्य के प्राचीन वाङ्मय में संचित विरासत को समझने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

पर वेदों के विषय में, इस तुलनात्मक पद्धति का उपयोग करने में विशेष सावधानी वर्तने की आवश्यकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्राचीन से प्राचीन वाङ्मय भी वेदों की तुलना में अति-आधुनिक ठहरता है। इसी लिए, वेदों के काल का निर्धारण जब अन्य परंपराओं की प्राचीनता पर दृष्टि रखकर किया जाता है तो भ्रांति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, वैदिक परंपरा के लोगों की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो अन्यत्र नहीं मिलती हैं। उदाहरण के लिए निम्न लिखित बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१. प्राचीनतम ग्रंथों को कंठस्थ करके सुरक्षित रखने की अद्वितीय पद्धति।
२. प्राचीन तत्त्वज्ञान की अभिव्यक्ति को निरंतर नवीन रूप देने की *पुराण*-परंपरा।
३. अनेकता में एकता की खोज द्वारा विभिन्न दृष्टियों, शैलियों और पद्धतियों को अपनी परंपरा का अंग बना लेना।
४. एक ऐसी भाषा का निर्माण जिसने न केवल बहुभाषी भारतीय समाज की संपर्क भाषा के रूप में शताब्दियों तक काम किया अपि तु जो, अन्य भाषाओं के विपरीत, निरंतर बदलाव की शिकार नहीं हुई है।
५. *यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे* का सिद्धांत। इसके आधार पर बाह्य जगत् के सूर्य, चंद्र, अग्नि, पृथिवी, आकाश, आदि के माध्यम से अंतर्जगत् के तत्त्वों के वर्णन की शैली चली जो वेदों से लेकर *रामायण, महाभारत* और *पुराणों* के माध्यम से, परवर्ती संस्कृत-साहित्य तक ही नहीं अपि तु सभी भारतीय भाषाओं के संत-साहित्य तक भी न्यूनाधिक रूप में चली आई है।
६. एक ऐसे रहस्यपरक तत्त्वज्ञान की पकड़ जिसकी अभिव्यक्ति समाजव्यवस्था, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्य, नृत्य, आदि में ही नहीं अपि तु यज्ञों, संस्कारों, तीर्थों और व्रतोत्सवों की तिथियों से संबंधित कर्मकांड में भी निरंतर होती रही है।
७. इस रहस्यपरक तत्त्वज्ञान को अभिव्यक्ति देने के प्रयास में ही, जैसा कि पहले बताया गया है, वैदिक भाषा लौकिक संस्कृत से सामान्यत: अभिन्न होतीहुई भी, वस्तुत: उससे भिन्न हो गई है और इस भिन्नता (विशिष्टता) की छाप उसने लौकिक संस्कृति और संस्कृत पर भी किसी हद तक छोड़ी है।
८. इन्हीं विशेषताओं के ज्वलंत नमूने हैं *निघंटु* की वे उन्हत्तर नाम-सूचियां जिनका विवेचन और व्याख्यान *वेद-चक्षु* के आगामी उन्मेषों में होने जारहा है। इनमें से प्रत्येक नाम-सूची को यद्यपि एक शब्द-विशेष की पर्यायमाला के

रूप में प्रस्तुत किया गया है और यद्यपि इसी के अनुकरण पर *अमरकोश,* आदि में एक शब्द के अनेक पर्यायों को देने की परंपरा चली आरही है, पर *निघंटु* की पद-सूचियों अथ वा नाम-मालाओं का जो अध्ययन *वेद-चक्षु* के उन्मेषों में आगे होनेवाला है उनमें से प्रत्येक पद-सूची के अनेक नामों की पृष्ठभूमि में एक अद्भुत एकता के 'दर्शन' होंगे–एक ऐसा चित्र जिसके विविध पक्षों के अलग अलग नाम होतेहुए भी उसकी मूल वस्तु एक है। अथ वा यों कहें कि वस्तु एक है पर उसके अलग अलग रंग, स्तर अथ वा पहलू हैं जिनकी दृष्टि से उसको अलग अलग नाम दिए जा सकते हैं क्यों कि उस वस्तु को अपनी समग्रता में उपस्थित करने के लिए मनुष्य की भाषा को कोई और रास्ता नहीं मिला है।

इस प्रकार, *निघंटु* की प्रत्येक नामावली में वैदिक तत्त्वज्ञान के किसी न किसी ऐसे पक्ष के 'दर्शन' होंगे जो स्वयं अपने वैविध्य के कारण चित्र-विचित्र होरहा होगा।

: २ : वैदिक *पृथिवी* का स्वरूप

उदाहरण के लिए, वैदिक *पृथिवी* को ले सकते हैं। *निघंटु* की पहली ही सूची *पृथिवी*-नामों की है। इसमें पृथिवी के इक्कीस नाम* परिगणित हैं। इनमें से केवल तीन नामों को लेकर अथर्ववेदीय पृथिवी-सूक्त (१२.१) की त्रेसठ ऋचाएँ विद्यमान हैं। इन तीन नामों में भी *अदिति* शब्द वहां एक ही बार प्रयुक्त है, और वह भी *पप्रथाना* विशेषण के साथ–यह इंगित करने के लिए कि पृथिवी वस्तुत: अदिति का ही स्थूल विस्तार वाला रूप है। अन्यथा, पूरे सूक्त में, *पृथिवी* और *भूमि* शब्द ही (प्रत्येक शब्द अड़तीस बार) प्रयुक्त हुए हैं।

राष्ट्रजननी माता : निस्संदेह यह सूक्त मातृभूमि की वंदना में लिखा गया है, जैसा कि निम्न लिखित उपसंहार-मंत्र से स्पष्ट है,

भूमे! मातर्! नि धेहि मा, भद्रया सु-प्रति+ष्ठितम्।

सं-विदाना दिवा कवे!, श्रियां मा धेहि भूत्याम्। ऋक् ६३

माता का यह *भूमि* रूप कल्याणी शक्ति *(भद्रा)* से युक्त है क्यों कि वह कवि (ब्रह्मा) के स्वर्ग से जुड़ीहुई *(दिवा सं-विदाना)* है। अत: जहां मातृभूमि से प्रार्थना है कि वह

* इन *पृथिवी*-नामों की व्याख्या अगले उन्मेष का विषय होगी।

मुझे अपनी कल्याणी शक्ति के द्वारा ब्रह्म *(सु)* में प्रति-ष्ठित करे वहां ब्रह्म *(कवि)* से भी याचना है कि वह मुझे श्री और भूति में स्थापित करे। भूमि, वस्तुतः, पृथिवी का सत्य से आवृत अमृत हृदय है।* यह हृदय जन जन के भीतर, परम व्योम में स्थित, देश-कालातीत चेतनार्णव के सलिल में था। उसी भूमि का अनुचरण मनीषियों ने अपनी रहस्यमयी शक्तियों द्वारा अतीत में किया था। अतः उस भूमि से निवेदन है कि वह हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल स्थापित करे,

याणविधि सलिलम् अग्र आसीद्, यां मायाभिर् अन्व्-अचरन् मनीषिणः।
सा नो भूमिस् त्विषिं बलं, राष्ट्रे दधातूत्-तमे। ऋक् ८

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वैदिक राष्ट्र की कल्पना से जुड़ीहुई भूमि माता के दो रूप हैं, १) भूमि जो जन जन की अन्तःप्रकृति है, २) बाह्य प्रकृति जिसे देश की धरती या पृथिवी रूप में स्वीकार करके प्रार्थना कर सकते हैं कि हे पृथिवी! तेरा जो मध्य और आकाशीय *(नभ्यं)* रूप है और तेरी जो विस्तारशील ऊर्जाएं *(तन्वः ऊर्जः)* संभूत हुई हैं उनमें हम सबको प्रतिष्ठित कर दे; हमें पवित्र कर दे। भूमि माता है; मैं पृथिवी का पुत्र हूं। ॐ पर्जन्य पिता हमको पूर्ण कर दे, ऋक् १२। दूसरे शब्दों में, जो ब्रह्म, *कवि* नाम से, भूमि माता के साथ जुड़ाहुआ है वही पिता, *पर्जन्य* ॐ नाम से *पृथिवी* माता के साथ भी संबद्ध है। हो भी क्यों नहीं? वह एक ही तो भूमि–पृथिवी माता है जो *धर्म द्वारा धृत* होने पर शिवा, ध्रुवा, सुखमयी, हमारी आंतरिक विश्व और ओषधि-माता हो सकती है।[७१३]

राष्ट्र–भूमि का धारक धर्मः इसलिए, पृथिवी-सूक्त का आरंभ ही उन धर्मों के निर्देश से होता है जो पृथिवी को धारण करते हैं।

सत्यं बृहद् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपो, ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्यु, उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु। ऋक् १

ये धर्म कोई मंदिर, चर्च, मस्जिद, गुरुद्वारा, आदि बाह्य उपकरणों वाले धर्म नहीं हैं अपि तु षड्विध मानव-धर्म हैं। इन धर्मों में एक धर्म *यज्ञ* है। इसको *श्रेष्ठतम कर्म* कहकर परिभाषित किया गया है अथ वा *ब्रह्मोद्भव कर्म* कहा गया है। दूसरे धर्म का नाम *ब्रह्म* है। *ब्रह्म* शब्द का यौगिक अर्थ 'निरंतर वर्धमान' (ज्ञान) होता है। निरंतर वर्धमान ज्ञान के आलोक में श्रेष्ठतम कर्म तभी होगा जब उसके पीछे *दीक्षा* नामक दृढ़ और सात्त्विक संकल्प होगा और होगा *तप* नामक सात्त्विक अध्यवसाय। फिर दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ भी *बृहत् सत्य* से प्रेरित होने चाहिएं,

* श्री–भूति के लिए आगे *राष्ट्रभूमि* शीर्षक में देखें।

अन्यथा इन चारों को शरीर-केंद्रित अहंकार के चुंगल में फांसकर संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में लगाया जा सकता है। तुच्छ स्वार्थ के स्थान पर व्यापक राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखनेवाला बृहत् सत्य भी प्रभावी तब होगा जब उस सत्य के *ऋत* नामक सक्रिय पक्ष को उग्र रूप दिया जाएगा। अन्यथा, बृहत् सत्य भी शिथिलता से पङ्किल होकर प्रभावहीन हो सकता है। अत: तदनुसार उग्रतापूर्वक ठीक समय पर, ठीक ढंग से, ठीक काम करने में दृढ़ सात्त्विक संकल्प के साथ अध्यवसाय की आवश्यकता पर बल देनेवाले मानव-धर्म का प्रतिपादन मंत्र में किया गया है।

इस धर्म द्वारा हमारी पृथिवी हमें क्षुद्रता और ओछेपन के दायरे से निकालकर एक ऐसे 'उरु लोक' में खड़ा कर देती है जिसमें हम उदारमना होकर व्यापक राष्ट्रहित में आचरण करते हैं। इस प्रकार, अतीत के आदर और अनागत (भविष्य) की सुरक्षा पर भी हमारी दृष्टि रहती है और हमारी पृथिवी भूत और भविष्य, दोनों की रक्षा करनेवाली बन जाती है। मंत्र में भू धातु से निष्पन्न *भूत* और *भव्य* शब्दों का प्रयोग करके पृथिवी के भूमित्व की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में, पृथिवी और भूमि कही जानेवाली राष्ट्रधरा की वैदिक कल्पना में राष्ट्रजन के उक्त षड्विध धर्म का भी समावेश स्वीकार किया गया है। वास्तव में, इस धर्म की इयत्ता और गुणवत्ता ही किसी राष्ट्र को वह आचरणजन्य विशेषता प्रदान करती है जिसे संस्कृति कहा जाता है।

● संस्कृति वह गंध है जो राष्ट्र के जन जन में एक दूसरे के प्रति आत्मीयता और राष्ट्रभूमि के प्रति ममता पैदा करके स्नेहसिक्त सहयोग और सहानुभूति का एक साम्राज्य खड़ा कर देती है। इस गंध से गंधवती पृथिवी के रूप में मातृभूमि को लक्ष्य करके सूक्त में प्रार्थना है कि हे पृथिवी! तुम्हारी जो गंध संभूत हुई है और जिसे तुम्हारी ओषधियां, आप: और गंधर्व-अप्सराएं धारण करती हैं उससे मुझे भी सुरक्षित कर दो ताकि हमसे कोई द्वेष न करे, ऋक् २३। तेरी जो गंध अमर दिव्य शक्तियों ने देश-काल से परे, ब्राह्मी वाक् रूप सूर्या के विवाहोत्सव में एकत्र की थी और जो हृदय-कमल *(पुष्कर)* में प्रविष्ट कर गई थी, हे पृथिवी! हमें उस गंध से सुरभित कर दो ताकि कोई हमसे द्वेष न करे, ऋक् २४। तेरी जो गंध, ऐश्वर्य और तेज स्त्री-पुरुषों के आत्माओं में, अश्वों, वीरों, मृगों और हाथियों में है अथ वा जो वर्च: कन्या में है उससे हमें युक्त कर दो ताकि कोई हमसे द्वेष न करे, ऋक् २५।

इस सांस्कृतिक गंध के अभाव में शिला, पत्थर और धूल, आदि जड़ वस्तुओं की मूर्तिमती वस्तु भी अपनी दृढ़ता खो देती है। पर उक्त षड्विध राष्ट्रधर्म द्वारा

धृता और सांस्कृतिक गंध द्वारा संधृता पृथिवी के वृक्ष, वनस्पति, आदि भी ध्रुव हो जाते हैं। तब राष्ट्रजन के आंतरिक विश्व को तृप्त करनेवाली, हिरण्यवक्षा वह पृथिवी अपनी धारणावती धरती *(धृता)* के रूप में प्रशंसित हो जाती है, ऋक् २६-२७। ऐसी राष्ट्रभूमि राष्ट्रजन का एक महान् *सध-स्थ* होती है। महान् वेग और गतिविधि के होतेहुए भी, महान् इंद्र द्वारा निरंतर सुरक्षित होतीहुई, वह अपने राष्ट्रजन को सुनहरी प्ररोचना और द्वेषातीत व्यवस्था प्रदान करती है, ऋक् १८-१९। इसके परिणामस्वरूप, विविध प्रकार से बोलनेवाले, बहुभाषी और बहुधर्मी जन-समूह का भरण-पोषण पृथिवी भी इस प्रकार करती है, मानो, वह एक ही घर हो, ऋक् ४५। इसी आदर्श को सामने रखकर भारत देश ने ऐसे वर्णाश्रम धर्म का विकास किया था जिसके फलस्वरूप अनेक नस्लों, भाषाओं और पूजा-पद्धतियों वाले *हिन्दु* समाज को सहस्राब्दियों तक अक्षुण्ण बने रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है। इसी के कारण हमारी राष्ट्रभूमि भारी मलवे को अपने में धारण करतीहुई और भले-बुरे राष्ट्रजन का निधन सहन करतीहुई भी उन दो अन्वेषक बलों *(मृगों)* से सदा युक्त रह सकी है ज़िनमें से एक बल तो आसुरी प्रभाव से उसका उद्धार करनेवाला *वराह* (वरणीय ज्ञानज्योति का दिन) है और दूसरा निरंतर 'सु' को करनेवाला (कर्मयोग अथ वा यज्ञ-रूप) *सूकर* है, ऋक् ८।

● इस प्रकार, पृथिवी-सूक्त में जिस मातृभूमि का वर्णन है वह एक अखंड *(अदिति)* सत्ता है। स्थूल पृथिवी उसकी मात्र प्रतीक है। इस प्रतीक के माध्यम से हम उसके उस, *बृहद् सं-वेश्य राष्ट्र*[११] को जन्म देनेवाले रूप की भी प्रतीति कर सकते हैं जिसमें विविध प्रकार के वाहनों, मनुष्यों के लिए मार्गों, और नदियों, पर्वतों, वनों, खेतों, कारख़ानों, आदि की भरमार होतेहुए भी सब नर-नारी सुख-शांति में तल्लीन रह सकें। मातृभूमि के ऐसे ही समवेत, समन्वित और अखंड सचेतन रूप की कल्पना बंकिमचंद्र के प्रसिद्ध गीत *वन्दे मातरम्* में है, भले ही कुछ लोगों ने उसमें जड़ पृथिवी की पूजा की गंध पाकर आपत्ति की हो। पर वे भूल जाते हैं कि इसी प्रकार की गंध विभिन्न देशों के राष्ट्रध्वजों और अन्य राष्ट्रीय प्रतीकों अथ वा धार्मिक कर्मकांडों में भी देखी जा सकती है। किन्हीं विशेष चिह्नों, रंगों, आदि से युक्त वस्त्रखंड को एक दंड पर फहराकर उसे राष्ट्रध्वज कहकर सलाम करते हैं। अपने धर्मप्रवर्तक के शारीरिक अवशेष पर स्तूप, मज़ार या समाधि खड़ी करके उसे आदर देते हैं। अपनी धर्मपुस्तक या धर्मस्थान के सामने मत्था टेकते हैं। इस सबको आपत्तिजनक नहीं माना जाता है। ये सब वस्तुत: हमारे लिए निर्दोष प्रतीक बन गए हैं उन आन्तरिक भावों और सूक्ष्म कल्पनाओं के जो हमारा उद्धार करके हमें

आगे बढ़ानेवाली हैं।

अदिति-रूप मातृभूमि : अत: मातृभूमि का अदिति रूप स्थूल पृथिवी के माध्यम से व्यक्त होनेवाला, एक ऐसा प्रत्यक् रूप है जो उसकी समस्त स्थूल इयत्ताओं को आत्मसात् करतेहुए भी, उससे अतिक्रान्त, एक व्यापक अखंड सत्ता का भी द्योतक है। इस प्रकार की अखंड सत्ता का वाचक *अ-दिति* शब्द दो (अव-खण्डने) धातु से निष्पन्न *दिति* शब्द का विपर्यय प्रस्तुत करता है। *दिति* शब्द अखंड (अ-दिति) सत्ता के खंड-खंडात्मक पक्ष को प्रत्यक्ष कराता है। अदिति की अवधारणा केवल इस पृथिवी या देश की भूमि तक सीमित नहीं है अपि तु उसमें अनंत ब्रह्मांड की समस्त आन्तर-बाह्य इयत्ता का भी समावेश है। इसी लिए कहा जाता है कि अदिति द्यौ, अंतरिक्ष, माता-पिता, पुत्र, विश्व देव, पंच-जन ही नहीं है बल्कि अभी तक उत्पन्नहुआ और भविष्य में उत्पन्न होनेवाला सब कुछ अदिति है।[७१४]

यह अदिति *अवध्र ज्योति*, सविता देव का श्लोक[७१५], अमृत की नाभि[७१६], चेतनासिंधु और स्वस्ति[७१७] है। अदिति, ब्रह्मांड के समान, प्रत्येक पिंडांड में भी स्थित है। इसलिए, पृथिवी-सूक्त में कहा गया है कि अदिति के सब रूपांतरों ने, जैसे, द्यौ, अंतरिक्ष, पृथिवी, आप:, आदि ने मुझे मेधा प्रदान की है, ऋक् ५३। इससे मैं भूमि पर *उत्तर* नामक *सहमान* और प्रत्येक दिशा में सर्वतोमुखी विजेता हो गया हूं, ऋक् ५४। यह होता तब है जब व्यष्टिगत भूमि पर कृष्ण और अरुण, अथ वा अहो-रात्र एक इकाई *(सं-हित)* बन जाते हैं (अर्थात्, द्वंद्व समाप्त हो जाता है) और भूमि-भूता पृथिवी आनंदवृष्टि से बार बार आ-वृत होतीहुई हमें प्रत्येक प्रिय धाम में अपनी कल्याणी वृत्ति द्वारा प्रतिष्ठित करती है, ऋक् ५२। दूसरे शब्दों में, जब हम द्वंद्वातीत *अ-दिति* का साक्षात्कार कर लेते हैं तो उसका विखंडनशील *दिति* रूप भी साधक के अनुकूल हो जाता है। इसका कारण यह है कि अ-दिति और दिति वस्तुत: एक ही दक्ष (बल) के दो पक्ष हैं। इसी लिए *पुराणों* में दोनों को दक्ष की पुत्रियां कहा गया है। इनके पुत्र, क्रमश: आदित्य और दैत्य हैं। वे मौसेरे भाई होतेहुए भी एक-दूसरे के शत्रु होते हैं। पर एक ऐसी अवस्था की भी कल्पना की गई है जब दिति के गर्भ का सप्त-विध विभाजन करके और सातों भागों को पुन: सप्त-विध विभाजित करके, इंद्र उन उनंचास मरुतों को प्रकट करता है जो वृत्र का वध करने में साधकतम देव माने गए हैं। वेद में वर्णित, पूर्वोक्त, द्वंद्वातीत अदिति के साक्षात्कार के द्वारा अदिति के दिति पक्ष में जो परिवर्तन आ जाते हैं उनकी ओर यह आख्यान इंगित कररहा है। इस स्थिति में, *अथर्ववेद* के अनुसार, अदिति शूर्पग्राही बनती है और दिति उसका शूर्प होती है।[७१८] इस प्रकार, देवों से सहयोग करके दिति और

उसकी संतान साधक की सहायता करने लगती हैं।

इस स्थिति में पहुंचेहुए साधकों को *मातृमान्* कहा जाता है। इनके भोग के लिए गुहा में छिपाहुआ एक *भुजिष्य पात्र* आविर्भूत हो जाता है। यह पात्र वास्तव में रजः के अर्णव में प्रविष्ट वही भूमि है जिसकी खोज विश्वकर्मा कररहा था,

याम् अन्व्-ऐच्छद्द् हविषा विश्व-कर्मा, अन्तर् अर्णवे रजसि प्र-विष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं नि-हितं गुहा यद्, आविर् भोगे अभवन् मातृमद्-भ्यः।

ऋक् ६०

विश्व-कर्मा वह साधक जीव है जो अन्तर्मुखी क्रिया द्वारा भीतरी विश्व में सक्रिय होकर रजोगुण के अर्णव में खोएहुए अपने व्यक्तित्व को समेटकर चेतना की उस अखंडता का आस्वादन करना चाहता था जिसे *अदिति* कहा गया है। उसी अखंड चेतना का नाम इस ऋक् में *भुजिष्य पात्र* है।

अदिति समस्त संभावनाओं की उर्वरा भूमि है; इसे *जनानाम् आ-वपनी*, अर्थात्, जन जन की चहुंमुखी बीजवपनस्थली कहा है। वह प्रथित (विस्तृत) होतीहुई, कामनापूर्ति के लिए दोहन करनेवाली कामधेनु हो सकती है। पर उसमें कमी यह है कि वह स्वयं बीजवपन का सामर्थ्य नहीं रखती है। इस कमी की पूर्ति करनेवाला प्रजा-पति है जो *ऋत का प्रथम-जाः* कहलाता है,

त्वम् अस्य् आ-वपनी जनानाम्, अदितिः काम-दुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति, प्रजा-पतिः प्रथम-जा ऋतस्य। ऋक् ६१

ऋत का प्रथम-जाः : जन जन की बीजपवनस्थली–पिंडांड में बीजवपन करनेवाला प्रजापति, निस्संदेह, मन है।[७१९] पर मन *(प्रजा-पति)* ऋतवान् भी होता है और अन्-ऋतवान् भी। ऋतवान् प्रजापति से आदित्य उत्पन्न होते हैं; क्यों कि आदित्यों की स्थिति का आधार ऋत है।[७२०] अन्-ऋतवान् प्रजापति से दैत्यों का आविर्भाव होता है जो मनुष्य को अन्-ऋत की इकाई (संहिता) बना देते हैं। सामान्यतः हमारा मन अन्-ऋत की ओर झुकाहुआ होता है। पर वह जब सत्य-प्रवण होगा तभी दिति भूमि, ऊपर उठतीहुई, अ-दिति बनने का प्रयास करेगी क्यों कि भूमि का उत्थान सत्य द्वारा ही संभव है।[७२१] अ-दिति स्तर को प्राप्त करने पर ही वह उस ब्रह्म-ऋत[७२२] (परमे-ष्ठी प्रजापति) से युक्त हो पाती है जो स्वयं आत्मा अथ वा ब्रह्म कहलाता है।[७२३] यह प्रजापति ही वह *ऋत का प्रथम-जाः* है जो अदिति में बीजवपन करके उसकी कमी *(ऊन)* की पूर्ति करता है। यही वह *कवि* भी है जिसके स्वर्ग से अदिति युक्त होतीहुई कही जाती है और जो स्वयं साधक को[७२४] श्री-भूति में स्थापित करनेवाला है, ऋक् ६३।

राष्ट्रभूमि : राष्ट्र की अग्रभूमि, अर्थात्, देश-काल से परे की उच्चतम स्थिति का पारिभाषिक नाम *श्री:* है। अत: श्री: नामक *भूति* (वैभव) में स्थापित होने का अभिप्राय है उन्हीं *त्वेष* और *बल* में स्थित होना जिनको उत्तम राष्ट्र में निहित करने की बात पहले कही गई है, ऋक् ८। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि अभी तक जिस राष्ट्रभूमि का उल्लेख किया गया है वह बाह्य है या आंतरिक। वह यदि राष्ट्रभूमि और राष्ट्रजन की समवेत इकाई है तो उसे देश-काल से परे मानना कहां तक युक्तिसंगत है? इसके उत्तर के लिए राष्ट्र शब्द की सविस्तर व्याख्या अपेक्षित है। पर जैसा पहले निवेदन किया जा चुका है, उत्तम राष्ट्र में दीप्ति और बल को स्थापित करनेवाली भूमि, निस्संदेह, देश-काल से परे है। पर यह भूमि जिस पृथिवी का सत्यावृत अमृत हृदय कही गई है वह, निस्संदेह, बाह्य पृथिवी है जिसमें राष्ट्रजन की स्थूल देह का भी अन्तर्भाव होता है। वैदिक राष्ट्रभूमि अथ वा मातृभूमि की कल्पना को इसी लिए कभी कभी *भूमि पृथिवी* अथ वा *पृथिवी भूमि* कहकर दोनों को विशेषण-विशेष्य के तादात्म्य अथ वा पर्याय-संबंध द्वारा व्यक्त किया गया है।[७२५]

भूमि और पृथिवी के इस द्विविध रूप के फलस्वरूप ही अदिति *उभयत: शीर्ष्णी* वाक् है जो सु-प्राची और सु-प्रतीची नाम से द्विधा गतिशील होरही है।[७२६] इस द्वंद्वात्मक रूप से परे, अदिति का एक और रूप है जिससे वह अपने में सबका आ-दान् करके सर्व का *अदन* करनेवाली कही जाती है।[७२७] इस रूप में वह ब्रह्मलीना (ब्राह्मी) वाक् है जिसे *राष्ट्री, वसुओं की सं-गमनी* और *यज्ञिय देवों में प्रथमा* कहा जाता है।[६५] यही है वाक् का वह परम रूप जिसमें सारा नानात्व समाहित होकर उसे अज्ञेयत्व प्रदान करता है,[७२८] जब कि अपने अन्य रूप में वह नानात्व को ग्रहण कररही है।[६४] जब दोनों रूपों में भेद करना होता है तो प्रथम को *अदिति* और दूसरे को *पृथिवी* नाम देकर, दोनों रूपों को *यज्ञ द्वारा संपन्न होनेवाले* कहा जाता है। कभी कभी, इन दोनों को क्रमश: *अदिति* और *दिति* (अथ वा *स्वम्* और *अरणम्*) भी कहा जाता है।[७२९] इन्हीं दो रूपों को, जैसा कि ऊपर कहा गया है, क्रमश: भूमि और पृथिवी की जोड़ी द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। पर इनमें से *पृथिवी* की अपेक्षा *भूमि* शब्द को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। इसका कारण है उसके मूल में स्थित भू धातु[७३०] जिसका, परंपरा से, सत्ता, मंगल, वृद्धि, निवास, व्याप्ति, संपत्ति, अभिप्राय, शक्ति, प्रादुर्भाव और गति अर्थों में प्रयोग किया जाता है।[७३१]

भू धातु के अर्थगौरव के बल पर *भूमि* शब्द उस शक्ति का बोध भी

कराने लगी जो *हिरण्य-संदृक्* होकर दीप्त हो सकती है और जो अग्नि और जल होकर न केवल भूमि (पृथिवी) में अपि तु ओषधियों, वनस्पतियों, पत्थरों, पुरुषों, गौओं और अश्वों में भी विचरण करती है, ऋक् १८-१९। संभवत: इसी दृष्टि से, *ऋग्वेद* में एक स्थल पर अग्नि को *राष्ट्री* कहा गया है।[७३२] इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि *निघंटु* के *पृथिवी*-नामों में पूषा और अदिति जैसे देव-नाम हैं तो *गातु* भी है जो, *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार, यज्ञ का वाचक है।[७३३] इस गातु के ज्ञान पर आश्रित *गौ* शब्द भी उस सूची में है, तो 'गौ' से निष्पन्न *गोत्रा* शब्द भी। यह गातु वह ऊं *गव्यूति* है जिसे प्रथम यम ने हमारे लिए जाना था और जिसका अपहरण संभव नहीं है।[७३४]

इस प्रकार, पृथिवी-सूक्त के संदर्भ से *निघंटु* के *पृथिवी*-नामों का जो किंचित् विवेचन ऊपर हुआ है उससे स्पष्ट पता चलता है कि वेद की पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करनेवाला ग्रह-मात्र नहीं है अपि तु वह एक अद्‌भुत प्रतीक भी है जिसके द्वारा सूक्ष्म और स्थूल जगत् के अनेक तथ्यों की ओर संकेत किया गया है। यह वह भूमि-तत्त्व भी है जिसमें सब कुछ होता है।[७३५] उसे *विश्वकर्मा*,[७३६] भूत की *प्रथम-जा:*,[७३७] सब लोकों में *प्रथमा*[७३८] और *अन्तरिक्ष*[६९] भी कहा जाता है। *निघंटु* के *अंतरिक्ष*-नामों में 'पृथिवी' नाम परिगणित है, क्यों कि अंतरिक्ष की व्युत्पत्ति *अन्त:* से की जाती है[६९] और, जैसा ऊपर देख चुके हैं, अपने एक रूप में पृथिवी–भूमि आंतरिक शक्ति भी है।

इस तरह, पृथिवी के इस संक्षिप्त विवेचन से भी पर्याप्त संकेत मिल जाता है कि *निघंटु* के *पृथिवी*-नामों के विस्तृत विवेचन से पता चलेगा कि वे सब नाम किस दृष्टि से एक सूची में रखे गए हैं और कि *पृथिवी* शब्द के साथ *ब्राह्मण*-ग्रंथों में जो अन्यान्य नामों का समीकरण किया जाता है वह निरर्थक नहीं है। उस सूची में जो *गौ* शब्द है उसके व्याख्यान से ज्ञात होगा कि पृथिवी को *पुराणों* में क्यों प्राय: गौ रूप में प्रस्तुत किया जाता है और *अथर्ववेद* की वि-राट् गौ से कृषि और सस्य का दोहन करनेवाला पृथी (वैन्य), *पुराणों* का पृथु राजा होकर, पृथिवी का दोहन क्यों करता है।

: ३ :

वेद-चक्षु के इस प्रथम उन्मेष में प्रस्तुत दृष्टि द्वारा, ऊपर पृथिवी और उसके कुछ नामों के माध्यम से पारिभाषिक वैदिक प्रतीक-शैली का स्वरूप प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। इसी तरह अगले उन्मेषों में वैदिक ज्ञान-ज्योति का दर्शन सुलभ होगा, जिसमें इसी प्रकार की चौंकानेवाली विचित्रता होगी। पर वैदिक शैली

को हृदयंगम कर लेने पर सब कुछ सुसंगत और सहज प्रतीत होगा। इस शैली को जाने-समझे बिना न तो *निघंटु*-गत नामों की सूचियों को तर्कसंगत कहा जा सकता है और न *ब्राह्मण*-ग्रंथों की व्युत्पत्तियों और समीकरणों का कोई तर्क-संगत आधार ढूंढा जा सकता है। इसी लिए, विद्वानों ने *ब्राह्मणों* के विवरणों को एक जी ऊबानेवाले जंगल से उपमा दी है या उसको एक सूखा रेगिस्थान कहकर उसकी व्युत्पत्तियों को अवैज्ञानिक और मूर्खतापूर्ण बताया है।

आगे आनेवाले उन्मेषों में, *निघंटु* की शब्द-सूचियों की जो सोदाहरण व्याख्या की जानी है उनमें से प्रत्येक में वैदिक ज्ञानज्योति का एक सुसंगत, संश्लिष्ट और तर्कसंगत चित्र देखने के प्रयास में कहीं भी अंधश्रद्धा अथ वा पूर्वाग्रह को बाधा नहीं बनने दिया जाएगा और न प्राचीन अथ वा अर्वाचीन भाष्यकारों के मतों को आंख मूंदकर स्वीकार किया जाएगा क्यों कि इस प्रकार की पद्धति से ही अभी तक वेद-व्याख्या का सबसे अधिक अहित हुआ है। वेदमंत्रों पर विचार करते समय यदि वैदिक प्रतीक-शैली को खुले दिमाग़ से ध्यान में रखा जाए तो *निघंटु* की प्रत्येक नाममाला से निस्संदेह ज्ञानज्योति का एक वैविध्यपूर्ण, संश्लिष्ट चित्र उभरकर आएगा। उदाहरण-स्वरूप यहां *वेद-चक्षु* के आगामी उन्मेषों में प्राप्य दर्शन की किंचित् झलक प्रस्तुत की जारही है। प्रत्येक उन्मेष के अन्तर्गत एक अथ वा एक से अधिक नाम-सूचियों के अध्ययन का समावेश रहेगा और व्याख्या के लिए वेद के स्वतःप्रामाण्य से प्राप्त संकेतों के लिए *वेदांगों, आगमों, पुराणों, षड् दर्शनों* के अतिरिक्त *रामायण-महाभारत* की परंपरा में उपलब्ध सामग्री का भर-पूर उपयोग किया जाएगा।

विभिन्न उन्मेषों की उपलब्धियां : यहां उन्मेषों की उपलब्धियों का संकेत-मात्र किया जारहा है। प्रत्येक उन्मेष में *निघंटु* की जिन नाम-सूचियों का समावेश प्रस्तावित है उनके नाम भी साथ में दिए गए हैं। उन्मेषों के अन्तर्गत जि· नाम-सूचियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा उनको कुछ पटलों (खंडों) में विभाजित किया गया है और प्रत्येक पटल के अंतर्गत एक से अधिक उन्मेष हैं। *निघंटु* की शब्द-सूचियों में से कुछ को *नाम* और कुछ को *पद-नाम* कहा गया है। इन दोनों प्रकार की सूचियों का अध्ययन यद्यपि अलग अलग होगा, पर कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो दोनों वर्गों में हैं। अतः इन शब्दों का अध्ययन एक में विस्तार से करके, दूसरे वर्ग में केवल पूर्व अध्ययन के संक्षिप्त विवेचन से काम चलाया जाएगा। उदाहरण के लिए *मरुतः* शब्द चार सूचियों में परिगणित है। इनमें से केवल *हिरण्य*-दर्शन करानेवाले द्वितीय उन्मेष में इसको विस्तार से परिभाषित

किया गया है जब कि *ऋत्विङ्*-नामों, रूप-नामों और *पद*-नामों में उसका केवल संक्षिप्त विवेचन है। इसी प्रकार *क्रोध*-नामों और *क्रुध्यति-कर्मा* धातुओं और *स्तोतृ*-नामों का समावेश रुद्र-दर्शन करानेवाले उन्मेष में होगा तो *वज्र*-नामों, *स्तेन*-नामों और *वध-कर्मा* धातुओं की सूचियों के साथ, *मेघ*-नामों में से *वृत्र, शंबर, वल* और *वराह* की सविस्तर व्याख्या उस उन्मेष में मिलेगी जिसका विषय *संग्राम-दर्शन* है।

वेद-चक्षु ग्रंथ-माला का पूरा विवरण इस तरह निश्चित किया गया है।

उन्मेष	*दर्शन* (विषय)	*शब्द-सूची*
		<u>पटल १</u>
१	मातृभूमि-दर्शन	पृथिवी-नाम, गो-नाम, द्यावा-पृथिवी-नाम
२	हिरण्यय- ,,	हिरण्य-नाम
३	अन्तरिक्ष- ,,	अन्तरिक्ष-नाम, साधारण-नाम, दिङ्-नाम
४	ज्योतिर्- ,,	रश्मि-नाम, उषो-नाम, अहर्-नाम, रात्रि-नाम, ज्वलतो-नाम, ज्वलति-कर्मा
५	मेघ- ,,	मेघ-नाम, उदक-नाम
६	वाग्- ,,	वाङ्-नाम, सरस्वती, तीन देवियां
७	रुद्र- ,,	क्रुध्यति-कर्मा, क्रोध-नाम, एक रुद्र और बहु रुद्र
८	अश्व- ,,	अश्व-नाम, आदिष्टोपयोजन
९	कर्म- ,,	कर्म-नाम, अंगुलि-नाम, कान्ति-कर्मा
१०	मनुष्य- ,,	अपत्य-नाम, मनुष्य-नाम, बाहु-नाम
११	अन्न- ,,	अन्न-नाम, अत्ति-कर्मा
१२	बल- ,,	बल-नाम, धन-नाम
१३	प्रज्ञा- ,,	प्रज्ञा-नाम, पश्यति-कर्मा, मेधावि-नाम
१४	ईश्वर- ,,	ऐश्वर्य-कर्मा, ईश्वर-नाम, सत्य-नाम
१५	संग्राम- ,,	संग्राम-नाम, वध-कर्मा, वज्र-नाम
		<u>पटल २</u>
१६	द्वन्द्व-दर्शन	बहु-नाम, ह्रस्व-नाम, महन्-नाम, दूर-नाम, अन्तर्हित-नाम, सर्व-नाम, द्यावा-पृथिवी-नाम, नवीन-नाम, पुराण-नाम, याच्ञा-कर्मा, दान-कर्मा

१७	यज्ञ- ,,	यज्ञ-नाम, ऋत्विङ्-नाम, स्तोतृ-नाम, परिचरण-कर्मा, उपमा-नाम
१८	सुख- ,,	सुख-नाम, रूप-नाम, प्रशस्य-नाम, स्वपिति-कर्मा, अध्येषणा-कर्मा, उत्तर-नाम, गृह-नाम
१९	दुःख- ,,	कूप-नाम, स्तेन-नाम

<u>पटल ३</u>

२०	रथ-दर्शन	गति-कर्मा		
२१	प्रथम-पद-दर्शन	६२	पद	
२२	द्वितीय-,,-	,,	८४	,,
२३	तृतीय- ,,-	,,	१३५	,,
२४	चतुर्थ ,,-	,,	३	,,
२५	पंचम ,,-	,,	१३	,,
२६	षष्ठ ,,-	,,	३६	,,
२७	सप्तम ,,-	,,	३२	,,
२८	अष्टम ,,-	,,	३६	,,
२९	नवम ,,-	,,	३१	,,

वेद-चक्षु का प्रकल्प

इस भूमिका-खंड के साथ *वेद-चक्षु* ग्रंथ-माला का प्रकाशन आरंभ होरहा है। प्रकल्प बहुत बड़ा है। उक्त उन्तीस उन्मेषों में से प्रत्येक कम से कम तीन सौ से पांच सौ पृष्ठों का होगा। अंतिम दस उन्मेषों की पृष्ठ-संख्या इससे अधिक भी हो सकती है। कार्य बहुत व्ययसाध्य है। ऐसे कार्य के महत्त्व को समझनेवाले प्रायः केवल सरस्वती-पुत्र होते हैं जिनसे लक्ष्मी द्वेष करती है। अतः कहा नहीं जा सकता है कि कार्य गति पकड़ सकेगा या नहीं।

एक बार भारत सरकार ने सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो. डॉ सत्यव्रत (दिल्ली विश्वविद्यालय) के नेतृत्व में एक निरीक्षक-दल *वैदिक-परिभाषा-कोष* के कार्य को देखने भेजा था। उसने तब तक के शोधकार्य की सराहना की थी और वेदाध्ययन और भारतीय संस्कृति के लिए उसे आधारभूत मानतेहुए, पूरे प्रकल्प को दस वर्षों के भीतर समाप्त करने की दृष्टि से एक योजना तैयार करके देने को कहा था। वह योजना बनाई गई और सरकार को भेजी गई और ऐसी सूचना है कि उस पर

अनुकूल रिपोर्ट भी की गई थी। पर खेद है कि आगे कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

अस्तु। धीमी गति से ही सही, कार्य चलरहा है और चलता रहेगा। यदि धीमी गति के कारण मैं अपने इस जीवन-काल में इस प्रकल्प को पूरा नहीं कर सका तो भी यह चालू रहेगा, यह मुझे भासता है और इसके लिए मुझे दूसरा जन्म लेने की अपेक्षा नहीं पड़ेगी। परम शक्ति और ज्ञानाधार प्रभु की प्रेरणा से तथा स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' (संस्थापक, वेद-संस्थान) सदृश दिव्य जनों के सात्त्विक प्रयत्नों से यह पावन कार्य पूरा होकर ही रहेगा।

पाद-टिप्पणियां

प्रथम अध्याय

१ मनुस्मृति १२.९४ २ वही, १२.१०२ ३ वही, १२.९६

४ वही, १२.१०० ५ स्थाणुर्……भार-हारः। निरु. १.१८

६ यस्य निः-श्वसितम् वेदा, यो वेदेभ्यो-खिलं जगत्।
निर्-ममे तम् अहं वन्दे, विद्यातीर्थ-महेश्वरम्। सायण, ऋग्वेदसंहिता-भाष्य के आरंभ में द्वितीय पद्य

७ मन एव 'सविता', वाक् 'सावित्री'……इत्य् एते द्वे योनी, एकं मिथुनम्, गो. १.१.३३; सूर्या 'सावित्रीम्', अ. ६.८२.२; सूर्या 'सावित्री', वही, १४.२.३०; मनो-रूप गाड़ी पर आरोहण करके सूर्या क्रमशः चार पतियों (मनुष्य के व्यक्तित्व के चार स्तरों) का वरण करती है, ऋ. १०.८५.१०; १२; ४०-४१

८ तस्य (पुरुषस्य) मन एव ब्रह्मा, कौब्रा. १७.७

९ त्रेधा वि-हिता हि वाग्, ऋचो, यजूंषि, सामानि, शब्रा. ६.५.३.४

१० तस्य (मनोमयस्यात्मनः) यजुर् एव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा, तैआ. ८.(तैउ. २.)३.१

११ त्रयेण वेदेन यज्ञं तनुध्वम्, जैब्रा. १.३५८

१२ त्रि-षत्या वै वाक्, वही २.३१८; त्र्य्-आ-वृद् वै वाक्, तांब्रा. १०.४.६; ९

१३ यद् वाव जवत, 'इत्थम् असाद् *इत्थम् असाद्*' इति तद् अस्या जूत्वम्। यद् वाव चिकित्सत, 'इत्थम् असाद् इत्थम् असाद्' इति तद् अस्याश् चित्त्वम्। यद् वाव ध्यायती,'त्थम् असाद् इत्थम् असाद्' इति तद् अस्या धीत्त्वम्, मै. ३.७.५

१४ फ़तहसिंह, *वैदिक दर्शन*, पृ. २९-३३

१५ यस्मात् कोशाद् उद् अभराम वेदं, तस्मिन्न् अन्तर् अव दध्म एनम्। कृतम् इष्टं ब्रह्मणो वीर्येण, तेन मा देवास्! तपसावतेह।अ. १९.७२.१

१६ वही, १९.६८.१

१७ सैषा त्रयी विद्या सौम्ये अध्वरे प्र-युज्यते, शब्रा. ४.६.७.१; तु., टिप्पणी ११

१८ मनसो वै समुद्राद् वाचाभ्र्या देवास् त्रयीं विद्यां निर्-अखनन्, वही, ७.५.२.५२

१९ यद् अस्मिन् विश्वे देवा असीदन् तस्मात् 'सदो' नाम, वहीं, ३.५.३.५; ६.१.१

२० त उ एवास्मिन्न् एते ब्राह्मणा विश्व-गोत्राः सीदन्ति, वही, ३.५.३.५; ६.१.१

२१ अ-जातो वै तावत् पुरुषो यावन् न यजते, स यज्ञेनैव जायते, जैउ. ३.३.४.८

२२ मनसा वै प्रजा-पतिर् यज्ञम् अतनुत, मै. १.४.१०

२३ एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजा-पतिः, शब्रा. ४.३.४.३; त्वं यज्ञस्, त्वं विष्णुस्, ...त्वं रुद्रस्, त्वं ब्रह्मा, त्वं प्रजा-पतिः, तैआ. १०.३१.१

२४ स (प्रजा-पतिः) ऐक्षत, यम् इमं त्रयं वेदम् असृक्षि, हन्त, अस्मात् सृजा इति, जैब्रा. ३.३८०; सः श्रान्तस् तेपानो ब्रह्मैव प्रथमम् असृजत, त्रयीम् एव विद्याम्, शब्रा. ६.१.१.८; प्रजापतिस् त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्, शब्रा. ६.३.१.१०

२५ जैब्रा. २.७९ २६ ऋ. १०.१२४.१-३ २७ वही, १०.१२४.६-७

२८ वृत्रं जघन्वान् अवृणीत सोमम्, वही, ३.३६.८

२९ वही, ३.३६.१; देखें, टिप्पणी २८ की ऋक् भी।

३० जात-वेदसे सुनवाम सोमम्, अरातीयतो नि दहाति वेदः। स नः पर्षद् अति दुर्-गाणि विश्वा, नावेव सिन्धुम् दुर्-इतात्य् अग्निः ।। वही, १.९९.१

३१ वही, ७.१५.३ ३२ मभा. शांतिपर्व ३४७.२९; गीताप्रेस-संस्करण

३३ असुरेषु वै यज्ञ आसीत्। तं देवास् तूष्णीं होमेनावृञ्जत, तै. ६.३.७.२

३४ मुंउ. १.१.४

३५ जैउ. १.१.१.६-७१; तु. एतद् एवाक्षरं त्रयी विद्या, जैउ. १.४.४.१०

३६ प्रउ. ५.५ ३७ छांउ. १.४.२ ३८ रस ओङ्कारः, जैब्रा. २.७८

३९ जैउ. १.१.१.५ ४० तु., ऋ. ६.९.६

४१ फ़तहसिंह, *ढाई अक्षर वेद के*, पृ. १-३

४२ अष्ट-चक्रा नव-द्वारा, देवानां पूर् अ-योध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः, स्वर्-गो ज्योतिषा-वृतः । अ. १०.२.३१

४३ Ken wilber, *preface to the Atman-Project*, 'Transpersonal refers to the mature, adult forms of trancedence of the ego-mind and body.'

४४ ऐआ. २.५.१ ४५ बृउ. १.४.१०-१३

४६ ओङ्कारः सर्वदेवत्यः ..... । तत् तत् स्थानाद् अन्या देवतास् तद् वि-भूतयः। एकैव वा महान् आत्मा देवता। स सूर्य इत्य् आ-चक्षते। तद् वि-भूतयो अन्या देवताः। ऋ-सर्वानु. १.२.११-१५; १८

४७ एकस्यात्मनोन्ये देवाः प्रत्य्-अङ्गानि भवन्ति, निरु. ७.४

४८ तु., पुरुष एवेदं सर्वं, यद् भूतं यच् च भव्यम्, ऋ. १०.९०.२

४९ वही. १.१६४.१

५० यं वै गाम्, अश्वं, पुरुषं प्र-शंसन्ति 'वाम' इति सं-प्र-शंसन्ति, तांब्रा. १३.३.१९

५१ प्रजा-पतिर् वै वाम-देवः, शांआ. १.२; तं (प्राणम्) वा देवा अब्रुवन्, 'अयं सर्वेषां वाम' इति, ऐआ. २.२.१

५२ जैब्रा. १.१४४ ५३ वही, २.४१५ ५४ ऋ. ४.३५.३

५५ वही, ४.३३.४; ३६.४ ५६ वही, ४.३६.६ ५७ तैउ. ३.२.५; २.९

५८ गो. १.१.२६; फ़तहसिंह, 'वैदिक एटीमॉलॉजी', पृ. ११५

५९ अथ यद् अश्रु सं-क्षरितम् आसीत् सोश्रुर् अभवत्। 'अश्रुर्' ह वै 'अश्व' इत्य् आ-चक्षते परोक्षम्, परोक्ष-प्रिया-इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्ष-द्विषः, शब्रा. ६.१.१.११

६० इन निर्वचनों के स्पष्टीकरण के लिए द्रष्टव्य, फ़तहसिंह, *भावी वेदभाष्य के सन्दर्भ-सूत्र*, पृ. XX-XVI

द्वितीय अध्याय

६१ हिन्दुस्तान टाइम्स्, २० जनवरी, १९६९

६२ रेश्यल ऐफ़ीनिटीज़ ऑव् द पीप्ल् ऑव् इण्डिया, सैंसस् आव् इण्डिया, १९३१

६३ सी वी वैद्य, *संस्कृत साहित्य का इतिहास*, पृ. १००

६४ जनं बिभ्रती बहु-धा वि-वाचसं, नाना-धर्माणं पृथिवी यथौकसम्, अ. १२.१.४५ ६५ ऋ. १०.१२५.३

६६ 'अ' इति ब्रह्म, ऐआ. २.३.८; एकोवर्णो बहु-धा शक्ति-योगान्, नाना-वर्णान् नि-हितार्थो दधाति, श्वेउ. ४.१

६७ क्रिया ककुद्गतो मांसं पिनाकी भूः बलाभुजः। लम्पटः शक्र-संज्ञाश् च वाद्यो रान्तो ल कारकः, एकाक्षरकोश २०.४६

६८ मै., ३.१४.१६; काठ. ५.१०

६९ अन्तरेव वा इदम् इति तद् अन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्, तांब्रा. २०.१४.२; अथ यद् अन्तरासीत् तद् इदम् अन्तरिक्षम्, जैब्रा. ३.३६१

७० दश वा इमे पुरुषे प्राणा, आत्मा एकादशो यस्मिन्न् एते प्राणाः प्रति-ष्ठिताः, शब्रा. ३.८.१.३

७१ अलज-चितं चिन्वीत चतुः-सीतं प्रतिष्ठा-कामः, तै. ५.४.११.१

७२ ऋ. १.१६४.२०; श्वेउ. ४.६

७३ त (देवाः) ओङ्कारं ब्रह्मणः पुत्रं ज्येष्ठं ददृशुः, गो. १.१.२३

७४ तांब्रा. १३.१०.८ ७५ बृउ. ३.९.२८ ७६ ऋ. ४.४०.५

७७ श्वेउ. ३.१८ ७८ बृउ. १.१-२

७९ अश्वोस्य्, अत्योसि, मयोसि, हयोसि, वाज्य् असि, सप्तिर् अर्व्वाग् असि, वृषासि, तांब्रा. १.७.१

८० ऋ. १.१६३.१ ८१ वही, ९

८२ वही, १.१३८.४; ६.५५.३-४; ६.५८.२; ९.६७.१०

८३ सर्वेषां वा एष पशूनां रूपाण्य् अस्ति, पुरुषस्येव श्मश्रूणि, अश्वस्येव श्मश्रूणि, अश्वस्येव शिरो, गर्दभस्येव कर्णौ, शुन-इव लोमानि, गोर्-इव पूर्वौ पादाव्, अवेर्-इवापराव्, अजः खलु वै सर्वाण्य् एव पशूनां रूपाणि स्व्-अव-रुन्धे। सर्वाण्य् एव पशूनां रूपाण्य् उप-तिष्ठन्ते, मै. २.५.१; तु., काठ. १३.१

८४ ऋ. ५.२.९ ८५ वही, ९.८७.७, ९.५.२ ८६ वही, ५.५९.३

८७ श्वेउ. १.९, ४.५; ४.६

८८ Marshall J., *Indus civilization,* pl. Cx11, 378; C1x, 252

८९ ऋ. १.१४०.२ ९० शब्रा. ७.३.२.१४; ५.२.१.१४

९१ अ. ३.८.१, *बृहद् राष्ट्रं सं-वेश्यं* ९२ वही, ३ ९३ वही, ५; ६

९४ इस विषय की पर्याप्त सामग्री निम्न लेखों में है, फ़तहसिंह, *सिंधु लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक; सिंधुलिपिरहस्योद्घाटनम्; उत्तर-दक्षिण की सनातन एकता; एक-श्रृंगी* लेखमाला; *Indus civilization in Rajasthan,* Eight lectures at Rashtrotthana Parishad Bangalore.

९५ Krishnaswami Ayanger, *Some contributions of South India to Indian culture*, P. 53-55.

९६ ऋ. २.३४.१; १०.७८.२ ९७ वही, १०.८४.१ ९८ वही, ३.२६.५

९९ वही, ८.७.७ १०० वही १०.७८.३ १०१ वही, ८.९४.१२

१०२ वही, ५.४१.११

१०३ कार्मारकर, *दी व्रात्य सिस्टम्स् आव् रिलीजन्स्*, पृ. १३१

१०४ ऋ. ५.५७.५ १०५ वही, ५.६०.३; १०.८६.९; ७.६२.२; ३९.५; १.१६७.४-५

१०६ वही, ५.६१.४, १०७ वही, १.६४.४; १२२.१; ५.५४.१०; देखें, टिप्पणी १०६ भी।

१०८ वही, ७.२०.५; ९.९६.१; १०.३४.१२ १०९ वही, १.११४.६-९; २.३३.१

११० स्कंद की उत्पत्ति के लिए देखें, रामायण १.३७; मभा. ३.२२८-२२९; वेङ्कट रमनय्या, "रुद्र-शिव". पृ. ७२-७४

१११ ऋ. १.७१.८; ६.३.६ ११२ वही, ७.५९.७

११३ उत्तरं यत् समुद्रस्य, हिमाद्रेश् चैव दक्षिणम्। वर्षं तद् भारतं नाम, भारती यत्र सं-ततिः, विपु. २.३.१

११४ भागवत पुराण ५.१९.१७

११५ विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्, ऋ. ३.५३.१२

११६ वही, २.३६.२ ११७ वही, ३.३३.११-१२

११८ प्र-प्रायम् अग्निर् भरतस्य शृण्वे, वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद् भाः वही, ७.८.४

११९ तै. १.८.१०.२ १२० शब्रा. १.५.१.८; १.४.२.२ १२१ ऐब्रा. २.२४

१२२ तस्य तत् प्रथितं चक्रं, प्रावर्तन् महात्मनः। भास्वरं दिव्यम् अंजितं, लोके सन्नादनं महत्, मभा. आदिपर्व ६९.४५

१२३ द्वादशारं नहि तज् जराय, वर्वर्ति चक्रं परि द्याम् ऋतस्य, ऋ. १.१६४.११

१२४ न्य् अघ्न्यस्य मूर्धनि, चक्रं रथस्य येमथुः, ऋ. १.३०.१९

१२५ ऋद्धं हि राज्यं पदम् ऐन्द्रम् आहुः, रघुवंश

१२६ यो अग्निः सप्त-मानुषः ऋ. ८.३९.८

१२७ प्र सप्त-होता सनकाद् अरोचत, वही, ३.२९.१४

१२८ भरत्य् एव प्र-जाः सर्वास्, ततो 'भरत' उच्यते, मभा. वनपर्व २.११.१; तु., शब्रा. १.४.२.२; कौब्रा. ३.२

१२९ प्रजा-पतिर् वै भरतः। स हीदं सर्वं बिभर्ति, शब्रा. ६.८.१.१४

१३० भरणात् प्र-जानां चैव, मनुर् 'भरत' उच्यते, मपु. ११३.५

१३१ ......निरुक्त-वचनैश् चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्, वही, ११३.५

१३२ ऋ. ८.२३.२; ८.२४.७; १०.५५.८ १३३ वही, ८.४५.४२; अ. २०.४३.३

१३४ यत्र विश्वं भवत्य् एक-रूपम्, अ. २.१.१; तु., १२.३.२१

१३५ यत्र विश्वं भवत्य् एक-नीडम्, ऋ-खि. ४.१०.१ १३६ अ. १२.१.८

१३७ मम योनिर् अप्स्व् अन्तः समुद्रे, अ. ४.३०.७

१३८ अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासम् उत्-तमः वही, ३.५.२

१३९ धर्मोस्मि विशि राजा प्रति-ष्ठितः, य. २०.९ १४० य. १०.२-४

१४१ आपो वै 'प्राणाः' जैउ. ३.१०.९; शब्रा. ३.८.२४; प्राणा वा 'आपः', तांब्रा.९.९.४; तैब्रा. ३.२.५.२; प्राणो हि 'आपः', जैउ. ३.२.५.९ १४२ य. १०.१

तृतीय अध्याय

१४३ ऋ. १.२४.७ और इस पर सायण-भाष्य।

१४४ ऊर्ध्व-मूलम् अधः-शाखम्, अश्वत्थं प्राहुर् अ+व्य्-अयम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस् तं वेद स वेद-वित्।।भ-गी. १५.१

१४५ तुलना करें, *ड्राफ्ट मैनिफैस्टो आव् दी महासभा आव् ज्वाइंट दलित-आदिवासी रूरल लिटरेचर्स* के ये शब्द, 'With the post II world war international crisis of marxism and the rise of Dalit, rural (Sudra) and Adiwasi literatures in post-independence India, the demand for creating an asthetics of these non-Brahmanical literratures gathered strength.'

१४६ स्वः स्वाय धायसे कृणुताम् ऋत्विक् ऋत्विजम्। ऋ. २.५.७

१४७ तु., ऋ. ४.५३.३ १४८ अ. ६.४३.१

१४९ सं-सम् इद् युवसे वृषन्न्! अग्ने! विश्वान्य् अर्य आ, ऋ. १०.१९१.१

१५० विदत् स्वर् मनवे ज्योतिर् आर्यम्, अ. २०.१७.४

१५१ मनुर् भव, जनया दैव्यं जनम्, ऋ. १०.५३.६; तै. ३.४.२.२; काठ. १३.१२

१५२ तु., ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोनूचानास् ते मनुष्य-देवाः, शब्रा. २.२.२.६

१५३ साकं-जानां सप्तथम् आहुर् एक-जं, षड् इद् यमा ऋषयो देव-जा इति, ऋ. १.१६४.१५; देखें, टिप्पणी ६४८ भी।

१५४ सं-ज्ञानम् अस्तु मेमुना। य. २६.१

१५५ *विश्व* और *सर्व* पर आश्रित भेद के लिए देखें, अ. ६.२३.२४; १०.९.१२; १४; ११.१.३७

१५६ तु., ऋ. ६.२२.१०; ६.३३.३; ६.६०.६; १०.६९.६; अ. २०.३६.१०

१५७ देवीः षड् उर्वीर् उरु नः कृणोत, विश्वे देवास इह वीरयध्वम्, ऋ.१०.१२८.५; अ. ५.३.६

१५८ तस्मिन् हिरण्यये कोशे, त्र्य्-अरे त्रि-प्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षम्

आत्मन्-वत्, तद् वै ब्रह्म-विदो विदुः। अ. १०.२.३२

१५९ ऋ. १०.१२८.२; ६.४७.४; ३.२२.२; ५४.१९; ४.५२.७ १६० वही, १.११७.२१

१६१ तु., पद्भ्यां शूद्रो अजायत, ऋ. १०.९०.१२; तु., तैआ. ३.१२.६

१६२ तु., तपः पुनातु पादयोः। संध्या-मंत्र १६३ तपो वै शूद्रः, शब्रा. १३.६.२.१०

१६४ ऋ. ७.३३.७ १६५ वही, ७.१०१.१ १६६ वही, १०.११.४; अ. १८.१.२१

१६७ शब्रा. १४.४.१.२४

१६८ प्राणा वै वसवः, तैब्रा. ३.२.३.३; ५.२; (+प्राणा हीदं सर्वं वस्व् आ-ददते, जैउ. ४.२.१.३); दश पुरुषे प्राणा इति होवाचात्मैकादशः। ते यदोत्-क्रामन्तो यन्त्य् अथ रोदयन्ति, तस्माद् रुद्रा इति। जैब्रा. २.७७; प्राणा वा 'आदित्याः'। प्राणा हीदं सर्वम् आ-ददते, जैउ. ४.२.१.९; प्राणा वै विश्वे देवाः, तै. ५.२.२.१; ५.४.६.१; श. १४.२.२.३७; प्राणा वै मरुतः स्व्-आपयः, ऐब्रा. ३.१६

१६९ अ. ९.२.७ १७० तु., धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि, भ-गी. ७.११

१७१ अ. ९.२.११ १७२ तु., ऋ. ८.५१.९ १७३ वही, ८.१०३.१

१७४ वही, ५.३४.६ १७५ वही, १०.३८.३ १७६ ऋ-खि, ३.३.९

१७७ ऋ. ७.८३.१ १७८ वही, ७.५.६

१७९ वि जानीह्य् आर्यान् ये च दस्यवः, वही, १.५१.८

१८० वही, २.११.१८; देखें, टिप्पणी १७३ भी। १८१ वही, ७.८३.१ १८२ वही, १०.६९.६

१८३ वही, ६.६०.६ १८४ वही, ६.३३.३ १८५ अ. ४.३२.१; देखें, टिप्पणी १७४ भी।

१८६ सन्ति ह्य् अर्य आ-शिष इन्द्र आयुर् जनानाम्, ऋ. ८.५४.७

१८७ वही, २.१२.४ १८८ सम्यञ्चोग्निं सपर्यतारा, नाभिम्-इवाभितः, अ. ३०.३.६

१८९ अ. ३.३०.७ १९० तु., तेनाहं सर्वं पश्याम्य्, उत शूद्रम् उतार्यम् अ. ४.२०.८

१९१ ऋ. १०.१३८.३ १९२ वही, १०.१३०.७

१९३ वही, १०.११.३, तु., शुक्र-वर्णाम् उद् उ (ऊं) नो यंसते धियम्, वही १.१४३.७

१९४ वही, १०.४९.७

१९५ वही, ८.१६.६; १०.४८.३; तु., कर्तव्यम् आ-चरन् कार्यम्, अ-कर्तव्यम् अन्-आचरन्। तिष्ठति प्रकृता-चारे स वा 'आर्य' इति स्मृतः, वाचस्पत्यम् ६

१९६ ऋ. ९.७१.५ १९७ वही, ९.७१.६

१९८ हिरण्ययम् उत भोगं ससान, हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णम् आवत्,

वही, ३.३४.९

१९९ सद् इद्द् हि ते तुवि-जातस्य मन्ये, सहः सहिष्ठ! तुरतस् तुरस्य, वही, ६.१८.४

२०० बृहद् रेणुश् च्यवनो मानुषीणाम्, ऐकः कृष्टीनाम् अभवत् सहावा, वही, ६.१८.२ २०१ वही, ६.१८.५

२०२ स हि धीभिर् हव्यो अस्त्य् उग्रः, वही, ६.१८.६ २०३ वही, ६.१८.७

२०४ वही, ९.६३.१४

२०५ तस्माद् इमा उभयत्रापः प्राणेषु चात्मंश् च, शब्रा. ७.२.४.१०

२०६ ऋ. ४.३०.१८ २०७ वही, ४.३०.१७; ५.३०.८ २०८ अ. १९.६१.१

२०९ वही, १९.६२.१ २१० वही, १९.६३.१ २११ वही, १९.६३.४

२१२ ऋ. १.११७.२० २१३ वही, १०.९०.१३

२१४ शरीरम् आद्यं खलु धर्म-साधनम्, कालिदास, *कुमार-सम्भवम्*, ५.३३

२१५ ऋ. १.६३.७ २१६ वही, २.१०.६

२१७ वही, १.३१.१७; ४४.६; ४५.९; ६.१६.६; ७.४४.५; १०.११४.४, इत्यादि।

२१८ वही, ८.२४.२५ २१९ वही, ८.२४.२६ २२० वही, ८.२४.२७

२२१ शरीरं नैव त्यक्ष्यामि, गमिष्ये न दिवं पुनः। शरीरेण विना दूत! पार्थिविन न सं-शयः।। नाहं त्यक्ष्ये शरीरं वै नागमिष्ये दिवं पुनः। पद्मपु. ७२.३-६

२२२ ऋ. १०.१२९.४

२२३ वही, १.५.२; ३.३९.७; ४.४४.१; ५१.१; ५.५६.५; ६.४५.२९, इत्यादि।

२२४ ऋ. १.५.३ २२५ वही, ८.९६.१८ २२६ वही, १.४.८

२२७ वही, ३.२.१२ २२८ वही, ३.६२.२ २२९ वही, १०

२३० वही, ११ २३१ वही, ६.६.२ २३२ वही, ८.१०२.७

२३३ वही, १०.२३.६ २३४ वही, १०.७४.६ २३५ वही, २.११

२३६ वही, १.३१.१८

चतुर्थ अध्याय

२३७ कौब्रा. २६.१७ २३८ शब्रा. ३.४.१.२२; मै. १.६.१२

२३९ इतिहास-पुराणाभ्यां, वेदं सम्-उप-बृंहयेत्। बिभेत्य् अल्प-श्रुताद् वेदो, एष मा प्र-हरिष्यति।।

२४० भागवत पुराण ९.१.१३-१४ २४१ मपु. ११.४०.६६; १२.११-१४

२४२ *विष्णुधर्मोत्तर* पुराण में एक सौ चालीसवें अध्याय तक पूरी कथा बड़े विस्तारपूर्वक, अत्यंत रोचक काव्यशैली में प्रस्तुत की गई है। वह संक्षेप में ऊपर दी गई है। उसका बहुत-सा विस्तृत वर्णन निम्न लिखित विषयों के संबंध में छोड़ दिया गया है, प्रत्येक अमावस्या को पितरों से होनेवाली पुरूरवाः की भेंट और चंद्रामृत द्वारा उनकी तृप्ति, हिमालय और उसमें स्थित अत्रि ऋषि के आश्रम में पुरूरवाः का जाना, हिमालय पर अपने तप से पुरूरवाः द्वारा जनार्दन को प्रसन्न करना, पुरूरवाः द्वारा केशी, आदि असुरों का वध और इंद्र से अर्द्धासन की प्राप्ति, धर्मरक्षा का विशेष ध्यान न रखने से अर्थ और काम का पुरूरवाः से असंतुष्ट होना, द्विज-ग्राम में पुरूरवाः द्वारा भरत के नाट्यशास्त्र की शिक्षाप्राप्ति।

२४३ इन दोनों जन्मों का वृत्तांत *विष्णुधर्मोत्तर* पुराण के एक सौ अड़तालीसवें से एक सौ छप्पनवें अध्यायों तक दिया गया है।

२४४ वाग् वा 'उर्वशी', पुरूरवा असीति प्राण एव, तन् मिथुनम्, मै. ३.१.५

२४५ 'पुरूरवा असी'त्य् उत्तरारणिम्, 'उर्वश्य् असी'त्य् अधरारणिम् जनयति, शब्रा. (काण्व) ४.४.१.१४ २४६ शब्रा. ११.५१.१-१७

२४७ परोक्षम् इव वा एतद् आश्वत्थीम् एवोत्तरारणिम् कुरुष्व, शमीमयीम् अधरारणिम्। परोक्षम् इव वा एतद् आश्वत्थीम् उत्तरारणिम् कुरुष्वाश्वत्थीम् अधरारणिम्, शब्रा. ११.५.१.१५-१६

२४८ प्राणो वै गंधर्वः, जैउ. ३.६.८.३ २४९ य. ३२.१३-१५

२५० मयि देवा दधतु श्रियम् उत्-तमाम्, य. ३२.१६

२५१ मभा., शान्तिपर्व ७२.३; ७३.७.३२; अनुशासनपर्व ६.३१; ११५.६५

२५२ वि-धर्मो-पु. १.१२९-१५६; वायुपु. १.१०६; विपु. ४.१.१२-१६; मपु. १२.१५

२५३ आत्मा ह्य् उप-हूतानां 'वसिष्ठः'. तै. २.६.७.३

२५४ वाग् वै 'वसिष्ठा', शब्रा. १४.९.२.२; शांआ. ९.२

२५५ देखें, टिप्पणी ४२ और १५८

२५६ तु. हिरण्य-वर्णाः शुचयः……आपः, मै. २.१३.२-३। देखें, टिप्पणी १४४ भी।

२५७ तु., यः पार्थिवानि वि-ममे रजांसि, ऋ. १.१५४.१

२५८ यद् वै तद् आत्मानम् ऐट्ट सेडाभवत् तद् इडाया इडात्वम्, मै. ४.२.३

२५९ स इमम् एवात्मानं द्वेधापातयत्। ततः पतिश् च पत्नी चाभवताम्, बृउ. १.४.३

२६० बृउ. ४.३.२३-३०; फ़तहसिंह, *वैदिकदर्शन*, पृ ५१

२६१ इडा खलु वै पाक-यज्ञः, तै. १.७.१.१

२६२ इयम् इडा पाक-यज्ञिया, शब्रा. १.८.१.१६

२६३ मनुर् ह्य् एताम् अग्रे अजनयत, तस्माद् आह 'मानवी' (इडा) इति, शब्रा. १.८.१.२६

२६४ एतदद् ह वै मनुर् बिभयांचकार। इदं वै मे तनिष्ठं यज्ञस्य यद् इयम् इडा पाक-यज्ञिया। शब्रा. १.८.१.१६

२६५ मन् (=अव-बोधन), पा.धातु-पा. ८.९ से व्युत्पन्न।

२६६ मनुर वै यत् किं चावदत् तद् भेषजत्वायैव, मै. २.१.५

२६७ य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद मनस्व्य् एव भवति, नैनं मनुर् जहाति, तैब्रा. २.३.८.३

२६८ ऋ. १.८९.७; ८.१८.२२; १०.६६.१२; ९१.९

२६९ ये विद्वांसस् ते मनवः, शब्रा. ८.६.३.१८

२७० आ-हवनीयो वै 'यज्ञस्य शिरः', शब्रा. ६.५.२.१

२७१ तु., प्राणोदानाव् एवाहवनीयश् च गार्हपत्यश् च, शब्रा. २.२.२.१८

२७२ मण्डलं गार्हपत्यस्य लक्षणं कुर्यात्, मण्डलो ह्य् अयं (पृथिवी) लोकः, काठसं. १५.११

२७३ कर्मेति गार्हपत्यः. जैउ. ४.११.५.१५

२७४ अयं दक्षिणा विश्व-कर्मा, तै. ४ ४.३.१; मै. २.८.१०

२७५ यजुर्वेदाद् दक्षिणाग्निः, षब्रा. ४.१

२७६ अयं (गार्हपत्यः) वावैक आसीन्, नाहवनीयो, न दक्षिणाग्निः, काठसं. १४.१

२७७ षब्रा. ४.१-३

२७८ ऋ. १०.१५४.२; ७.८२.७

२७९ तु., वही. ६.५.४; ३.१८.२

२८० तु., शम् अग्निर् अग्नि-भिः करच्, छं नस् तपतु सूर्यः, ऋ. १.१८.९

२८१ वही, १.१४७.१, तु., वही, ८.८९.७, १०.५९.२

२८२ प्रजा-पतिर् वा इदम् आसीत्, तस्य वाग् द्वितीयासीत्। तां मिथुनं सम्-अभवत्, सा गर्भम् अधत्त, सास्मात् प्रजा-पतेर् अपाक्रमत् सेमा प्र-जा असृजत, काठ. १२.५; २७.१

२८३ ऋ. १०.९५.१; ऐब्रा. ८.२४

२८४ 'हय' का स्त्रीरूप। तु., हयो (भूत्वा) देवान् अवहत्, तै. ७.५.२५.२: शब्रा. १६.६.४.१

२८५ सु-कृतं दैव्यं जनम्, ऋ. १०.६३.९ २८६ वही, १.८४.१८

२८७ प्रतिष्ठा 'गार्हपत्यः', तै. ५.२.३.६; काठ. २०.१ २८८ पा.धातु-पा. ६.५६

२८९ षड् वा अहानि वाग् वि-भज्यते, मै. ३.७.६

२९० ब्रह्मणो वै रूपम् 'अहः', तैब्रा. ३.९.१४.३

२९१ यच् छुक्लं तद् अह्नो रूपम्, मै. ३.६.६; तै. ६.१.३.१; एतद् वा अह्नो रूपं यच् छुक्लम्, तै. २.५.७

२९२ ऋ. १.११३.८ २९३ वही, ४.५८.५; फ़तहसिंह; वैदिक दर्शन

२९४ गति, व्याप्ति, इच्छा, प्र-जन और खादन अर्थवाली 'वी' धातु से निष्पन्न। पा.धातु-पा. २.४१

२९५ तु., इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः, ऋ. १.५७.२

२९६ तु., विदेद् अग्निर् नभो नामाग्ने! अङ्गिर आयुना नाम्ना, शब्रा. ३.५.१.३२; अग्निर् वा आयुः, शब्रा. ६.७.३.७; ७.२.१.१५

२९७ यो वै प्राणः स आयुः, वही, ५.२.४.१०; प्राणो वा 'आयुः' ऐब्रा. २.३८; शांआ. ५.२; कौउ. ३.२ २९८ आयुः पवत आयवे, ऋ. ९.६७.८

२९९ विश्ववस्य यो मन आ-युयुवे, मखो देव आ-युयुवे मखः, वही, १.१३८.१

३०० वही, ७.३४.११ ३०१ वही, १.५७.१ ३०२ वही, ५.५३.११

३०३ मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य, विश्वायोर् विश्वे अ-मृता यथा नः, वही, ४.४२.१; तु., १.१२९.४ ३०४ वही, १.१२८.८

३०५ रयिं नश् चित्रम् अश्विनम् इन्द्रो विश्वायुम्, वही, ९.४.१०

३०६ तु., वही, १.९१.१; ५.६५.६; १०.३५.१४; ७७.७ ३०७ वही. १.१४६.२

३०८ वही, ९.७४.३ ३०९ वही, १.१५१.९ ३१० वही, ७.६८.६

३११ वही, १०.६१.२ ३१२ तौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ, जैब्रा. १.१०९

३१३ प्राणोदानौ वै 'मित्रावरुणौ', शब्रा. १.८.३.१२; ३.६.१.१६; ५.३.५.३४

३१४ ता इमाः प्र-जाः मित्रेण शान्ता, वरुणेन वि-धृताः, काठ. २७.४

३१५ सः विशम् असृजत यान्य् एतानि (देव-जातानि) गणश आ-ख्यायन्ते, वसवो, रुद्रा, आदित्या, विश्वे देवा, मरुत इति। शब्रा. १४.४.२.२४

पंचम अध्याय

३१६ ऋ. ५.४२.१२ ३१७ वही, ७.३३.११ ३१८ वही, ७.९५.६

३१९ वही, २.४१.१६ ३२० वही, ५.४१.१९; १०.३२.४

३२१ शब्रा. ९.४.१.१०; तै. ३.४.७.२; मै. २.१२.२ ३२२ ऋ. ४.२.१८

३२३ वही, १०.६६.८ ३२४ आपः खलु वै विश्वे देवाः, मै. ४.५.१; ३

३२५ ऐआ. २.२.२ ३२६ शब्रा. ८.१.१.६ ३२७ ऋ. ७.८३.४

३२८ तै. ३.१.७.३; ५.४.११.३

३२९ अत्र ते कथयिष्यामि, इतिहासं पुरातनम्। वसिष्ठस्य च संवादं, करालजनकस्य च ।।मभा. शांतिपर्व ३०२.७

३३० ऋ. १०.६२.९; ११ ३३१ भ-गी. १०.६

३३२ फ़तहसिंह, *आदि पुरुष की कल्पना* (*कामायनी-सौन्दर्य* में), *भारतीय समाजशास्त्र के मूलाधार*; डी. आर. क्षीरसागर, *वेद में मनु* (जोधपुर वि. वि. का शोधप्रबंध)

३३३ तै. २.५.९.१ ३३४ तैब्रा. २.३.८.३ ३३५ तु., गवाम् गोत्रम्, ऋ. २.२३.१८

३३६ तु., अन्तः पश्यन्ति रश्मि-भिः, वही, १.१३२.३

३३७ युजे रथं गवेषणं रथम् हरिभ्याम्, वही, ७.२३.३

३३८ वही, १.५६.१ ३३९ वही, ८.५०.१० ३४० वही, ८.१५.४-५

३४१ वही, १.१६४.४१ ३४२ मै. ४.२.४ ३४३ ऋ. १०.१०३.६-७

३४४ वही, १.५१.३; २.२३.१८; १७.१; ३.३०.२१ ३४५ प्राणा 'रश्मयः', तैब्रा. ३.२.५.२

३४६ वाक् प्राणानां ज्योतिर् उत्-तमम्, काठ. २०.११

३४७ ऋचो अक्षरे परमे व्यू-ओमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे नि-षेदुः, ऋ. १.१६४.३९

३४८ प्राणैर् ह्यू अयं पुरुषः सम्-इद्धः, शब्रा. १.५.४.१; देखें, टिप्पणी ७० भी।

३४९ ऋ ७.३३.९ ३५० ब्रह्म ह वै ब्रह्मणं पुष्करे ससृजे, गो. १.१.१६

३५१ शब्रा. ७.४.१.१३ ३५२ वही, ६.४.२.२; ७.४.१.८

३५३ ऋ. २.३५.९ ३५४ अ. १०.२.३३ ३५५ ऋ. ३.५९.८

३५६ पुराणों में वसिष्ठ को मित्र का पुत्र माना गया है। मपु. ६१.२७; ३१; १२६.६; १७१.५६; २०१.२३-२९

३५७ यच् चापो वृत्वा अतिष्ठन् तद् वरुणोभवत्। तं वा वरुणं सन्तं वरुण इत्य् आ-चक्षते परोक्षेण, गो. १.१.७

३५८ ऋ. १०.१८४.२

३५९ मित्रो वै यज्ञस्य स्व्-इष्टं गृह्णाति, वरुणो दुर्-इष्टम्, (मित्रो मित्रं, वरुणो क्रूरम्), काठ. २९.४

३६० मभा., अनुशासन पर्व ८५.९९-१०२ में ...... वरुण-यज्ञ से उत्पन्न होने से वारुण हैं।

३६१ मभा. शांतिपर्व ३३४.३५-३६ ३६२ ऋ. ७.३३.१३

३६३ ब्रह्म पुराण २.१२.३९-४३ ३६४ भागवत पुराण ३.१२.२३

३६५ अ. ११.८.१-२ ३६६ ऋ. २.९.१ ३६७ वही, ७.५५.२

३६८ मभा., अनुशासन पर्व ९३.८४ ३६९ वही, आदिपर्व १७३.१-६

३७० मै. ३.६.७; मै. १.६.४; देखें, टिप्पणी २० भी।

३७१ आत्मा वै प्रजा-पतिः, शब्रा. ४.५.९.२; ६.११; ११.५.९.१

३७२ शब्रा. २.४.४.२ ३७३ तांब्रा. ६.१.१; ५.१; ७.५.१; ६.१; १०.३.१

३७४ काठ. ३४.८

३७५ अग्निम् ईळे पुरो-हितम्, ऋ. १.१.१; देखें, टिप्पणी २६८ भी।

३७६ तांब्रा. १०.१२.६, जैब्रा. ३.१३०

३७७ इडा हि 'गौः', शब्रा. २.३.४.३४; १४.२.१.७

३७८ इडायै ह्य् एतत् पदं यत् सोम-क्रयण्यै, तै. ६.१.८.२

३७९ शब्रा. १.८.६.१२ ३८० मै. ४.२.२

३८१ विश्वे वसवः, विश्वे आदित्याः, विश्वे अंगिरस, विश्वे मरुतः, विश्वे ऋभवः, सभी विश्वे देवाः हैं। ऋ. ६.५१.५; ७.५१.३

३८२ वही, २.३१.४; ५.४१.१९; ४२.१२; १०.६४.१७। ये सब विश्व देवों के सूक्त हैं।

३८३ फ़तहसिंह, *मानवता को वेदों की देन* (में 'आद्या सृष्टि')।

३८४ ऋ. ७.९५.१; तु., दस्युओं के आयसी पुरः, वही, २.२०.८

३८५ वही, ८.२६.१८ ३८६ वही, ६.६१.७

३८७ वही, १०.१०४.८; टिप्पणी ३८३ भी। ३८८ वही, १०.१११.८

३८९ वही, १०.७५.१ ३९० वही, ८.९६.२ ३९१ वही, १०.७५.८

३९२ वही, १.३१.४ ३९३ वही, ५.५३.२

३९४ तु., ताव् एवैतौ स्तोमाव् अभवतां पराङ् च पूर्वाङ् च। तौ प्राणापानौ, त अहोरात्रे, तौ पूर्वापरपक्षौ, ताव् इमौ लोकौ, ताव् इन्द्राग्नी, तौ मित्रावरुणौ, ताव् अश्विनौ, तद् दैव्यं मिथुनं यद् इदं किं च, द्वंद्वं तद् अभवताम्, जैब्रा. ३.३३४

३९५ ऋ. १.१८४.१; १८५.९ ३९६ वही, ८.७८.४ ३९७ वही, ७.१८.१९

३९८ वही, ९ ३९९ वही, १७ ४०० वही, ५ ४०१ मन्वन्तराणि सद्धर्म

४०२ ऋ. ७.८३.८ ४०३ जैउ. ४.११.५.१ ४०४ ऋ. ७.८३.७

४०५ जैउ. ४.११.४.६ ४०६ ऋ. ७.३३.३

४०७ इंद्रोवृणीता वसिष्ठान्, वही, ७.३३.२; टिप्पणी ४७७ भी।

४०८ दैवी पूर्तिर् दक्षिणा, वही, १०.१०७.३

४०९ वीर-जननं वै 'स्तोमः', तांब्रा. २१.९.३

४१० गोब्रा. २.३.२३ ४११ जैब्रा. २.२१७ ४१२ वही, १.१५०; ३.३६

४१३ तांब्रा. ४.७.३; ८.२.४ ४१४ ऋ. ३.३०.२२; ३१.२२; ३२.१७; ३३.११; ३४.११; ३५.११

४१५ ऋ. ३.३२.४, तु., इन्द्रस्य शर्धो मरुतो य आसन्। ४१६ वही, ३.३२.१६

४१७ अतारिषुर् भरता गव्यवः सम् अभक्त विप्रः सु-मतिं नदीनाम्, ऋ. ३.३३.१२ ४१८ वही, ३.३४.१ ४१९ वही, ३.३४.२

४२० अविन्दज् ज्योतिर् बृहते रणाय, वही, ३.३४.४

४२१ वही, ३.३५.९ ४२२ वही, ३.३९.५

४२३ वसिष्ठासः पितृ-वद् वाचम् अक्रत, देवाँ ईडाना ऋषि-वत् स्वस्तये, वही, १०.६६.१४

४२४ वही, १.५१.२ पर सा-भा. 'उरु भान्ती'ति नैरुक्त-व्युत्पत्त्या ऋभवोत्र मरुत उच्यन्ते।

४२५ विश्वे देवा अजहुर् ये सखायो, मरुद्भिर् इन्द्र सख्यं तेस्तु, वही, ८.८६.७; मरुतो हैनं नाजहुः, ऐब्रा. ३.२०

४२६ त्रिः षष्टिस् त्वा मरुतो वावृधाना, उस्रा-इव राशयो यज्ञियासः, ऋ. ८.९६.८; तु., स्व-तवांश् च प्र-घासी च, सां-तपनश् च गृह-मेधी च, क्रीडी च शाकी चोज्-जेषी च, य. १७.८५; धुनिश् च तान्तश् च, तैआ. ४.२४

४२७ ऋ. ८.९७.१० ४२८ वही, ८.९६.११ ४२९ वही, ८.९७.१२

४३० वही, ४.१२.१८ ४३१ वही, १०.८५.३७ ४३२ वही, १०.८५.४५

४३३ टिप्पणी ७०; तु., टिप्पणी ३२४; पशवः, मै. ३.८.४

४३४ ऋ. १०.८५.४७ ४३५ वही, १०.८५.४६

सप्तम अध्याय

४३६ शब्रा. ११.५.१.१-१७ ४३७ ऋ. १०.९५.१८

४३८ ऊर्ध्व-मूलम् अधःशाखम्, अश्वत्थं प्राहुर् अ-व्य्-अयम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस् तं वेद स वेद-वित्। भ-गी. १५.१

४३९ ततः (अश्वस्य) शकाच्छ्वसी (शकृतः श्वसी) अजायत, तत् पार्श्वान् मध्याच् चाश्वसद्, यत् पार्श्वान् मध्याच् चाश्वसत् तद् अश्वोत्थोजायत, तस्य वेदो मूलं, पर्णानि छन्दांसि, काठसं. १८:१-३

४४० देखें, टिप्पणी १५ ४४१ ऐब्रा. २.१.६; तै. ५.६.६.१; मै. ३.१.९; कौब्रा. ७.९; ११.८; १७.२

४४२ तु., वीर्यं वै छन्दांसि, तै. ५.१.६.४; तैआ. ५.३.४; ब्रह्म वै छन्दांसि, तै. ५.६.६.१; मै. ३.१.२; ७; २.३; ३.५; ६.३

४४३ तु., सर्वैर् वै छन्दोभिर् इष्ट्वा देवाः स्वर्गं लोकम् अजयन् ऐब्रा. १.९

४४४ यद् (अग्नेः) रेता आसीत् सोश्वत्थ आरोहोभवत्, यद् उल्बं सा शमी। तस्माद् एतौ यज्ञावचरौ, पुण्यजन्मानौ हि, मै. १.६.१२

४४५ देवव्रतं वै घृतम्, तांब्रा. १२.२६; बहुदेवत्यं वै घृतम्, कौब्रा. २०.४; सर्वदेवत्यं वै घृतम्, कौब्रा. २१.४

४४६ ऋ. १.१८.८ ४४७ वही, १०.४६.४ ४४८ शब्रा. १४.४.२.२४

४४९ ऋ. १०.६६.१२-१३

४५० शब्रा. २.५.१.१२; तु., जैब्रा. २.१७५; ३.२०५; शब्रा. २.५.२.६-७

४५१ मरुतां वा एतद् ओजो यद् अश्वत्थः, तै. २.३.१.५-६; तु., ऐब्रा. ७.३२

४५२ मारुतोश्वत्थः, तै. ३.५.७.२

४५३ विशो वै वीर्यम् अपाक्रमत् तद् अश्वं प्राविशत्, काठ. ११:६

४५४ गर्भोपनिषद् १.५

४५५ त्रिणाचिकेतस् त्रिभिर् एत्य संधिं, त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मयज्ञं देवम् ईळ्यं विदित्वा नि-चाय्येमां शान्तिम् अत्यंतम् एति या।। कठ-उ. १.१७

४५६ तं दुर्दर्शं गूढम् अनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्म-

योगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशौकौ जहाति ।।कठ-उ. २.१२

४५७ तैउ. २.४

४५८ तस्य (विज्ञानमयस्यात्मनः) ·····योग आत्मा, तैआ. ८.४.१; तैउ. २.४.१

४५९ ऋ. १०.१३९.४; ५ ४६० ऋ. १०.१२३

४६१ तु., यमस्य योना, ऋ. १०.१२३.६

४६२ तु., सोम एकेभ्यः पवते, घृतम् एक उपासते। येभ्यो मधु प्र-धावति, ताँश् चिद् एवापि गच्छतात् ।ऋ. १०.१५४.१

४६३ ऋ. १०.१३.२-३

४६४ तयोर् इद् घृतवत् पयो, विप्रा रिहन्ति धीतिभिः । गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे। ऋ. १.२२.१४

४६५ उपद्रवं गन्धर्वाप्सरेभ्यः (प्रजापतिः प्रायच्छत्) जैउ. १.३.२.१

४६६ त्वया वयम् अप्-सरसो, गन्धर्वांश् चातयामहे। अजश्रृंग्य् अज रक्षः, सर्वान् गन्धेन नाशय। अ. ४.३७.२

४६७ वही, ४.३७.११ ४६८ वही, ४.३७.१२ ४६९ वही, ४.३८.१-२

४७० वही, ४.३८.१४

४७१ यस् ते गन्धः पृथिवि! सं-बभूव······ । यं गन्धर्वा अप्सरसश् च भेजिरे ····। वही, १२.१.२३

४७२ शब्रा. ९.४.१.४ ४७३ जैब्रा. ३.३४८ ४७४ तै. ३.४.८.४

४७५ मेधाम् अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं, ब्रह्म-जूताम् ऋषि-ष्टुताम्। प्र-पीतां ब्रह्म-चारिभिर्, देवानाम् अवसे हुवे। अ. ६.१०८.२

४७६ शब्रा. ९.४.१.६-१२ ४७७ तु., ऋ. १०.१२९.४ ४७८ अ. २.२.५

४७९ स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः, मै. ३.७.३; योषित्कामा वै गन्धर्वाः, शब्रा. ३.२.४.३; तु., ऐब्रा. १.२७; काठ. २४.१

४८० अथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश् चरन्ति, शब्रा. ९.४.१.४

४८१ रूपम् इति गन्धर्वा, गन्ध इत्य् अप्सरसस्, तं यथोपासते तद् एव भवति, शब्रा. १०.५.२.२०

४८२ देखिए, *निघण्टु* में 'रूप'-नाम। ४८३ शब्रा. ९.४.१.१०

४८४ अ. २.२.३ ४८५ ऐब्रा. ८.८; मैसं. ३.८.४

४८६ काठसं. २०.१०; क. ३१:१२; तैआ. १.२६.४

४८७ तै. १.६.८.१; जैब्रा. १.४; तैब्रा. ३.२.४.१; शब्रा. ७.५.२.१८

४८८ शब्रा. १०.५.४.१५

४८९ शब्रा. (काण्व) ४.८.२.२; शब्रा. ३.८.२.४; जैउ. ३.१०.९; तैआ. १.२६.५

४९० आपो वै मरुत:, ऐब्रा. ६.३०; कौब्रा. १२.८; शब्रा. ६.४.१.९

४९१ इंद्रो गंधर्वस् तस्य मरुतोप्सरस ओजो नाम, मै. २.१२.२

४९२ देखें, टिप्पणी ४७७; आपो वा इदम् अग्रे सलिलम् आसीत्, तैब्रा. १.१.३-५; जैउ. १.१८.१.१

४९३ आप इदम् आसन् सलिलम् एव। स प्रजापतिर् एक: पुष्करपर्णे सम्-अभवत्। तस्यान्तर् मनसि काम: सम्-अवर्ततिदं सृजेयम् इति। तैआ. १.२३.१

४९४ देखें, टिप्पणी १४१

४९५ प्राणा उभयतो वैश्वानरा:, काठ. २८.१

४९६ कामो वै वैश्वानर:, मै. ३.१.१०; ३.२०

४९७ प्राणो वै वाक्, मै. ३.२.८; वाक् प्राणानाम् उत्तमा, काठ. १९.१०; क. ३०.८

४९८ समुद्र-इव हि काम:। नैव हि कामस्यान्तोस्ति, न समुद्रस्य, तैब्रा.२.२.५.६

४९९ शब्रा. ९.४.१.१२

५०० मनसि वै सर्वे कामा: श्रिता:, ऐआ. १.३.२

५०१ कामा विश्वे देवा:, काठ. १३.८; प्राणा वै विश्वे देवा:, तै. ५.२.२.१; ४.६.१; मै. १.५

५०२ कामा वै वसोर् धारा, तै. ५.४.८.१ ५०३ ऋ. १०.८५.९; कौब्रा. १८.१

५०४ ऐब्रा. ४.७ ५०५ ऋ. १०.८५.४१ ५०६ ऋ. १०.८५.४०

५०७ तस्य प्रियम् एव शिर:। मोदो दक्षिण: पक्ष:। प्रमोद उत्तर: पक्ष:। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तैआ. ८.५.१; तैउ. २.८.१

५०८ तु., सोग्निम् एवाग्रेसृजत, काठ. ७.५; अग्रिर् ह वै तम् अग्निर् इत्य् आ-चक्षते परोक्षम्, शब्रा. ६.१.१.११; २.२.४.२

५०९ शब्रा. ३.२.२.१३ ५१० मै. ३.६.९ ५११ मै. २.१.५; तु., तांब्रा. २३.१६.७

५१२ तै. ३.४.२.२; काठ. १३.१२ ५१३ काठ. ३०.१

५१४ अथ यस्य देवयजनस्याहवनीयाद् अन्या: प्राचीर् आपो धावन्ति, गार्हपत्याद् अन्या: प्रतीची:, मै. ३.८.४

५१५ शम इत्य् आहवनीय:, कर्मेति गार्हपत्य:, जैउ. ४.११.५.१५

५१६ प्राणो वै गार्हपत्यः, जैब्रा. १.६१

५१७ प्राणोदानाव् एवाहवनीयश् च गार्हपत्यश् च, शब्रा. २.२.२.१८

५१८ पर्जन्य-वृद्धं महिषं, सूर्यस्य दुहिताभरत्। तं गन्धर्वा प्रत्य् अगृभ्णन्, तं सोमे रसम् आ दधुः। ऋ. ९.११३.३

५१९ ऋ. ५.५४.११ ५२० मै. २.१२.२

५२१ सूर्योग्नेर् योनिर् आ-यतनम्, तैब्रा. ३.९.२१.२; ३

५२२ स यद् आह स्वरोसीति, सोमं वा एतद् आह, एष ह वै सूर्यो भूत्वा अमुष्मिन् लोके स्वरति, गो. १.५.१४

५२३ प्र वोच्छा रिरिचे देव-युष्, पदम् एको रुद्रेभिर् याति तुर्वणिः। ऋ. १०.३२.५ ५२४ वही, १०.३२.६

५२५ ऋतस्य सानाव् अधि चक्रमाणा, रिहन्ति मध्वो अमृतस्य वाणीः। ऋ. १०.१२३.३

५२६ ऋतेन यन्तो अधि सिन्धुम् अस्थुर्, विदद् गन्धर्वो अमृतानि नाम। ऋ. १०.१२३.४

अष्टम अध्याय

५२७ ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत् तद् आत्मानम् एवावेद्, 'अहं ब्रह्मास्मी'ति। तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्……तद्द् हैतत् पश्यन्न् ऋषिर् वामदेवः प्रति-वेदे,हं मनुर् अभवं, सूर्यश् चेति, बृउ. १.४.१०

५२८ ऋ. ४.३०.१४

५२९ काठसं. ३६.१४; तु., जैब्रा. ३.१५८; शब्रा. १२.७.१.६; जैब्रा. ३.१५८

५३० आ कलशेषु धावति, श्येनो वर्म वि-गाहति। ऋ. ९.६७.१४; तु., ऋ. ९.९६.६; १९

५३१ वही, ९.६७.१५, आदि। ५३२ अ. ३.३.४; ६.४८.१; ७.४२.२

५३३ तु., का मर्यादा वयुना कद्द् ह वामम्, अच्छा गमेम रघवो न वाजम्। ऋ. ४.२.१२

५३४ तु., वही, १.१६४.१; ७; ६.१३.२; ८.२७.११; ८३.४-५; १०.१४०.३; ५, आदि।

५३५ वही, ४.१६.१८

५३६ तं देवा अब्रुवन्न्, 'अयं वै नः सर्वेषां वाम' इति, तस्माद् वाम-देवस्, तस्माद् 'वाम-देव' इत्य् आ-चक्षत एतम् एव (प्राणम्) सन्तम्, ऐआ. २.२.१

५३७ स एतम् एव सीमानं वि-दार्य एतया द्वारा प्रापद्यत।……स एतम् एव पुरुषं ब्रह्म ततम् अपश्यत्, 'इदम् अदर्शम्' इति, तस्माद् इदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम, ऐउ. ३.१४

५३८ तांब्रा. ९.९.४; तैब्रा. ३.२.५२; जैउ. ३.२.५.९ ५३९ तु., ढाई अक्षर वेद के, पृ. १००

५४० निश् चर्मणो गाम् अरिणीत धीतिभिर् या जरन्ता युवशा ता-कृणोतन। ऋ. १.१६१.७ ५४१ वही, १.९६.६; १५१.७

५४२ तु., यद् इन्द्र मन्मशस् त्वा नाना हवन्त ऊतये, वही, ८.१५.१२

५४३ ये पायवो मामतेयं ते अग्ने!, पश्यन्तो अन्धं दुरिताद् अरक्षन्, वही, १.१४७.३ ५४४ वही, १.१३९.११

५४५ ये स्थ त्रय एकादशास् त्रयश् च त्रिंशच् च, त्रयश् च त्री च शता च, त्रयश् च त्री सहस्रा, काठसं. ३५.६

५४६ एका वाव कृत्स्ना देवता, अर्ध-देवता एवान्याः, जैउ. ३.१.१.१-२

५४७ कतमैका देवता? प्राण इति, जैब्रा. २.७७

५४८ काठ. २१.१; शब्रा. २.२.२.१५; ९.५.१.६८; तैआ. ५.८.१२; मै. १.६.२, जैउ. ४.११.१.११ ५४९ ऋ. ८.५८.२

५५० अग्निर् अवमो देवतानां, विष्णुः परमः, तै. ५.५.१.४

५५१ अग्निर् वै देवानाम् अवरार्ध्यो, विष्णुः परार्ध्यः, कौब्रा. ७.१

५५२ अग्नाविष्णू आत्मा, तै. २.३; ११.१ ऋ. १.१६२.२

५५३ अग्निर् वा अश्वः, शब्रा. ३.६.२.५; तु., शब्रा. ६.३.३.२२

५५४ अथ योसौ (सूर्यः) तपत्य्, एषोश्वः श्वेतो रूपं कृत्वा प्रति-चक्राम, ऐब्रा. ६.३५ ५५५ ऋ. १.१४६.४ ५५६ काठ. ४.१६; तु., १९.८

५५७ अग्निः सर्वा देवताः, काठ. १२.१; विष्णुः सर्वा देवताः, ऐब्रा. १.२५

५५८ इन्द्रः सर्वा देवता, इन्द्रश्रेष्ठा देवाः, शब्रा. ३.४.२.२

५५९ इन्द्रः सोमस्य योनिः, मै. ३.७.८

५६० सर्वदेवत्यो वै सोमः, काठ. २७.१; क. ४२.१

५६१ तु., बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते, तैआ. ५.७.११

५६२ तम् इद् वोचेमा विदथेषु शं-भुवं, मंत्रं देवा! अनेहसम्। ऋ. १.४०.६

५६३ वही, १.१४७.४ ५६४ मै. ३.१.१; जैब्रा. १.८८; शब्रा. ७.१.१५

५६५ एतच् चन त्वो वि चिकेतद् एषां, सत्यो मन्त्रः कवि-शस्त ऋघावान्।

त्रिर्-अश्रिं हन्ति चतुर्-अश्रिर् उग्रो, देव-निदो ह प्रथमा अजूर्यन्।।
ऋ. १.१५२.२

५६६ अमीमेद् वत्सो अनु गाम् अपश्यद्, विश्व-रूप्यं त्रिषु योजनेषु।
वही, १.१६४.९ ५६७ वही, १.१६४.१०

५६८ ऋचो अक्षरे परमे व्य्-ओमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे नि षेदुः।
वही, १.१६४.३९ ५६९ वही, १.५३.११ ५७० वही, १०.७७.७

५७१ शब्रा. २.५.१.१२; तु., जैब्रा. २.१७५; ३.२०५; शब्रा. २.५.२.६; २७; ३.९.१.१७; ४.३.३.६

५७२ सप्त-गणा वै मरुतः, तै. २.२.५.७; ११.१; ३.१.६; तैब्रा. १.६.२.३; २.७.२.२

५७३ ऋ. १.१६४.७ ५७४ वही, १०.१२५.३; ४ ५७५ वही, ६

नवम अध्याय

५७६ ऐआ. २.१.६ ५७७ पिङ्गलछन्दःसूत्र, पृ. ५६; निरु. ७.१-१५

५७८ 'सप्त हस्तास' इति सप्त छन्दांसि, तस्मात् सप्तर्चिषः सप्त समिधः। सप्तेमे लोका येषु चरन्ति प्राणा, गुहा-शया नि-हिता सप्त-सप्त।
काठसं. २५:२-४

५७९ ऋ. ५.५२.१६; १०.७८.६; ८.९४.३, आदि। ५८० प्राणा वै मारुताः, शब्रा. ९.३.१.७

५८१ ऐब्रा. ३.१६; तु., जैब्रा. १.३६२; तैआ. २.२८.१ ५८२ तांब्रा. ६.९.२६

५८३ मै. १.१०.९; ४.८.८; काठसं. ३६.३ ५८४ शब्रा. ८.२.२.८

५८५ ऋ. १०.११४.९; कश् छन्दसां योगम् आ वेद धीरः

५८६ एकः सु-पर्णः स समुद्रम् आ विवेश, स इदं विश्व भुवनं वि चष्टे। तं पाकेन मनसापश्यम् अन्तितस्, तं माता रेळि स उ रेळि मातरम्।
वही, ४ ५८७ वही, १०.११४.५

५८८ वही, १०.११४.६; २.१८.१ ५८९ कौब्रा. ७.९; ११.८; १७.२

५९० प्राणा वा इतराणि छन्दांसि, वाग् अनु-ष्टुप्, मै. ३.१.९

५९१ जैब्रा. १.३१६; २५४ ५९२ काठ. ३४.१४ ५९३ मै. ३.११.६

५९४ तांब्रा. ६.९.१६ ५९५ काठ. ८.१; तांब्रा. २.१४.२; २२.४.३

६९६ जैब्रा. २.२२७; ३:३०५ ५९७ तांब्रा. ४.४.४ ५९८ जैब्रा. ३.३२४

५९९ ऐब्रा. १.५; २८; कौब्रा. १७.२.९; गोब्रा. २.५.५ ६०० काठ. १.७

६०१ शब्रा. १०.५.२.२० ६०२ वाग् वै गायत्री, मै. १.४.३; काठसं. २३.५

६०३ शब्रा. १.३.४.६ ६०४ गायत्र्य् एव भर्गः, गो. १.५.१५

६०५ प्राणा उ पावमान्य:, जैब्रा. १.२७५ ६०६ अ. १९.७१.१ ६०७ जैब्रा. ३.१२

६०८ काठसं. ३४.८ ६०९ शब्रा. १४.८.१५.७ ६१० ऐआ. २.३.१

६११ ऐआ. २.१.४; शब्रा. १०.१.२.५ ६१२ षब्रा. १.५ ६१३ बृदे. ७.१३१-१३२

६१४ प्राणायामाच् छक्तिबोध:, प्राणायामान् मनोन्मनी। आनन्दो जायते चित्ते, प्राणायामी सुखी भवेत्। घेरण्डसंहिता ५.५७

६१५ घेरण्डसंहिता, उपदेश ४ 'प्रत्याहार' और ५ 'प्राणायाम'।

६१६ ऋषिछन्दोदैवतादिज्ञानं, यज्ञादिषु यच् छ्रुतम्। तद् आ-श्रित्य प्राण-दृष्टिर् विहितात्रेति गम्यताम्।। बृदे. ७.१३१

६१७ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्, देवात्मशक्तिं स्वगुणैर् नि-गूढाम्। य: कारणानि निखिलानि तानि, कालात्मयुक्तान्य् अधितिष्ठत्य् एक:।। श्वेउ. १.३

६१८ ते ये च ह वै गोतमाद् ऋषय: पराञ्चो ये चार्वाञ्चस् ते गोतमम् एकर्षिम् उभय उपासते, जैब्रा. ३.४४

६१९ ऐब्रा. २.३६

६२० अग्निं वा अनु अन्या देवता, इंद्रम् अन्व् अन्या:, क. ४८.१६

६२१ जैउ. ३.१.१.१-२ ६२२ देखिए, फ़तहसिंह, *भावी वेदभाष्य के संदर्भ-सूत्र*, पृ. ८

६२३ मनो वै मनुष्यधुर्, आपो देवधुर:। जै. १.२७

६२४ वही, १.२७० ६२५ शब्रा. ४.३.१.२२

६२६ मै. १.५.६.१० काठसं. ७.५; ३.४.२; ३६.२; गो. २.२.१ ६२७. शब्रा. १.१.३.२

६२८ ऐआ. २.३.३; शब्रा. १.८.३.१२; ३.६.१.१६; ५.३.५.३४; ९.५.१.५६; मै. १.१०.९; ताब्रा. ९.१०.५.९

६२९ तु., अर्थेप्सव: खल्व् ऋषयश् छन्दोभिर् देवता: पुरा।
अभ्यधावन्न् इति छन्दो-मध्ये त्व् आहुर् महर्षय:।। बृदे. ७.१३८

६३० नवाक्षरम् असुराणाम् अवमं छन्द आसीत्, दशाक्षरं परमम्। एकाक्षरं वै देवानाम् अवमं छन्द आसीत्, सप्ताक्षरं परमम्। तांब्रा.१२.१३.२७

६३१ गो. १.७; तु., तेनान्दत्, गो. १.१; छन्दांसि छन्दयतीति वा, दैब्रा. ३.१९

६३२ तु., तमो-मयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्ल-वर्णम् घेरण्डसंहिता ५.५१

६३३ वृत्रो वै सोम आसीत्, शब्रा. ३.४.३.१३; ९.४.२; ४.२.५.२५; सोमो वृत्र:, काठसं. २४.९; २९.१: क. ३८.२· ४५.२

६३४ ऋ. १.९२.६. तु., दयानन्द-भाष्य।

६३५ देवासुराः छन्दःस्व् अधि संयत्ता आसन्, जैब्रा. १.१९६

६३६ जैब्रा. १.१९८; ताब्रा. १२-१२.३१ ६३७ शब्रा. १४.४.१.२

६३८ जैउ. ३.६.७.३; शब्रा. ६.८.१.१ ६३९ शब्रा. ३.४.४.३; ऐब्रा. १.२३

६४० शब्रा. २.४.२.५ ६४१ काठसं. २०.६; क. ३१.८

६४२ तै. २.५.४.१ ६४३ जै. १.३२२

६४४ देखिए, फ़तहसिंह, *भावी वेदभाष्य के संदर्भ-सूत्र*, पृ. २-७ ६४५ मै. ३.८.३

६४६ ऋ. १०.१२४.५ ६४७ वही, ७.१.१०; ९८.५

६४८ वही, १०.९९.२; देखें, टिप्पणी १५३ भी।

६४९ गो. १.२८; एवम् एवोत्तरोत्तरयोगात् तोकं-तोकं प्र-शाध्वम्।

६५० ऋ. १.३०.७ ६५१ वही, १०.९४ सूक्त ६५२ वही, १.५६.१

६५३ युक्ता ह्य् अस्य हरयश् शता दशेति सहस्रं हैवादित्यस्य रश्मयः, जैउ. १.१४.३.५

६५४ ऋ. १.६२.१३; काठसं. २८.९; मै. ४.७.४; क. ४४.९; तै. ६.५.९.१

६५५ पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, षब्रा. १.१

६५६ अहोरात्रे वा अस्य हरी, जै. २.७९

६५७ ऋक्सामे वै हरी, शब्रा. ४.४.३.६

६५८ एतौ वै देवानां हरी यद् दर्श-पूर्णमासौ, तै. २.५.६.२-३

६५९ इमे वै हरी वि-पक्षसा तै. ३.९.४.२

६६० प्राणो वै हरिः, कौब्रा. १७.१

६६१ ऋ. १०.१९१.४ ६६२ वही, १०.१४.१६ ६६३ वही, १०.१३०.५

दशम अध्याय

६६४ सत्यं तद् इन्द्रो दश-भिर् दश-ग्वैः, सूर्यं वि-वेद तमसि क्षियन्तम् ऋ. ३.३९.५

६६५ इन्द्रो मधु सं-भृतम् उस्रियायां, पद्-वद् वि-वेद शफवन् नमे गोः।
गुहा-हितम् गुह्यं गूळ्म् अप्-सु, हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान्।। वही, ६

६६६ वनस्-पतिर् अव-सृजन्न् उप स्थाद्, अग्निर् हविः सूदयाति प्रधी-भिः।
त्रिधा सम्-अक्तं नयतु प्र-जानन्, देवेभ्यो दैव्यं शमितोप हव्यम्।
वही, २.३.१० ६६७ वही, ३.२६.८

६६८ तु., आ च परा च चरति प्र-जानन्। वही, १०.१७.६

६६९ दधि-क्रावा प्रथमो वाज्य् अवग्रि रथानां भवति प्र-जानन्। सम्-विदान उषसा सूर्येणादित्ये-भिर् वसु-भिर् अंगिरो-भिः ।। वही, ७ ४४.४

६७० इडायास् त्वा पदे वय नाभा पृथिव्या अधि। जात-वेदो नि धीमह्य् अग्ने! हव्याय वोळ्वे ।। वही, ३.२९.४

६७१ वही, ३.३५.४; ८ ६७२ प्राणो वै जात-वेदाः। स जातानां वेद, ऐब्रा. २.२९

६७३ प्राण एवेन्द्रः, शब्रा. ६.१.२.२८; १२.९.१.१४

६७४ प्राणः सोमः, कौब्रा. ९.६; शबा. ७.३.१.२; प्राणो हि सोमः, काठ. ३५.१६

६७५ तम् इन्द्र उवाच, प्राणो वा अहम् अस्मि ऋषे! प्राणस् त्वम्। प्राणः सर्वाणि भूतानि, ऐआ. २.२.३

६७६ प्राणौ वै सोमो राजा, जैब्रा. १, ३६१, शब्रा. ७.२.१,४५ ६७७ ऋ. ६.४५.४

६७८ अस्माकं सु-प्र-मतिं वावृधाति, वही, १.३३.१

६७९ या ते अग्ने! पर्वतस्येव धारा, सश्चन्ती पीपयद् देव! चित्रा। ताम् अस्मभ्यम् प्र-मतिम् जात-वेदो!, वसो! सु-मतिम् विश्व-जन्याम्। वही, ३.५७.६

६८० त्वम् अग्ने! प्र-मतिस् त्वं पितासि नस्, त्वं वयस्-कृत् तव जामयो वयम्। वही, १.३१.१०

६८१ आपिः पिता प्र-मतिं सोम्यानाम् वही, १.३१.१६

६८२ क्रतु-प्रावा जरिता शश्वताम्, अव इन्द्र इद् भद्रा प्र-मतिः सुता-वताम्। पूर्णम् ऊधर् दिव्यं यस्य सिक्तय, आ सर्व-तातिम् अदितिं वृणीमहे। वही, १०.१००.११

६८३ भद्रा वस्त्रा समन्या वसानो, महान् कविर् नि-वचनानि शंसन्, वही, ९.९७.२

६८४ अग्नेर् ऋग्वेदः शब्रा. २.१५.८.३,

६८५ तस्य अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः। तस्य ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, तैआ. ८.४.१ ६८६ वेदो ब्रह्म, जैउ. ३०४.११; ४.३

६८७ तैउ. २.१ ६८८ वही, ३.५

६८९ वि-ज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुते। तैउ. २.५

६९० तैआ. ८.४.२ ६९१ गो. १.२.१६ ६९२ तैब्रा. ३.१०.११.३

६९३ परिमिता वा ऋचः, परिमितानि सामानि, परिमितानि यजूंष्य्, अथ

एतस्यैवान्तो नास्ति यद् ब्रह्म, तै. ७.३.१.४

६९४ देखिए, फतहसिंह, *मानवता को वेदों की देन में* प्रथम अध्याय, *आद्या सृष्टि।*

६९५ तद् यद् अब्रवीद् अथ अर्वाङ् एनम् एतासु अप्-स्व् अन्व्-इच्छ इति तद् अथर्वाभवत् तद् अथर्वणोथर्वत्वम्। गो. १.१.४

६९६ देखें, टिप्पणी १४१ ६९७ देखें, प्राण-सूक्त अ. ११.४

६९८ इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्, वही, १२.१.३७

६९९ इत्या च मे, गतिश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्, य. १८.१५

७०० पुरा नवं भवतीति पुराणम्, निरु. ३.१९

७०१ गो. १.२३ ७०२ अ. १०.८.१० ७०३ ऋ. १.१६४.३९; गो. १.१४

७०४ देखें, टिप्पणी ५०१ ७०५ वैश्वदेवीर् आपः, मै. ४.५.२

७०६ शब्रा. १०.४.१.९ ७०७ शब्रा. १४.४.२.२४

७०८ ऐब्रा. ३.१६; जैब्रा. १.३६२; तैआ. २.१८.१ ७०९ जैउ. ४.२.१.९,

७१० जैब्रा. २.७७; तैब्रा. ३.३३.५.२; जैउ. ४.२.१.३ ७११ जैब्रा. २.१३३

७१२ तु., मूर्धानम् अस्य सं-सीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्काद् ऊर्ध्वं प्रैरयत् पवमानोधि शीर्षतः। अ. १०.२.२६

एकादश अध्याय

७१३ विश्व-स्वं मातरम् ओषधीनां, ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्। शिवां स्योनाम् अनु चरेम विश्वहा। अ. १२.१.१७

७१४ अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम्, अदितिः माता स पिता स पुत्रः। विश्वे देवा अदितिः पञ्च-जना, अदितिर् जातम् अदितिर् जनित्वम्। ऋ. १.८९.१०

७१५ वही, ७.८२.१० ७१६ वही, ८.१०१.१५ ७१७ वही, ४.५५.३

७१८ दितिः शूर्पम्, अदितिः शूर्प-ग्राही। अ. ११.३.४

७१९ प्रजा-पतिर् वै मनः कौब्रा. १०.१.,२६.३, तैब्रा. ३.७.१.२, शब्रा. ४.१.१.२२, शब्रा. १.१.१

७२० सोमेनादित्यास् तिष्ठन्ति, ऋ. १०.८५.१ ७२१ सत्येनोत्तभिता भूमिः, वही

७२२ ब्रह्म वा ऋतम्, शब्रा. ४.१.४.१०, जैउ. ३.६.८.५

७२३ आत्मा वै प्रजा-पतिः, शब्रा. ४.२.५.३; आत्मैव शरीरे प्रजा-पतिः, शांआ. ६.२, कौउ. ४.२; प्रजापतिर् ह्य् आत्मा, शब्रा. ६.२.२.७२; ब्रह्म वै प्रजा-पतिः,

शब्रा. १३.६.२.८

७२४ श्रीर् वा राष्ट्रस्याग्रम्, शब्रा. ३.८.९.७

७२५ अ. १२.१.५९; ५२; ४१; ३६; २९; २२; १७; १४; १३; ११; ७

७२६ अदितिर् अस्य् उभयतः शीर्ष्णी, सा नः सु-प्राची सु-प्रतीची भव। तै. १.२.४.२; मै. १.२.४; काठ. २.५; शब्रा. ३.२.४.१६-१७

७२७ यत् तद् आदत्त तद् अदितिः, काठ. ८.२; सर्वं वा अत्तीति तद् अदितेर् अदितित्वम्, शब्रा. १०.६.५.५

७२८ क्व स्विद् अस्याः परमं जगाम, ऋ. ८.१००.१०

७२९ शब्रा. ५.४.१.१५, तु., तै. १.८.१२.४

७३० अभूद् वा इदं तद् भूमेर् भूमित्वम्, जैब्रा. २.२४४; अभूद् वा इयं प्रति-ष्ठा तद् भूमिर् अभवत्, शब्रा. ६.१.१.१५,३,७

७३१ सत्तायां मङ्गले वृद्धौ निवासे व्याप्ति-सम्पत्तौ। अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः। काशकृत्स्न धातुपाठ व्याख्या की चन्नवीर टीका।

७३२ ऋ. ६.४.५

७३३ 'गातुं वित्त्वा' इति यज्ञं वित्त्वा इत्य् एतद् आह, शब्रा. १.९.२.२८; ४.४.४.१३

७३४ गातुम् अविदामेति तद् आसां गोत्वम्, मै. ४.२.१२; यमो नो गातुं प्रथमो विवेद, नैषा गव्यूतिर् अप-भर्तवा उ। ऋ. १०.१४.२

७३५ ऋ. १०.१४.२ ७३६ शब्रा. ७.२.१.११ ७३७ तै. ५.६.९.३, मै. ४.१.३

७३८ शब्रा. १४.१.२.१०

७३९ शब्रा. १.५.३.१; पृथिवीं मातर् महीम् अन्तरिक्षम् उप ब्रुवे, तैब्रा. २.४.६.८

अगला प्रकाशन

वेदार्थप्रकाश

(वेद-स्वयम्-अनुशीलन-ग्रन्थमाला)

इस *ग्रन्थमाला* में वेदों के सब मन्त्रों पर हिन्दी-भाषी जनता को, भले ही कोई संस्कृत न भी जानता हो, परंपरा से प्राप्त और आधुनिक अन्वेषणों से प्राप्त सारी पठनीय सामग्री सुलभ कराई जाएगी। इस *ग्रन्थमाला* द्वारा प्रत्येक नर-नारी वेद-जिज्ञासु बिना किसी अध्यापक की मदद के स्वयं ही, घर-बैठे, वेदों का प्रामाणिक अध्ययन कर सकेगा।

इस *ग्रन्थमाला* का *प्रथम पुष्प* शीघ्र ही पाठकों के हाथों में आने वाला है। *प्रथम पुष्प* को जो भी एक बार, सरसरी तौर पर भी, देख लेगा वह इस *ग्रन्थमाला* की उपयोगिता को अनुभव करेगा और अग्रिम *पुष्पों* की प्रतीक्षा रखेगा।

डॉ फ़तहसिंह के प्रकाशनाधीन ग्रंथ

पुरुष-सूक्त की व्याख्या

वेदसिंधु की लघु लहरी

संपर्क-सूत्र :

वेद-संस्थान, सी २२, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली ११० ०२७

दूरभाष : (०११) २५१०-२३१६

वेद-संस्थान के प्रकाशन

(अ-कारादि-क्रम से)

अध्यात्म-सुधा (पुष्प १२)	२१/-
ईशावास्योपनिषत्	१५/-
ईशोपनिषत्	१५/-
ओंकारोपासना	२/-
कल्पपुरुष दयानन्द	४/-
गायत्री	४/-
गायत्री मंत्र का अनुष्ठान	१०/-
गृहस्थविज्ञान	८/-
गृहस्थाश्रम	३/-
ढाई अक्षर वेद के	५०/-
जगती का आनंदमयीकरण (पु०१९)	७/-
जीवन-पाथेय	३/-
जीवनसंग्राम-शास्त्र (पु०९)	३/-
जौहर-गान	१/-
दयानन्द और उनका वेदभाष्य	१०/-
दयानन्द-चरितामृत	६/-
परम योग	७/-
प्रगतिशील भारतीयता को वेदों की देन	१२/-
प्रभु से विनय	६/-
भारत के अध्यापकों से	२/-
भारत के विद्यार्थियों से	४/-
भावी वेदभाष्य के संदर्भ-सूत्र	१५/-
महामृत्युंजय मंत्र का अनुष्ठान	५/-
मानवधर्म	२/-
यजुर्वेद-व्याख्या (दूसरा भाग)	१२०/-
यज्ञमय जीवनपद्धति (पु० १८)	४/-
यज्ञोपवीत-रहस्य	१/-
योग-जीवनपद्धति (पु० ११)	४/-
योगतरंग	४/-
योगशास्त्र (पु० ८)	४/-
योगालोक	१६/-
रक्षाशास्त्र (पु० १६)	३/-
रामचरित	५/-
राष्ट्रनिर्माण-शास्त्र (पु० १०)	३/-
वाचस्पति-संस्थान (पु० ७)	३/-
विजययाग	२/-
विजययाग (अर्थसहित)	१५/-
'विदेह'-गाथा	५०/-
'विदेह'-गीतांजलि (कैसेट)	३०/-
'विदेह'-गीतावली	८/-
'विदेह'-वाणी (तीन भाग) प्रत्येक भाग : १०/-	३०/-
विवेकमय जीवन (पु० २०)	७/-
विश्वसुधार	२/-
वृष्टियज्ञ-पद्धति	२/-

वेदमाता ३/-

वेद में सुपर्ण (पत्रिका विशेषांक) १०/-

वेद में सृष्टिविचार २५/-

वेदालोक (दो भाग) ४८०/-
प्रथम भाग ४००/-
द्वितीय भाग ८०/-

वेदालोक (प्रथम भाग)
पुस्तकालय स. ८००/-

वेदों की सूक्तियाँ १०/-

वैदिक एकेश्वरवाद और ओंकार ४/-

वैदिक बालशिक्षा (दो भाग) ८/-
प्रथम भाग ५/-
चतुर्थ भाग ३/-

वैदिक योगपद्धति २/-

वैदिक सत्संग ५/-

वैदिक स्त्रीशिक्षा (दो भाग) ४/-
प्रत्येक भाग २/-

व्यक्तित्व का सुनिर्माण (पु० १) २४/-

शिक्षाशास्त्र (पु० ६) २/-

शिव-संकल्प ४/-

सत्यनारायण की कथा ४/-

सन्ध्या-मंत्रों के भावार्थ २/-

सन्ध्या-योग ४/-

समृद्धिकरण (पु० १७) ४/-

संस्कृत-स्वयं-शिक्षक ५/-

साधना ८/-

साधना-विज्ञान (पु० ३९) २/-

सार्वभौम मानवता (पु० १५) ४/-

सुपर्णांक (पत्रिका-विशेषांक) १०/-

स्वस्ति-याग ३०/-

स्वास्थ्य और सौन्दर्य १०/-

हिन्दु जाति के अस्तित्व की रक्षा ४/-

Health and Beauty 10/-

Sandhya and Agnihotra 10/-

The Science of Yoga 10/-

The Vedic Prayers 10/-

Vedic Havan-Therapy 10/-

'सविता' पत्रिका की पुरानी वार्षिक जिल्दें

वर्ष ३२ ३०/-

'वेद-सविता' पत्रिका की पुरानी वार्षिक जिल्दें

वर्ष १ ३०/-
" ३ ३०/-
" ४ ३०/-
" ५ ३०/-
" ६ ३०/-
" ७ ३०/-
" ८ ३०/-
" ९ ३०/-

('सविता'/'वेद-सविता' के कुछ अन्य वर्षों के कुछ फुटकर अंक भी सुलभ हैं।)

डॉ फ़तहसिंह की कृतियां
(वेद-संस्थान द्वारा प्रकाशित व उपलब्ध)

ढाई अक्षर वेद के — रु ५०/-
दयानन्द और उनका वेदभाष्य — रु १०/-
प्रगतिशील भारतीयता को वेदों की देन — रु १२/-
भावी वेदभाष्य के संदर्भ-सूत्र — रु १५/-

वैदिक प्रतीकशैली के भूतल पर अद्वितीय मर्मज्ञ। गुरु पूर्णिमा, १९७० वि[illegible]लीभीत (उत्तर प्रदेश) के भदेंग कज्जा ग्राम में जन्मे यह विद्वान् सतत [illegible]नता में आत्मविभोर रहते हैं। राजस्थान के राजकीय महाविद्यालयों में हिंदी और संस्कृत का अध्यापन और प्राचार्यत्व का निर्वाह करने के अलावा, राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान का निदेशन किया। सन् १९६८ में आजीविका-निवृत्ति।
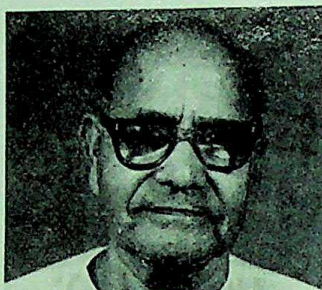
सन् १९७८ में 'मानवता को वेदों की देन' पर वेद-संस्थान में प्रवचन-माला दी जो वेद-संस्थान से प्रकाशित की गई थी। पुरुष-सूक्त की व्याख्या, भावी वेदभाष्य के संदर्भ सूत्र, ढाई अक्षर वेद के, प्रगतिशील भारतीयता को वेदों की देन, आदि लेखन वेद-संस्थान के शोध-सदन के अध्यक्ष और शोध-कार्य के निदेशक के रूप में किए। संस्थान के शोध-प्रकल्प वैदिक परिभाषा-कोश के प्रणेता।

३३ प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के संपादक। कामायनी-सौंदर्य, भारतीय समाजशास्त्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, वैदिक दर्शन, वैदिक एटीमॉलॉजी, साहित्य और राष्ट्रीय स्व, साहित्य और सौंदर्य, आदि ग्रंथों के और सैकड़ों शोध लेखों के लेखक। पचासियों शोधकर्मियों को अपने निदेशन से औपचारिक और अनौपचारिक तौर पर उपकृत किया है।

सिंधु-घाटी लिपि को पढ़ने के अपने प्रयास के द्वारा अन्तरराष्ट्रिय ख्याति प्राप्त, डॉ फ़तहसिंह स्वभाव से शिशुवत् भोले, नितांत अहंकारशून्य संत हैं।

वेदविद्या का पुनर् उद्धार का प्रणयन १५-१६ वर्ष पूर्व वे कर चुके थे। तब से अब तक उनके वैदिक चिंतन में जो नवीन दृष्टियां उभरी हैं वे उनके अगले ग्रंथ के रूप में प्रतीक्षित हैं।